श्रीमाथुरसंघतिलक-आचार्यप्रवर-अमितगतिविरचितः

सुभाषितरत्नसन्दोहः

अनुवादकः

पं० श्रीलालजैनकाव्यतीर्थः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

मानितविश्वविद्यालयः

(भारतशासन-मानवसंसाधनविकास-मन्त्रालयाधीनम्)

नवदेहली

शोध एवं प्रकाशन विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान द्वारा पुनरीक्षित संस्करण

प्रकाशकः
कुलसचिवः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी,
नवदेहली-110058
ईपीएबीएक्स : 28524993, 28521994, 28524995
तार : संस्थान
ई मेल : rsks@nda.vsnl.net.in
वेबसाईट : www.sanskrit.nic.in

© संस्थान

ISBN : 978-93-86111-62-3

संस्करणम् : 2010

मूल्यम् : ₹ 185.00

मुद्रकः
डी.वी. प्रिंटर्स
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007
मो.: 9818279798

पुरोवाक्

विदन्त्येव विपश्चितो यत्संस्कृतभाषा भारतीयां साहित्यपरम्परां तत्संवलितां प्रज्ञाञ्च सहस्रशो वर्षेभ्यः प्रकाशयन्ती संवर्धयन्ती च राजते। इयं हि भाषा परम्परा प्रज्ञा च प्रतियुगं नवनवमात्मानं प्रस्फुरति समाविष्करोति च। तत्र च वेदाः, शास्त्रीयं वाङ्मयम्, इतिहासः, पुराणानि, काव्यानीत्यनेकरचनाः विकासं गताः। ताश्च परम्परया संरक्षिताश्च। तत्ता आधुनिकशैल्या च संरक्षितुकामं राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानं मुद्रणं, सान्द्रमुद्रिकानिर्माणं, सङ्गणकद्वारा संरक्षणमिति विविधप्रयासैः प्रयतमानं वर्तते। तत्राद्यं स्थानं भजते अध्ययनमध्यापनमिति स्वीयपरिसरेषु यत्र मौखिकपद्धत्या इमाः परम्पराः संरक्ष्यन्ते।

सर्वसाधनसम्पन्नेऽस्मिन्नाधुनिकलोकेऽपि ग्रन्थानां महत्ता न किञ्चिन्न्यूना दृश्यते। तत्र च कारणं सर्वजनसुलभतैव। अत एव संस्थानमपि ग्रन्थप्रकाशनकर्मणि आत्मानं सततं व्यापारयति। न केवलं स्वयं ग्रन्थान् प्रकाशयति अपि तु ग्रन्थप्रकाशनार्थमनुदानमपि दत्त्वा प्रकाशकान् लेखकांश्च प्रोत्साहयति। लोकप्रियग्रन्थमाला, शास्त्रीयग्रन्थमाला, अप्रकाशितग्रन्थप्रकाशनमाला इति विविधग्रन्थमालाः संस्थानेन प्रकाश्यन्ते। ते च ग्रन्था भृशं विद्वल्लोकेन समादृता आद्रियन्ते च। एतदतिरिच्य संस्कृतभाषाध्ययनार्थमपि स्वाध्यायशैल्या विरचिता दीक्षाग्रन्था अपि संस्थानेन प्रकाशिता लोके चिरं प्रतिष्ठां प्राप्नुवन् ये च ग्रन्था अनौपचारिकसंस्कृतशिक्षणकेन्द्रेषु आभारतं प्रधानतया पाठ्यन्ते।

एवं प्रकाशितग्रन्था अचिरादेव विद्वत्समाजस्य स्वध्यायरतानां जिज्ञासूनां छात्राणां च कृते सुलभ्या भवन्तीति संस्थानप्रकाशनानां वैशिष्ट्यं प्रयोजनञ्च चरितार्थतां याति। तादृशग्रन्थानां पुनः प्रकाशनायापि संस्थानं कटिबद्धं वर्तते। तत्र क्रमे एष ग्रन्थो विद्वल्लोकेन भृशं समादृतः सुभाषितरत्नसंदोहः इति नामकः ग्रन्थः संस्थानस्य पुनर्मुद्रणयोजनान्तर्गततया प्राकाश्यन्नीयते। एषोऽपि ग्रन्थः सर्वैः यथापूर्वं समाद्रियेत इति विश्वसिमि। अस्मिन् पुनर्मुद्रणकर्मणि साहाय्यमाचरितवद्भ्यः सर्वेभ्यः संस्थानस्य अधिकारिभ्यः सम्यङ्मुद्रणार्थं च मुद्रकाय साधुवादान् वितरामि।

– राधावल्लभः त्रिपाठी

विषयानुक्रमणिका

	पुरोवाक्	*iii*
	मंगलाचरण	१
क्र.सं.	***प्रकरण का नाम***	***पृष्ठ संख्या***
१.	सांसारिक विषयसुख-निराकरण-प्रकरण	२
२.	कोप दूर करने का उपदेश	१०
३.	माया और अहंकार को दूर करने का उपदेश	१७
४.	लोभ दूर करने का उपदेश	२३
५.	इन्द्रियों को वश में करने का उपदेश	२९
६.	स्त्री-गुणदोष-विचार	३६
७.	सदसत्स्वरूप-निरूपण	४६
८.	सम्यग्ज्ञान का निरूपण	६४
९.	सम्यक् चरित्र का वर्णन	७४
१०.	जाति (जन्म)-निरूपण	८३
११.	जरा (बुढ़ापा)-निरूपण	९२
१२.	मृत्यु-निरूपण	१०१
१३.	सामान्य अनित्यता का वर्णन	१११
१४.	दैव-निरूपण	१२०
१५.	उदर-निरूपण	१२८
१६.	जीवसंबोधन	१३५
१७.	दुर्जन-निरूपण	१४५
१८.	सज्जन-निरूपण	१५६
१९.	दान-निरूपण	१६६
२०.	मद्य-निषेध-निरूपण	१७६
२१.	मांस-निषेध-निरूपण	१८२

क्र.सं.	प्रकरण का नाम	पृष्ठ संख्या
२२.	मधु-निषेध-निरूपण	१८९
२३.	काम-निषेध-निरूपण	१९४
२४.	वेश्या-संग-निषेध निरूपण	२००
२५.	द्यूत (जुआ)-निषेध-निरूपण	२०७
२६.	आप्त (सच्चे देव का)-विवेचन	२१२
२७.	गुरुविवेचन	२२१
२८.	धर्म-निरूपण	२२८
२९.	शोकनिराकरण-निरूपण	२३६
३०.	शौच-निरूपण	२४४
३१.	श्रावकधर्मनिरूपण	२५१
३२.	द्वादशविध (बारह प्रकार के) निरूपण	२७४
३३.	मूल ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति	२८४
३४.	अनुवादक का परिचय	२८७

ॐ

श्रीमदमितगतये जिनाय नमः

श्रीमदमितगतिविरचितः

सुभाषितरत्नसंदोहः

पण्डितश्रीलालकाव्यतीर्थकृतहिन्दी-अनुवादसहितः

मङ्गलाचरणम्

जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां,
हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीव।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा,
वितरतु धुतदोषा सार्हती भारतीं वः॥ १॥

मंगलाचरण

अर्थ—सूरज की तीक्ष्ण (उज्ज्वल) किरणें जिस प्रकार अन्धकार का सर्वथा नाश कर समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली हैं और कमलों को खिला देने वाली हैं, उसी प्रकार जो निर्दोष जिनवाणी सांसारिक समस्त चेतन-अचेतन द्रव्यों का व्याख्यान कर अज्ञान को हटाने वाली है और भव्यों के—सत्य-अन्वेषियों के चित्त को प्रफुल्लित कर उन्हें वास्तविक आनन्द प्रदान करने वाली है, वह (जिनवाणी) आप लोगों को निर्मल ज्ञान प्रदान करे॥ १॥

॥ १ ॥

सांसारिकविषयसुखनिराकरण-प्रकरण

न तदरिरिभराजः केसरी केतुरुग्रो,
नरपतिरतिरुष्टः कालकूटोऽतिरौद्रः।
अतिकुपितकृतान्तः पावकः पन्नगेन्द्रो,
यदिह विषयशत्रुर्दुःखमुग्रं करोति॥ २॥

अर्थ—प्राणियों का जितना उग्र अहित संसार में इन्द्रिय-विषय रूपी शत्रु करते हैं, उतना मदोन्मत्त हाथी, मांस-लोलुप सिंह, भयंकर राहु, कुपित हुआ राजा, अति तीक्ष्ण विष, अतिक्रुद्ध यमराज, प्रज्वलित अग्नि और भयंकर शेषनाग आदि भी नहीं करते हैं अर्थात् शत्रु, मदोन्मत्त हाथी, सिंह, राहु, विष आदि तो एक ही भव (जन्म) में दुःख देते हैं या अनिष्ट करते हैं, परन्तु भोगे हुए इंद्रिय-विषय जन्म-जन्म में दुःख देने वाले होते हैं॥ २॥

न नरदिविजनाथा येषु तृप्यन्ति तेषु,
कथमपरनराणामिन्द्रियार्थेषु तृप्तिः।
वहति सरिति यस्यां दन्तिनाथोऽतिमत्तो,
भवति हि शशकानां केन तत्र व्यवस्था॥ ३॥

अर्थ—जबकि इंद्रियों के विषयों में चक्रवर्ती और इंद्र सरीखे वैभवशाली पुरुषों को भी तृप्ति नहीं होती—यथेष्ट समस्त विषय-भोगों को भोगने पर भी वे कभी उन्हें नहीं छोड़ना चाहते, तब अन्य सामान्य मनुष्यों की उनमें कैसे तृप्ति हो सकती है?—वे उन्हें कैसे छोड़ सकते हैं? देखो! जिस नदी के वेग में अति मत्त गजराज सरीखे बलवान् और उन्नत पशु भी बह जाते हैं, उसमें क्षुद्र-शक्तिहीन शशा—खरगोश कैसे बच सकता है? अर्थात् वह तो अवश्य बह जायेगा।

भावार्थ—इस विषय-सुख की नदी का वेग इतना प्रबल है कि उसमें और की तो क्या बात? बलवान् चक्रवर्ती राजा और इंद्र तक बह जाते हैं॥ ३॥

ददति विषयदोषा ये तु दुःखं सुराणां,
कथमितरमनुष्यास्तेषु सौख्यं लभन्ते।

मदमलिनकपोलः क्लिश्यते येन हस्ती,
क्रमपतितमृगं स त्यक्ष्यतीभारिरत्र॥ ४॥

अर्थ—जो इंद्रिय-विषय देवों को भी दुःख देते हैं, वे अन्य पुरुषों को कैसे सुख दे सकते हैं? उन्हें तो वे अवश्य ही दुःख देंगे। देखो! जो सिंह मद से मत्त गजराज को भी पकड़ने में नहीं हिचकता—उसे भी अपने आक्रमण से दुःखी बना देता है, वह पंजे में फँसे हुए दीन हिरण को कैसे छोड़ सकता है—उसे तो अवश्य ही मारकर खा जायेगा।

भावार्थ—स्वर्ग में कल्पवृक्षों के होने से देवों को इच्छाधीन इन्द्रिय-सुख की, प्राप्ति होती है, वे जिस समय जिस इन्द्रिय के योग्य पदार्थों की इच्छा करते हैं, उन्हें तत्काल बिना प्रयत्न के ही पा लेते हैं। परंतु ऐसा होने पर भी उनकी वह विषयलोलुपता घटती नहीं, उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है और अंत में पूरी सामग्री न मिलने से अथवा अन्य किसी कारण से वह (विषयलोलुपता) दुःख देने वाली हो जाती है। इस प्रकार जब देवों को भी इन्द्रिय-भोगों से दुःख प्राप्त होता है, तब अन्य प्राणियों को तो उससे क्यों नहीं दुःख प्राप्त होगा? अर्थात् बिना प्रत्यन के कोई भी पदार्थ न मिलने के कारण उन्हें तो अवश्य ही दुःख होगा॥ ४॥

यदि भवति समुद्रः सिन्धुतोयेन तृप्तो,
यदि कथमपि वह्निः काष्ठसंघाततश्च।
अयमपि विषयेषु प्राणिवर्गस्तदा स्याद्-
इति मनसि विदन्तो मा व्यधुस्तेषु यत्नम्॥ ५॥

अर्थ—यदि समुद्र नदियों के जल से तृप्त हो जाय—उससे भरपूर होकर अपनी मर्यादा छोड़कर बह निकले। यदि अग्नि लकड़ियों के ढेरों से बुझ जाय—दश-बीस लकड़ियों को जलाकर ही संतुष्ट होकर शेष लकड़ियों को जलाना छोड़ दे तो यह प्राणि-समुदाय भी विषय-भोगों से तृप्त हो जाय—यह भी इनका भोग करना छोड़ दे। परंतु ये सब बातें असंभव हैं—कभी हो ही नहीं सकतीं। इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे इनमें प्रयत्न न करें। वे यह न विचारें कि चलो! इंद्रिय-सुखों को भोगते चलें, कभी न कभी तो इनसे तृप्ति हो ही जायेगी और जब तृप्ति हो जायेगी, तब उन्हें छोड़ देंगे। इनको तो कम भोगना ही अच्छा है॥ ५॥

असुरसुरनराणां यो न भोगेषु तृप्तः
कथमपि मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः।
जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्ण-
स्तृणशिखरगताम्भःपानतः किं स तृप्येत्॥ ६॥

अर्थ—इस जीव ने संसार में भ्रमण करते हुए सुर-असुर आदि के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट विषय-सुखों को भी भोगा है, परंतु जब उनसे भी इसकी तृप्ति न हुई, तब मनुष्यों के सामान्य भोगों से कैसे इसकी तृप्ति हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं। देखो! जो प्यास समुद्र के समस्त जल को पी लेने पर भी नहीं बुझती, वह (प्यास) भला घास के ऊपर लगी हुई ओस की बूंद से कैसे शांत हो सकती है ? अर्थात् शान्त नहीं हो सकती है।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र के समस्त जल को पी जाने पर भी पिपासा-रहित न होने वाले मनुष्य के लिए ओस की बूंद तृप्तकारी नहीं हो सकती, उसी प्रकार अति उत्कृष्ट विषय-भोगों को भोगकर भी न तृप्त होने वाले इस जीव को सामान्य भोग तृप्तिदायक नहीं हो सकते॥ ६॥

सततविविधजीवध्वंसनाद्यैरुपायैः,
स्वजनतनुनिमित्तं कुर्वते पापमुग्रम्।
व्यथिततनुमनस्का जन्तवोऽमी सहन्ते,
नरकगतिमुपेता दुःखमेकाकिनस्ते॥ ७॥

अर्थ—ये मनुष्य तो अपने कुटुम्बियों-रिश्तेदारों और अपने शरीर के निमित्त उनकी इच्छा पूरी करने के लिये सर्वदा नाना जीवों की हिंसा-आदि पाप करते रहते हैं और उसी में अपने को धन्य समझते हैं, परंतु जब उस पाप के कारण वे मनुष्य नरक में पड़ते हैं और शारीरिक एवं मानसिक नाना पीड़ाओं को सहन करते हैं, उस समय उनका कोई भी कुटुम्बी वा रिश्तेदार साथ नहीं देता—वह अपरिमित दुःख उन्हें अकेले ही भोगना पड़ता है॥ ७॥

यदि भवति विचित्रं सञ्चितं द्रव्यमर्थ्यं
परिजनसुतदारा भुञ्जते तं मिलित्वा।
न पुनरिह समर्था ध्वंसितुं दुःखमेतत्-
तदपि बत विधत्ते पापमङ्गी तदर्थम्॥ ८॥

अर्थ—नाना प्रकार के पापाचरणों से इस जीव के द्वारा उपार्जन किया गया द्रव्य यदि प्रयोजन सिद्ध करने वाला होता है तो ये दासी, दास, स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी लोग उसे मिल कर खा डालते हैं, लेकिन जब उस प्राणी को उन पापाचरणों के फलस्वरूप दुःख भोगना पड़ता है, तब कोई भी उसकी मदद नहीं करते—उसे उस दुःख से बचाने में कोई भी समर्थ नहीं होते। परन्तु खेद और आश्चर्य की बात है कि इन सब बातों को—अपने ऊपर आने वाली आपत्ति के कारणों को जान कर भी यह प्राणी रात-दिन उनके लिये ही प्रयत्न करता रहता है और अपने शिर पर पाप का बोझ लादता फिरता है॥ ८॥

धनपरिजनभार्याभ्रातृमित्रादिमध्ये,
व्रजति भवभृता यो नैष एकोऽपि कश्चित्।
तदपि गतविमर्षाः कुर्वते तेषु रागं,
न तु विदधति धर्मं यः समं याति यात्रा॥ ९॥

अर्थ—जिस समय यह जीव मरता है (एक पर्याय को छोड़ दूसरे पर्याय को धारण करता है) उस समय धन-धान्य, दासी-दास, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र और मित्र आदि कोई भी इसके साथ नहीं जाते, तथापि यह जीव ऐसा विचार-रहित मूढ़ है कि उन्हीं में अनुराग करता चला जाता है और जो सर्वदा साथ आने-जाने वाला धर्म है, उससे तनिक भी प्रेम नहीं करता—उसको सर्वथा भूल ही जाता है॥ ९॥

यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां,
न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणाम्।
इति मनसि नितान्तं प्रीतिमाधाय धर्मं,
भजत जहित चैतान् कामशत्रून् दुरन्तान्॥ १०॥

अर्थ—इस संसार में जो सुख इंद्रिय-विषय-भोगों से विरक्त मनुष्यों को होता है, वह सुख न तो देवों के शिरोमणि, स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को प्राप्त होता है और न छः खंड को भोगने वाले सम्राट् को ही मिलता है। इसलिए अच्छी तरह से मन को वश में कर अंत में दुःख देने वाले विषयों से विरक्त होना चाहिये और धर्माचरण में प्रयत्न करना चाहिये॥ १०॥

यदि कथमपि नश्येद्भोगलेशेन नृत्वं,
पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात्।
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं,
यदि भवमृतिमुक्ते मुक्तिसौख्येऽस्ति वाञ्छा॥ ११॥

अर्थ—यदि कदाचित् इन्द्रिय-विषय सुख भोगते-भोगते ही मनुष्य-पर्याय नष्ट हो गया—मनुष्य देह को छोड़ दूसरी देह धारण कर ली तो फिर मनुष्य होना बड़ा ही कष्ट-साध्य है—समुद्र में खो गये रत्न की प्राप्ति के समान दुर्लभ है, इसलिए भाइयों! विषय-सुख भोगने की इच्छा का परित्याग कर धर्म को धारण करो, जिससे कि तुम्हें जन्म-मरण के दुःख से रहित मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो जाय। संसार में फिर-फिर भटक कर दुःख न उठाने पड़ें॥ ११॥

विषमविषसमानान्नाशिनः कामभोगां-
स्त्यजति यदि मनुष्यो दीर्घसंसारहेतून्।

व्रजति कथमनन्तं दुःखमत्यन्तघोरं,
त्रिविधमुपहतात्मा श्वभ्रभूम्यादिभूतम्॥ १२॥

अर्थ—यदि यह मनुष्य विषम विष के समान अहितकर, क्षणविनाशी, बहुत काल तक संसार में घुमाने वाले काम-भोगों को छोड़ दे—उनसे सर्वथा मुँह मोड़ ले तो निश्चय ही इसे अनंत संसार के घोर दुःखों का सामना न करना पड़े—नरक आदि योनियों में मन-वचन-कायजन्य क्लेशों को भोगते हुए भटकना न पड़े॥ १२॥

विगलितरसमस्थि स्वादयन् दारितास्यः,
स्वकवदनजरक्ते मन्यते श्वा सुखित्वम्।
स्वतनुजनितखेदाज्जायमानं जनानां,
तदुपममिह सौख्यं कामिनां कामिनीभ्यः॥ १३॥

अर्थ—जिस प्रकार कुत्ता लहू आदि रस से रहित सूखी हड्डी को चबाता है और उसके संघर्षण से निकले हुए अपने मुख के रक्त को उसका रक्त मानकर आनंद मनाता है, उसी प्रकार ये मनुष्य भी अपने शरीर से उत्पन्न हुए वीर्य के प्रच्यवन से जायमान सुख को कामिनी स्त्री-जन्य सुख को मानते हैं और पूर्वापर विचार-रहित हो कर उसे भोगते रहते हैं॥१३॥

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत्
किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत्।
इति मनसि विधाय त्यक्तसङ्गाः सदा ये,
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः॥ १४॥

अर्थ—इस संसार में निस्पृहता के—विषय भोगने की इच्छा न होने के समान तो कोई सुख नहीं है और सस्पृहता—विषय भोगने की इच्छा होने के बराबर कोई दुःख नहीं है। इस प्रकार का विचार कर जो मनुष्य दासी, दास आदि बाह्य और काम, क्रोध आदि अन्तरंग परिग्रहों का त्याग कर जिन धर्म का आचरण करने वाले हैं, वे मनुष्य पुण्य प्राप्त करने वाले पवित्रात्मा हैं॥ १४॥

उपधिवसतिपिण्डान् गृह्णते नो विरुद्धां-
स्तनुवचनमनोभिः सर्वथा ये मुनीन्द्राः।
व्रतसमितिसमेता ध्वस्तमोहप्रपञ्चा
ददतु मम विमुक्तिं ते हतक्रोधयोधाः॥ १५॥

अर्थ—जो मुनींद्र ज्ञान, संयम आदि के विरोधी उपकरण स्थान और आहार को मन, वचन, काय से ग्रहण नहीं करते, जो सर्वदा व्रत, समितियों का पालन करते रहते

हैं और जिन्होंने मोहनीय कर्म के प्रपञ्च को नष्ट कर दिया है, वे क्रोधरूपी योद्धा को जीतने वाले मुनिराज मुझे मुक्ति प्रदान करें—संसार-बन्धन से छुड़ा दें॥ १५॥

जनयति परभूतिं स्त्री धनं नाशदुःखं
ददति विषयवाञ्छाबन्धनं बन्धुवर्गाः।
इति रिपुषु विमूढास्तन्वते सौख्यबुद्धिं,
जगति धिगिति कष्टं मोहनीयं जनानाम्॥ १६॥

अर्थ—स्त्री तिरस्कार करवाती है, धन नष्ट होने से दुःख देता है, बंधु-बान्धव लोग विषय-वाञ्छाओं में बाधा डालते हैं। इस प्रकार ये स्त्री आदि इस मनुष्य के अहितकर होने से शत्रु हैं, परंतु बड़े ही दुःख की बात है कि यह मनुष्य ऐसा मूढ़ है—मोह के फंदे में फँसकर इतना मुग्ध हो जाता है कि उन वैरियों की (स्त्री, पुत्रादि की) सेवा-सुश्रूषा करने में ही सुख मानता है। इसलिये ऐसे विपरीत ज्ञान को करा देने वाले मोहनीय कर्म को धिक्कार है॥ १६॥

मदमदनकषायारातयो नोपशांता,
न च विषयविमुक्तिर्जन्मदुःखान्न भीतिः।
न तनुसुखविरागो विद्यते यस्य जन्तो-
र्भवति जगति दीक्षा तस्य भुक्त्यै न मुक्त्यै॥ १७॥

अर्थ—जिस मनुष्य के मुनि होने पर भी काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मद आदि अन्तरंग शत्रु शांत नहीं हैं, उनका प्रभाव उस पर ऐसी अवस्था होने पर भी पूर्ववत् बना हुआ है, विषयों से विरक्ति का अभाव और जन्म-मरण के दुःख जनित भय उसमें विद्यमान हैं तथा शरीर के सुख भोगने की वाञ्छा ज्यों की त्यों ही बनी हुई है तो उस मनुष्य की वह दीक्षा (तप) मुक्ति प्रदान करने वाली नहीं है, उससे उसे उल्टा संसार ही होता है। अथवा ऐसा मुनि मुक्ति के लिये न कर भुक्ति (विषय-भोगों) के लिये तप करता है अथवा ढोंग रचता है।

भावार्थ—संसार में ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जो दीक्षा लेकर साधु का तो रूप धारण कर बैठते हैं, परंतु साधु जैसे काम नहीं करते। रात-दिन क्रोध, मान-माया आदि, शरीर-सुधारने, इंद्रिय-भोगों को भोगने-आदि संसार को बढ़ाने वाले कार्यों को ही करते रहते हैं। उनके लिये आचार्य महाराज कहते हैं कि भाइयों! जैसा पद तुमने धारण किया है, उसी के अनुसार काम करो, तब ही तुम्हें मुनिपद का ध्येय मोक्षपद मिलेगा, नहीं तो संसार में ही रुकना होगा, केवल अपना नाम साधु रख लेने से मोक्ष पद नहीं मिलेगा॥ १७॥

श्रुतमतिबलवीर्यप्रेमरूपायुरङ्ग-
स्वजनतनयकान्ताभ्रातृपित्रादि सर्वम्।
तितउगतजलं वा न स्थिरं वीक्षतेऽङ्गी,
तदपि बत विमूढो नात्मकृत्यं करोति॥ १८॥

अर्थ—इस संसार में शास्त्र, बुद्धि, वीर्य, प्रेम, रूप, आयु, शरीर, कुटुंबी, पुत्र, स्त्री, भाई, बहिन, माता, पिता आदि समस्त सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ विनाशक हैं। जिस प्रकार चलनी के छेद से जल देखते-देखते निकल कर बह जाता है, उसी प्रकार ये पदार्थ आँखों के सामने ही नष्ट हो जाते हैं, परंतु खेद की बात है कि इन सब बातों को जानता हुआ भी यह मूढ़ प्राणी अपने आत्मा के हितकर कार्यों को नहीं करता—रात-दिन अन्य ही अन्य बातों में फँसा रहता है॥ १८॥

त्यजत युवतिसौख्यं क्षान्तिसौख्यं श्रयध्वं,
विरमत भवमार्गात् मुक्तिमार्गे रमध्वम्।
जहित विषयसङ्गं ज्ञानसङ्गं कुरुध्वम्-
अमितगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वम्॥ १९॥

अर्थ—भाइयों! युवती-स्त्रियों के संसर्ग से जायमान विनाशक, परिपाक में कटु सुख को छोड़ो। क्षमाजन्य शांतिमय सुख का आश्रय लो, जन्म-मरण आदि दुःखों को देने वाले सांसारिक कार्यों से विरक्त होओ। अविनाशी सुख देने वाले मुक्तिमार्ग में मन को लगाओ और इन्द्रिय-विषयों के संसर्ग से रहित हो ज्ञान का अभ्यास करो, जिससे कि तुम्हें अपरिमित सुख का स्थान-मोक्षपद प्राप्त हो जाय॥ १९॥

श्रुतिसहजविवेकज्ञानसंसर्गदीपा-
स्तिमिरदलनदक्षाः सर्वदात्यन्तदीप्तः।
प्रकटितनयमार्गा यस्य पुंसोऽत्र संति
स्खलति यदि स मार्गे तत्र दैवापराधः॥ २०॥

अर्थ—जिस मनुष्यके पास सर्वदा प्रज्वलित रहने वाले, अज्ञानांधकार को नाश करने में समर्थ आत्मज्योति है, ऐसा प्रवीण, न्यायशील मनुष्य भी यदि मार्ग में स्खलित हो जाय—धर्म मार्ग में स्थित न रह सके तो उसमें उस बिचारे का कोई अपराध नहीं, उसमें उसके दैव-भाग्यका ही अपराध प्राबल्य है।

भावार्थ-जिस प्रकार कोई मनुष्य अतिशय उजाले को करने वाली लालटेन को हाथ में लेकर सावधानी से चले और उस पर भी वह किसी गड्ढे आदि में गिर जाय अथवा मार्ग भूल जाय तो उसमें उसका कोई अपराध नहीं, वह तो बिचारा अपनी शक्ति

के अनुसार अंधकार के नाशक दीपक को हाथ में लेकर चल रहा था, भूल गया तो उसके भाग्य का दोष है, उसका नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य सत्य, शास्त्र, विवेक, सत्संगति आदि सदुपयोगों के द्वारा मुक्ति मार्ग में लगा हुआ है और उस पर से च्युत हो जाता है तो कहना होगा कि उस मनुष्यका कोई दोष नहीं है, दोष तो केवल उसके भाग्य का है इसलिये अपनी सामर्थ्यानुसार मोक्षमार्ग में लगे रहना चाहिये जिससे कि अपना दोष न रहे॥ २०॥

जिनपतिपदभक्तिर्भावना जैनतत्त्वे
विषयसुखविरक्तिर्मित्रता सत्त्ववर्गे।
श्रुतिशमयमशक्तिर्मूकतान्यस्य दोषे
मम भवतु च बोधिर्यावदाप्नोमि मुक्तिम्॥ २१॥

अर्थ—जब तक मुझे मुक्ति—संसार से छुटकारा न मिले तब तक मेरी यह आंतरंगिक कामना है कि सर्वदा जिनेंद्र-भगवान् के चरणों की भक्ति करता रहूँ। उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की भावना में लीन रहूँ, विषयसुखसे विरक्त रहूँ, पाँचों इंद्रियों को अपने वश में रखूँ, समस्त प्राणियों को अपना मित्र समझूँ, श्रुति, शम, यम, और नियम में खूब दृढ़ रहूँ और किसी के भी दोषों का प्रतिपादन न करूँ।

भावार्थ—मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाये और वह जब तक मैं इस संसार में रहूँ, तब तक बनी रहे॥ २१॥

॥ २ ॥

कोप दूर करने का उपदेश

कोपोऽस्ति यस्य मनुजस्य निमित्तमुक्तो
नो तस्य कोऽपि कुरुते गुणिनोऽपि भक्तिम्।
आशीविषं भजति को ननु दंदशूकं
नानोग्ररोगशमिना मणिनापि युक्तम्॥ २२॥

अर्थ—जो मनुष्य बात-बात में क्रोध करता है अपनी और दूसरे की आत्मा को दुःख पहुँचाता है, वह मनुष्य चाहे गुणी—अनेक गुणों का भंडार भी क्यों न हो, कोई उसकी भक्ति—सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, क्योंकि उससे अशांति की आशा रहती है। देखो! नाना प्रकार के रोगों को शांत करनेवाली मणि से युक्त भी ददशूकजातिके सर्प को कोई पकड़ता या पालता नहीं, क्योंकि वह हानि पहुँचाता है, विष से संयुक्त होता है और पकड़ने पर काट लेता है॥ २२॥

पुण्यं चितं व्रततपोनियमोपवासैः
क्रोधः क्षणेन दहतीन्धनवद्धुताशः।
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा
तस्याभिवृद्धिमुपयाति नरस्य पुण्यम्॥ २३॥

अर्थ—जो महात्मा पुरुष यह सोचकर कि-''जिस प्रकार अग्नि ईंधन के समूह को क्षण भर में भस्म कर देती है उसीप्रकार यह क्रोध भी व्रत, तप, यम, नियम और उपवासों द्वारा उत्पन्न हुए पुण्य को बात ही बात में नष्ट कर देता है'' उसके वश में नहीं होता—क्रोध नहीं करता, वह (महात्मा) अपने पुण्य की वृद्धि करता है—उसका पुण्य बढ़ता है॥ २३॥

दोषं न तं नृपतयो रिपवोऽपि रुष्टाः
कुर्वन्ति केसरिकरीन्द्रमहोरगा वा।
धर्मं निहत्य भवकाननदाववह्निं
यं दोषमत्र विदधाति नरस्य रोषः॥ २४॥

अर्थ—इस संसार में इस जीव का जितना अहित (हानि) क्रोध करता है, उतना न तो कुपित हुए राजा और वैरी करते हैं, न सिंह, हाथी और सांप ही कर सकते हैं, क्योंकि ये तो अधिक से अधिक यदि हानि कर सकते हैं तो एक भव में केवल प्राणों का ही घात कर सकते हैं और यह क्रोध तो संसार रूपी वन को जलाने वाले धर्म का नाश कर भव-भव—जन्म-जन्म में नाना दुःख देता है॥ २४॥

यः कारणेन वितनोति रुषं मनुष्यः
कोपं प्रयाति शमनं तदभावतोऽस्य।
यस्तत्र कुप्यति विनापि निमित्तमंगी
नो तस्य कोऽपि शमनं विदधातुमीशः॥ २५॥

अर्थ—जो मनुष्य वैसे तो सर्वदा शांत रहता है, परंतु किसी कारणवश क्रुद्ध हो जाता है तो उसका वह क्रोध उस कारण के नष्ट हो जाने से नष्ट हो जाता है, परंतु जो मनुष्य बिना कारण ही कुपित होता रहता है, उसके क्रोध को कौन शांत कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं॥ २५॥

धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेन
रागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरम्।
धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं
कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च॥ २६॥

अर्थ— ग्रह (पिशाच), काम और मदिरा के समान यह क्रोध इस जीव के धैर्य को विचलित कर देता है, बुद्धि को भ्रमा देता है, द्वेषी बना देता है, शरीर के अंजर-पंजर ढीले कर देता है और धर्म का नाशकर नानाप्रकार के कुवचन—गाली-गलौज बुलवाता है, इसलिये ग्रह-पिशाच, काम और मदिरा के समान इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये॥ २६॥

रागं दृशोर्वपुषि कम्पमनेकरूपं
चित्ते विवेकरहितानि च चिन्तितानि।
पुंसाममार्गगमनं समदुःखजातं
कोपः करोति सहसा मदिरा मदश्च॥ २७॥

अर्थ—शराब के मद के समान क्रोध आँखों में लाली (रक्तिमा), शरीर में अनेक प्रकार की कँपकँपी, तथा चित्त में विवेक-रहित विचारों को सहसा उत्पन्न कर देता है और नाना दुःखों से आकीर्ण कुमार्ग में चलाता है।

भावार्थ—शराब को पीने से जिस प्रकार मनुष्य की आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर अनेक तरह से काँपने लगता है, मन में विवेकहीन विचार होने लग जाते हैं और

समस्त दुःखों को देने वाले कुमार्ग में प्रवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार क्रोध के आने से भी आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर अनेक प्रकार से काँपने लगता है, चित्त के विचारों में विवेकशून्यता आ जाती है और संपूर्ण दुःखों के उत्पादक खोटे मार्ग में गमन होने लगता है॥ २७॥

मैत्रीयशोव्रततपोनियमानुकम्पा-
सौभाग्यभाग्यपठनेन्द्रियनिर्जयाद्याः।
नश्यन्ति कोपपुरुवैरिहताः समस्ता-
स्तीव्राग्नितप्तरसवत्क्षणतो नरस्य॥ २८॥

अर्थ— जिसप्रकार अतिप्रज्वलित अग्नि की उष्णता से पारा बात ही बात में पिघल जाता है, उसी प्रकार कोपरूपी प्रबल वैरी द्वारा समस्त मैत्री, यश, व्रत, तप, नियम, दया, सौभाग्य, भाग्य, अध्ययन, आदि शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं॥ २८॥

मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यं
ध्यानं करोतु विदधातु बहिर्निवासम्।
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यं
रोषं करोति यदि सर्वमनर्थकं तत्॥ २९॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य महीनों तक के उपवास करे, सर्वदा सत्य ही सत्य बोलें, तीनों संध्यायों में (प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल) ध्यान करे, घरबार छोड़ जंगल में जा बसे, अखंड ब्रह्मचर्य को भी पाले और सर्वदा भिक्षावृत्ति से ही उदर-पूर्त्ति करे परंतु वह एक क्रोध को करे तो उसके वे सब निरर्थक हैं-अर्थात् क्षमा के अभाव में जप, तप आदि धार्मिक क्रियाएँ भी शुभफल देनेवाली नहीं होतीं हैं॥ २९॥

आत्मानमन्यमथ हन्ति जहाति धर्मं
पापं समाचरति युक्तमपाकरोति।
पूज्यं न पूजयति वक्ति विनिन्द्यवाक्यं
किं किं करोति न नरः खलु कोपयुक्तः॥ ३०॥

अर्थ—क्रोधी—कोपयुक्त मनुष्य अपने स्वाभाविक क्षमा-गुण का नाश कर अपनी और फिर दूसरे के प्राणों का नाश कर दूसरे की हिंसा करता है तथा धर्म को छोड़ पाप करने लग जाता है, योग्य कार्यों को छोड़ बैठता है, अपने से बड़ों का आदर-सत्कार नहीं करता और नाना प्रकार के बुरे वचन बोलकर संसार में निंदा का पात्र बनता है, इस प्रकार वह अनेक अवक्तव्य कुकर्म कर डालता है, जिनका कि उल्लेख नहीं किया जा सकता है॥ ३०॥

दोषेषु सत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं
सत्यं ब्रवीत्ययमिति प्रविचिन्त्य सह्यम्।
दोषेष्वसत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं
मिथ्या ब्रवीत्ययमिति प्रविचिन्त्य सह्यम्॥ ३१॥

अर्थ— दोषों की मौजूदगी में-अपराध के करने पर यदि कोई गाली दे तो समझदार पुरुषों को यह सोचकर कि—''ठीक मैंने अपराध किया है, इसलिये इसका यह क्रोध करना न्याययुक्त है— कार्य-हानि से ऐसा होना ही चाहिये। इसमें इसका कुछ दोष नहीं, जो कुछ है, वह मेरा ही अपराध है'' क्षमा धारण करनी चाहिये एवं आगे ऐसा अपराध न बने इसके लिये सावधान होकर काम करना चाहिये और यदि अपराध के बिना ही कोई गाली-गलौज करे तो-''यह मनुष्य झूठा है, मैंने तो इसका कुछ नहीं बिगाड़ा है। खैर! जो कुछ भी यह कह-सुन रहा है, वह अपनी भूल से कह-सुन रहा है, यदि इसको यह बात ठीक-ठीक मालूम होती तो कभी भी ऐसी बात न कहता, इसलिये यह तो क्षमा का ही पात्र है, इस पर कोप करना युक्तियुक्त नहीं'' यह सोचकर क्षमाभाव धारणा करना चाहिये॥ ३१॥

कोपेन कोऽपि यदि ताडयतेऽथ हन्ति,
पूर्वं मयास्य कृतमेतदनर्थबुद्ध्या।
दोषो मयैव पुनरस्य न कोऽपि दोषो,
ध्यात्वेति तत्र मनसा सहनीयमस्य॥ ३२॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य क्रोध से मारने-ताड़ने लग जाय तो उस मार को भी यह समझकर सह लेना चाहिये कि-इसका बुरा हो जाय-इस बुद्धि से मैंने ही पहिले इसका अनर्थ किया था, इसने तो मुझे पश्चात् से मारा है, इसमें दोष है तो मेरा ही है, इसका नहीं, क्योंकि न मैं पहिले से ऐसा करता और न यह फिर मुझे ताड़ता-मारता। इसलिये इस पर क्रोध करना सर्वथा निरर्थक है॥ ३२॥

व्याध्यादिदोषपरिपूर्णमनिष्टसंगं,
पूतीदमङ्गमपनीय विवर्ध्य धर्मम्।
शुद्धं ददाति गतबाधमनल्पसौख्यं,
लाभो ममायमिति घातकृतो विषह्यम्॥ ३३॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य कदाचित् मारते-मारते प्राण लेने पर उतारू हो जाय तो उसे भी ऐसा विचार कर क्षमा प्रदान करनी चाहिये कि यह मारने वाला पुरुष मेरा बड़ा ही उपकारी है। क्योंकि देखो! जो यह मेरा वर्त्तमान शरीर आधि-व्याधि आदि अनेक दोषों का घर है, जिसके सहारे मुझे नाना दुःख उठाने पड़ते हैं। जो दुर्गंधमय है और

जिसका वियोग हो जाना ही श्रेष्ठ है, ऐसे शरीर का नाशकर मेरे अभीष्ट की सिद्धि करता है और साथ ही धर्म को बढ़ाकर बाधा-रहित महा सुख देता है॥

भावार्थ—चाहे मनुष्य अपने को गाली दे, चाहे पीटे और चाहे प्राण तक ले ले, पर उस पर कभी भी क्रोध न करे। सर्वदा क्षमाभाव ही रखना चाहिये जिससे कि अपनी आत्मा में शांति बनी रहे॥ ३३॥

धर्मे स्थितस्य यदि कोऽपि करोति कष्टं,
पापं चिनोति गतबुद्धिरयं वराकः।
एवं विचिन्त्य परिकल्पकृतत्वमुष्य,
ज्ञानान्वितेन भवति क्षमितव्यमत्र॥ ३४॥

अर्थ— ज्ञानवान् पुरुष अपने को कष्ट पहुँचाने वाले मनुष्य को यह समझकर कि -'' भाई! मैं तो धर्म में स्थित हूँ और यह पुरुष मुझपर उपसर्ग कर किसी कारण-वश क्रुद्ध हो कष्ट पहुँचाकर पाप का उपार्जन कर रहा है जिससे कि स्वयं ही इस बेचारे को भविष्य में दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिये इस पर मेरा क्रोध करना अथवा क्रोध में आकर इसका अनिष्ट करना सर्वथा निरर्थक है।'' क्षमा प्रदान करते हैं॥ ३४॥

शप्तोऽस्म्यनेन न हतोऽस्मि न नरेण रोषान्-
नो मारितोऽस्मि मरणेऽपि न धर्मनाशः।
कोपस्तु धर्ममपहन्ति चिनोति पापं,
संचिन्त्य चारुमतिनेति तितिक्षणीयम्॥ ३५॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह गाली देने वाले को तो, यह सोचकर कि ''यदि इस मनुष्य ने क्रोध के अधीन होकर मुझे गाली दी है तो क्या! मुझे मारा तो नहीं है, मार मारने वाले को यह सोचकर कि ''मुझे केवल पीटा है, प्राण तो नहीं लिये हैं'' प्राण लेनेवाले को यह विचार कर कि-''इसने प्राण तक ही तो लिये हैं और तो कुछ नहीं लिया, मेरा प्राणों से भी जो प्यारा धर्म है वह तो ज्यों का त्यों छोड़ दिया है। यदि ऐसे समय में मैं कोप करता हूँ तो मेरा धर्म नष्ट हो जाता है और पाप का आस्रव होता है'' —क्षमा करें और उसकी गाली-गलौज और मार-पीट को सह लें॥ ३५॥

दुःखार्जितं खलगतं वलभीकृतं च,
धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः।
नानाविधव्रतदयानियमोपवासै
रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिम्॥ ३६॥

अर्थ— जिस प्रकार खलियान में इकट्ठे किये गये धान्य के समूह को अग्नि का कण (फूंआ) बात ही बात में प्रविष्ट होकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार नाना प्रकार के व्रत, यम, नियम, उपवास-प्रभृति शुभ कर्मों द्वारा आत्मा में संचित किये गये पुण्य के समूह को क्रोध क्षण भर में नष्ट कर डालता है- क्रोध करने से संपूर्ण पूर्वसंचित पुण्य व्यर्थ हो जाता है॥ ३६॥

कोपेन यः परमभीप्सति हन्तुमज्ञो,
नाशं स एव लभते शरभो ध्वनन्तम्।
मेघं लिलङ्घिषुरिवान्यजनो न किञ्चि-
च्छक्नोति कर्तुमिति कोपवता न भाव्यम्॥ ३७॥

अर्थ—जो अज्ञानी मूढ़ पुरुष क्रोध के वशीभूत होकर दूसरे जीव की हिंसा करना चाहता है, उल्टा उसका ही विघात हो जाता है, जैसे कि मेघ की गर्जना सुनकर अष्टापद उसके विघात के लिये ऊपर आकाश में उछलता है, परंतु बेचारा विफल प्रयत्न हो पृथ्वी पर गिरकर अपने ही हाथ पैर तोड़ डालता है और मेघ का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि कोई पुरुष किसी का अहित नहीं कर सकता, इसलिये विद्वानों को कुपित नहीं होना चाहिये।

भावार्थ-'खानि खनै जो औरको ताको कूप तैयार' इस कहावत के अनुसार जो मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाना चाहते हैं, वे स्वयं अपनी ही हानि कर बैठते हैं और दूसरे का कुछ नहीं बिगाड़ सकते॥ ३७॥

कोपः करोति पितृमातृसुहृज्जनाना-
मप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारम्।
देहक्षयं प्रकृतकार्यविनाशनं च
मत्वेति कोपवशिनो न भवन्ति भव्याः॥ ३८॥

अर्थ—जो भव्य विचारसहित पुरुष हैं वे यह समझकर कि 'क्रोध को करने से माता, पिता, भाई, बहिन, मित्रगण प्रभृति हेतु लोगों का प्रेम हट जाता है, उपकारी लोगों का भी अहित-अपकार बन जाता है, अपना शरीर कृश होने लगता है और आरंभ किये काम का नाश हो जाता है' -कभी भी नहीं करते।

तीर्थाभिषेकजपहोमदयोपवासा,
ध्यानव्रताध्ययनसंयमदानपूजाः।
नेदृक्फलं जगति देहवतां ददंते,
यादृग्दमो निखिलकालहितो ददाति॥ ३९॥

अर्थ—समस्त देश, काल और क्षेत्र में सर्वथा हित करने वाली क्षमा को धारण करने से जो फल प्राप्त होता है, वह जीवों को तीर्थयात्रा, जिनबिंबाभिषेक, जप, होम, दया, उपवास, ध्यान, व्रत, अध्ययन, संयम, दान और पूजा करने से नहीं मिलता॥३९॥

भ्रूभङ्गभंगुरमुखो विकरालरूपो
रक्तेक्षणो दशनपीडितदन्तवासाः।
त्रासं गतोऽतिमनुजो जननिन्द्यवेषः,
क्रोधेन कम्पिततनुर्भुवि राक्षसो वा॥ ४०॥

अर्थ— क्रोध के कारण भौंहें टेढ़ी हो जाने से मनुष्य का मुँह टेढ़ा हो जाता है, भयंकर सूरत हो जाती है, लाल-लाल आँखें हो जाती हैं, दाँतों की मिसमिसी बंध जाती है, नाना दुःख उठाने पड़ते हैं, निंदनीय वेष हो जाता है और शरीर में कँपकँपी आने लगती है, जिससे कि क्रोधी मनुष्य राक्षस-सरीखा भयावह मालूम होने लगता है॥ ४०॥

कोपीह लोहमिति तप्तमुपाददानो,
दंदह्यते निजकरे परदाहमिच्छुः।
यद्वत्तथा प्रकुपितः परमाजिघांसु-
र्दुःखं स्वयं व्रजति वैरिवधे विकल्पः॥ ४१॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य को जलाने की इच्छा से हाथ में तपे लोहे को लेकर फैंके तो उससे दूसरे मनुष्य के जलने से पहले उसी मनुष्य का हाथ जल जाता है, उसी प्रकार जो कुपित हुआ मनुष्य अपने वैरी को मारने की चेष्टा करता है, वह स्वयं ही नाना अशुभ विचारों को करने से दुःख पाता है॥ ४१॥

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति,
रूपं विरूपयति निन्द्यमतिं तनोति।
दौर्भाग्यमानयति शातयते च कीर्तिं,
रोषोऽत्र रोषसदृशो न हि शत्रुरस्ति॥ ४२॥

अर्थ—इस संसार में क्रोध के समान कोई भी प्रबल बैरी नहीं है। क्योंकि देहधारी बैरी तो अधिक से अधिक चाहे तो प्राण तक ले सकता है, परंतु यह रोषरूपी बैरी तो लोगों से बैर बढ़ा देता है, मित्रता का नाश कर देता है, रूप को बिगाड़ डालता है, दुर्बुद्धि पैदा कर देता है, दुर्भाग्य को खींचकर पास ले आता है और प्राणों से प्यारी कीर्ति को भ्रष्ट कर डालता है। इसलिये जो बुद्धिमान् विवेकी पुरुष हैं वे अपने हित की आशा से कभी क्रोध नहीं करते॥ ४२॥

॥ ३ ॥

माया और अहंकार को दूर करने का उपदेश

रूपेश्वरत्वकुलजातितपोबलाज्ञा-
ज्ञानाष्टदुःसहमदाकुलबुद्धिरज्ञः।
यो मन्यतेऽहमिति नास्ति परोऽधिकोऽपि
मानात्स नीचकुलमेति भवाननेकान्॥ ४३॥

अर्थ—इस संसार में जो लोग अपनी सुंदरता, प्रभुता, कुल, जाति, तप, बल, आज्ञा और बुद्धि का घमंड कर अपने को तो बड़ा बनाते हैं और अपने से रूप आदि में बड़े दूसरों को कुछ भी नहीं समझते—बड़ों का अपमान करते हैं, वे दूसरे अनेक जन्मों में नीचकुल में उत्पन्न होते हैं॥ ४३॥

नीतिं निरस्यति विनीतमपाकरोति
कीर्तिं शशांकधवलां मलिनीकरोति।
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीनः
प्राणीति मानमपहन्ति महानुभावः॥ ४४॥

अर्थ—मानी पुरुष नीति-न्याय को भूल जाते हैं, विषय छोड़कर उद्धत हो जाते हैं, चन्द्रमा के समान अपनी निर्मल कीर्त्ति में धब्बा लगा बैठते हैं और हीन होकर भी बड़ों का अपमान करने लगते हैं इसलिये जो पुरुष महानुभाव हैं विचारशील हैं, वे मान से सर्वदा दूर रहते हैं॥ ४४॥

हीनाधिकेषु विदधात्यविवेकभावं
धर्मं विनाशयति संचिनुते च पापम्।
दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति
किं किं न दोषमथवा कुरुतेऽभिमानः॥ ४५॥

अर्थ—अभिमान के वशीभूत होकर मनुष्य बड़े और छोटे मनुष्यों को एक-सा समझने लगता है, अविवेक से दोनों के साथ एक-सा नीच बर्ताव करने लगता है, अपने धर्म का नाश कर बैठता है, निरंतर पाप का संचय करता है, दौर्भाग्य को अपने

पास बुलाता है और प्रारब्ध कार्य को नष्ट कर देता है अधिक कहाँ तक कहा जाय, संसार में जो-जो दोष होते हैं, वे सब अभिमान से ही होते हैं॥ ४५॥

माने कृते यदि भवेदिह कोऽपि लाभो
यद्यर्थहानिरथ काचन मार्दवे स्यात्।
ब्रूयाच्च कोऽपि यदि मानकृतं विशिष्टं
मानो भवेद्भवभृतां सफलस्तदानीम्॥ ४६॥

अर्थ—यदि संसार में अभिमान करने से किसी प्रकार का लाभ होता हो और नम्रता करने से कोई हानि होती हो अथवा मान करने वाले की कोई भी प्रशंसा करता हो और नम्रता वाले की कोई निंदा करता हो, तब तो मान करना लोगों के लिए ठीक (योग्य) होता, परंतु जब कोई ऐसा होता नहीं और उससे विपरीत ही होता है तो मान करना सर्वथा निरर्थक है॥ ४६॥

मानी विनीतिमपहन्त्यविनीतिरङ्गी
सर्वं निहन्ति गुणमस्तगुणानुरागः।
सर्वापदां जगति धाम विरागतःस्याद्-
इत्याकलय्य सुधियो न धरन्ति मानम्॥ ४७॥

अर्थ—मानी पुरुष न्याय को छोड़कर अन्याय कुकर्म में फंस जाता है, कुकर्म में फंस जाने से समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं और गुण नष्ट हो जाने से संसार में जितनी आपत्तियाँ होती हैं उनका स्थान बन जाता है सब आपत्तियाँ उसे सहन करनी पड़ती हैं, ऐसा सोच कर जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे कभी भी मान नहीं करते॥ ४७॥

हीनोयमन्यजननोपहिताभिमाना-
ज्जातोहमुत्तमगुणस्तदकारकत्वात्।
अन्यं निहीनमवलोकयतोऽपि पुंसो
मानो विनश्यति सदेति वितर्कभाजः॥ ४८॥

अर्थ—यदि यह जीव इस तरह का विचार नित्य करता है कि—''भाई! इसने पहले जन्म में अभिमान किया था, इसलिये यह हीन-नीच हुआ है और मैंने यह (अभिमान) नहीं किया था, इसलिये मैं उत्तम बड़ा हुआ हूँ'' तो नीच से नीच—छोटे से छोटे भी मनुष्य को देखकर मान न हो॥ ४८॥

गर्वेण मातृपितृबान्धवमित्रवर्गाः
सर्वे भवन्ति विमुखा विहितेन पुंसः।
अन्योऽपि तस्य तनुते न जनोऽनुरागं
मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धिः॥ ४९॥

अर्थ—घमण्ड करने से माता, पिता, भाई, बहिन, मित्र आदि समस्त हितकर कुटुंबीजन विमुख हो जाते हैं और अन्य मनुष्य भी अनुराग नहीं करते, घृणा करने लग जाते हैं इसलिये जो सुबुद्धिमान् हैं, वे कभी भी मान नहीं करते॥ ४९॥

आयासकोपभयदुःखमुपैति मर्त्यो
मानेन सर्वजननिन्दितवेषरूपः।
विद्यादयादमयमादिगुणांश्च हन्ति
ज्ञात्वेति गर्ववशमेति न शुद्धबुद्धिः॥ ५०॥

अर्थ—मनुष्य मान के कारण मानसिक पीड़ा, कोप, भय और दुःख को प्राप्त होता है, निंदितवेष और रूप को धारण करता है एवं विद्या, दया, दम, यम आदि समस्त गुणों से हाथ धो बैठता है, इसलिये जो श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे कभी भी मान नहीं करते- वे सर्वदा अपने को अगुणी ही समझा करते हैं॥ ५०॥

स्तब्धो विनाशमुपयाति नतोऽतिवृद्धिं
मर्त्यो नदीतटगतो धरणीरुहो वा।
गर्वस्य दोषमिति चेतसि संनिधाय
नाहङ्करोति गुणदोषविचारदक्षः॥ ५१॥

अर्थ—देखो! जिस प्रकार नदी के तट पर स्तब्ध सीधा खड़ा हुआ वृक्ष तो नष्ट हो जाता है और नीचा— नम्र हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार स्तब्ध— अहंकार से दूसरे को मानने वाला पुरुष तो संसार में नाना कष्ट सहता है और नम्र हुआ यशः कीर्ति आदि गुणों को पाता है। इसलिये जो गुण और दोषों के विचार में चतुर हैं वे कभी भी मान नहीं करते॥ ५१॥

हीनानवेक्ष्य कुरुते हृदयेऽभिमानं
मूर्खः स्वतोऽधिकगुणानवलोक्य मर्त्यान्।
प्राज्ञः परित्यजति गर्वमतीव लोके
सिद्धान्तशुद्धिधिषणा मुनयो वदन्ति॥ ५२॥

अर्थ— जो सिद्धांत शास्त्र के मनन से शुद्ध बुद्धिवाले मुनि हैं, वे इस बात को कहते हैं कि जो मूर्ख मनुष्य हैं वे तो संसार में अपने से ही हीन मनुष्य को देखकर घमंड करते हैं- अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं और जो बुद्धिमान् हैं, वे अपने से अधिक गुण वालों को देखकर नम्र हो जाते हैं— अपने को दीन-हीन तुच्छ व्यक्ति मानते हैं॥ ५२॥

जिह्वासहस्त्रकलितोऽपि समासहस्त्रै-
र्यस्यां न दुःखमुपवर्णयितुं समर्थः।

सर्वज्ञदेवमपहाय परो मनुष्य-
स्तांश्चभ्रभूमिमुपयाति नरोऽभिमानी॥ ५३॥

अर्थ—सर्वज्ञदेव के सिवाय एक जीभ की तो क्या बात? हजारों वर्षों में हजारों जीभों से सहित मनुष्य भी जहाँ के दुःखों का वर्णन नहीं कर सकता, उस नरक भूमि में यह जीव मान के वशीभूत हो जाता है और नाना दुःखों का भोग करता है॥ ५३॥

या छेदभेददमनाङ्कनदाहदोह-
वातातपान्नजलरोधवधादिदोषा।
मायावशेन मनुजो जननिन्दनीयां
तिर्यग्गतिं व्रजति तामतिदुःखपूर्णाम्॥ ५४॥

अर्थ—जो मनुष्य माया-व्यवहार करते हैं— मन में विचारते तो कुछ और, कहते कुछ और, करते कुछ और ही हैं, वे मनुष्य मरकर निर्यग्गति में उत्पन्न होते हैं और वहाँ छेदन, भेदन, मारण, ताड़न, भूख, प्यास, उष्ण, शीत आदि की नाना बाधाओं को सहते हैं॥ ५४॥

यत्र प्रियाप्रियवियोगसमागमान्य-
प्रेष्यत्वधान्यधनबान्धवहीनताद्यैः।
दुःखं प्रयाति विविधं मनसाप्यसह्यं
तं मर्त्यवासमधितिष्ठति मायया ङ्गी॥ ५५॥

अर्थ—अथवा मायाचारी मनुष्य, मनुष्यगति में ही उत्पन्न होते हैं और वह इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, भृत्यपना, धन-धान्य आदि से दरिद्रपना, और बंधुविहीनता आदि शारीरिक एवं मानसिक अनेक प्रकार से असह्य दुःखों को भोगते हैं॥ ५५॥

यत्रावलोक्य दिवि दीनमना विभूति-
मन्यामरेष्वधिककान्तिसुखादिकेषु।
प्राप्याभियोगपदवीं लभतेऽतिदुःखं
तत्रैति वञ्चनपरः पुरुषो निवासम्॥ ५६॥

अर्थ—और यदि कदाचित् किसी कारणवश दैवगति में भी मायाचारी पुरुष उत्पन्न हो जाय तो वह वहाँ भी अपने से कांति, सुख, ऐश्वर्य आदि में बढ़े-चढ़े देवों को देखकर और हाथी-घोड़ा आदि बनने वाले आभियोग्य जाति का देव होकर निरंतर दुःखी ही बना रहता है॥ ५६॥

या मातृभ्रातृपितृबान्धवमित्रपुत्र-
वस्त्राशनाभरणमण्डनसौख्यहीनाः।

दीनानना मलिननिन्दितवेषरूपा
नारीषु तासु भवमेति नरो निकृत्या॥ ५७॥

अर्थ—जो लोग माया से दूसरों को ठगते हैं— भोले-भाले जीवों को अपने पंजे में फंसाकर उनसे अपना स्वार्थ गांठते हैं, वे मनुष्य महानिंदनीय उस स्त्रीपर्याय में जाकर उत्पन्न होते हैं और अनेक कष्ट भोगते हैं जहाँ पर कि-कोई स्त्री तो माता के न होने से दुःख पाती है, कोई भाई के न होने से, कोई पिता के न होने से, कोई कुटुंबियों के न होने से, कोई सखी (सहेली) के न होने से, कोई पुत्र के न होने से, कोई वस्त्र-भोजन के न होने से , कोई आभूषण के न होने से और कोई सौन्दर्य के न होने से दुःख भोगती है। इसलिये विद्वान् लोग कभी भी मायाचार नहीं करते॥ ५७॥

शीलाश्रितो यमतपःशमसंयुतोऽपि
नात्राश्नुत निकृतिशल्यधरो मनुष्यः।
आत्यन्तिकीं श्रियमबाधसुखस्वरूपां
शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा॥ ५८॥

अर्थ—जिस प्रकार नाना धन-धान्य आदि समृद्धि से संयुक्त पुरुष भी मन में चिंता रहने से किसी प्रकार का सुख नही पाता—निरंतर उस चिंता से दुःख ही दुःख भोगता रहता है, उसी प्रकार जिसके पास मायारूपी शल्य विद्यमान है— जो मनुष्य मायाचारी है, वह चाहे कितने ही व्रत, उपवास, तप, संयम आदि शुभ कर्म करे, परंतु कभी भी अविनाशी, निराबाध, मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता— अर्थात् जिसके पास एक माया शल्य है उसके समस्त जप, तप निरर्थक हैं॥ ५८॥

क्लेशार्जितं सुखकरं रमणीयमथ्यं
धान्यं कृषीवलजनस्य शिखीव सर्वम्।
भस्मीकरोति बहुधापि जनस्य सत्यं
मायाशिखी प्रचुरदोषकरः क्षणेन॥ ५९॥

अर्थ—जिस प्रकार बड़े भारी परिश्रम से पैदा किये गये, सुख को करने वाले, मनोहर, प्रयोजनभूत कृषकों के धान्य के धान्य को अग्नि बात ही बातों में जलाकर खाक कर देती है उसी प्रकार भारी से भारी अनर्थों को करने वाली माया मनुष्य के अमूल्य सुखकारी सत्य गुण को क्षण भर में समूल नष्ट कर देती है॥ ५९॥

विद्वेषवैरिकलहासुखघातभीति-
निर्भर्त्सनाभिभवनासुविनाशनादीन्।
दोषानपैति निखिलान् मनुजोऽतिमायी
बुद्ध्वेति चारुमतयो न भजन्ति मायाम्॥ ६०॥

अर्थ—जो लोग मायाचारी हैं, वे इस संसार में बैर को बढ़ाते हैं, शत्रुओं के डर से चिंतित हो दुःख पाते हैं, रात-दिन लड़ाई-झगड़ों में फंसे रहते हैं, सुख से हाथ धो बैठते हैं, लोगों की फटकारें सहते हैं, तिरस्कृत होते हैं और कहाँ तक कहें, मायाचारी अपने प्राण तक खो बैठते हैं, इसलिये चतुर श्रेष्ठ मनुष्य माया से सदा बचते ही रहते हैं॥ ६०॥

या प्रत्ययं बुधजनेषु निराकरोति
पुण्यं हिनस्ति परिवर्द्धयते च पापम्।
सत्यं निरस्यति तनोति विनिन्द्यभावं
तां सेवते निकृतिमत्र जनो न भव्यः॥ ६१॥

अर्थ—जिस माया के बल से विद्वानों में से विश्वास उठ जाता है, जिससे लोग विश्वासघाती समझे जाते हैं- पुण्य का नाश हो पाप बढ़ने लगता है, सत्य की जगह मिथ्या-झूठ का साम्राज्य छा जाता है और भी जो नाना प्रकार के निंदनीय भाव हैं, वे भी आ जाते हैं, उस माया को जो भव्य (विवेकी) हैं, वे कभी भी नहीं करते॥ ६१॥

प्रच्छादितोऽपि कपटेन जनेन दोषो
लोके प्रकाशमुपयातितरां क्षणेन।
वर्चो यथा जलगतं विदधाति पुंसां
माया मनागपि न चेतसि संनिधाय॥ ६२॥

अर्थ—जिस प्रकार पानी में दबाकर डुबोई गई विष्ठा कुछ समय के बाद अवश्य ही ऊपर आ प्रकट हो जाती है उसी प्रकार कपटपूर्वक मनुष्यद्वारा छिपाया गया दोष भी संसार में किसी न किसी समय अवश्य ही प्रकट हो जाता है, अनेक प्रयत्नों को करने पर भी माया नहीं छिपती वह अवश्य ही खुल जाती है, इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि वे माया को सर्वथा छोड़ दें॥ ६२॥

॥ ४ ॥

लोभ दूर करने का उपदेश

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी
स्तब्धं नभो जलनिधिः सरिदम्बुतृप्तः।
स्थायी मरुच्च दहनोऽदहनोपि जातु
लोभानलस्तु न कदाचिददाहकः स्यात्॥६३॥

अर्थ—संसार में जो स्थायी पदार्थ हैं, वे चाहें अस्थायी हो जायें, सूरज अपनी उष्णता छोड़ ठंडा बन जाय, चंद्रमा शीतलता को त्याग दे, आकाश स्तब्ध हो जाय, समुद्र नदियों से तृप्त हो अपनी मर्यादा छोड़ दे, पवन अपना बहना बंद कर ले और अग्नि भी दहन (जलाना) बंद कर शांत बैठ जाय, परंतु यह लोभरूपी अग्नि कभी भी शांतिदायक नहीं हो सकती।

भावार्थ—ऊपर कही गई असंभव बातें चाहें एक समय संभव हो जायें, परंतु लोभ से कभी भी शांति-सुख नहीं मिल सकता॥ ६३॥

लब्धेंधनज्वलनवत्क्षणतोऽपि वृद्धिं
लाभेन लोभदहनः समुपैति जन्तोः।
विद्यागमःव्रततपःशमसंयमादीन्
भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रवृद्धः॥ ६४॥

अर्थ—जिस प्रकार बुझनेवाली अग्नि ईंधन डालने से फिर २ दहक निकलती है और बड़े से बड़े मकानों को जला देती है, उसी प्रकार निराशारूपी जल से बुझने वाली लोभरूपी अग्नि अभीष्ट वस्तु के लोभरूपी ईंधन की प्राप्ति फिर दहक (बढ़) निकलती है और इस तरह समय २ पर प्रज्वलित हो तपस्वियों के विद्या, शास्त्र, व्रत, तप, शम और संयम आदि के गुणों को तत्काल भस्म कर डालती है॥ ६४॥

वित्ताशया खनति भूमितलं सतृष्णो
धातून् गिरेर्धमति धावति भूमिपाग्रे।
देशांतराणि विविधानि विगाहते च
पुण्यं विना न च नरो लभते स तृप्तिम्॥ ६५॥

अर्थ— मनुष्य धन की आशा से पृथ्वीतल को खोदता है, पर्वत की धातुओं को फूंकता है, राजा के आगे-आगे दौड़ता है और नाना देशों, विदेशों में परिभ्रमण करता फिरता है, परन्तु बिना पुण्य के कहीं भी तृप्त नहीं होता अर्थात् पुण्य के प्रभाव से तो घर बैठे ही नाना संपत्तियाँ आ जाती हैं और उसके अभाव में कहीं भी जाने से वे नहीं मिल सकती, इसलिये धन की आशा छोड़ पुण्य का ही उपार्जन करना योग्य है॥ ६५॥

वर्धस्व जीव जय नन्द विभो चिरं त्वम्-
इत्यादिचाटुवचनानि विभाषमाणः।
दीनाननो मलिननिन्दितरूपधारी
लोभाकुलो वितनुते सधनस्य सेवाम्॥ ६६॥

अर्थ—धन की आशा से यह जीव धनियों के पास जाता है और मलिन निंदित रूप बना दीनमुख हो 'महाराज! जीयो, बढ़ो, जयवंत रहो, आनंदित रहो, दूधो नहाओ पूतो फलो, आदि नाना चाटु (चापलूसी के) वचन कह उनकी सेवा-सुश्रूषा करता है'

चक्षुःक्षयं प्रचुररोगशरीरबाधा-
श्चेतोभिघातगतिभङ्गममन्यमानः।
संस्कृत्य पत्रनिचयं च मषीं विमर्द्य
तृष्णातुरो लिखति लेखकतामुपेतः॥ ६७॥

अर्थ—मनुष्य लोभ के फंदे में पड़ कर कागजों पर स्याही को घोंट-पीसकर लिखता है और लिखने से उत्पन्न हुए नेत्रों की ज्योति का मंद होना, अनेक रोगों से शरीर का दुःखना, लोभ से मन को एकत्र लगाना, दिनभर बैठे रहना आदि नाना दुःखों को सहता है॥ ६७॥

विश्वम्भरां विविधजन्तुगणेन पूर्णां
स्त्रीं गर्भिणीमिव कृपामपहाय मर्त्यः।
नानाविधोपकरणेन हलेन दीनो
लोभार्दितः कृषति पापमलोकमानः॥ ६८॥

अर्थ—यह पृथ्वी नाना प्रकार के जीव-जंतुओं का घर है। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री के उदर में बच्चा रहता है उसी प्रकार इसपर पृथ्वी नाना जीव-जंतु रहते हैं, परंतु यह मनुष्य लोभ के वशीभूत हो उन जीवों के विघात की कुछ भी परवाह न करता हुआ हल, फावड़ा, खुरपी आदि नाना उपकरणों से उस पृथ्वी को जोतता है और कामी-पापी मनुष्य जिस प्रकार गर्भिणी के गर्भ गिराने में जरा भी पाप नहीं समझता, उसी प्रकार यह लोभी भी पृथ्वी के गर्भ में रहने वाले असंख्य जीवों के मारने में कुछ भी पाप नहीं समझता॥ ६८॥

भोगोपभोगसुखतो विमुखो मनुष्यो
रात्रिन्दिवं पठनचिन्तनशक्तचित्तः।
शास्त्राण्यधीत्य विविधानि करोतिलोभा-
दध्यापनं शिशुगणस्य विवेकशून्यः॥ ६९॥

अर्थ—जिन मनुष्यों ने नाना भोग और उपभोगों को तिलांजलि देकर रातदिन पढ़ने को ही अपना मुख्य ध्येय समझा है और नाना शास्त्रों का पठनकर बहुत कुछ ज्ञान हासिल किया है परंतु ऐसे मनुष्य भी जब लोभ के फंदे में पड़ जाते हैं, तब वे विवेकरहित हो अजीविका के लिए लड़कों को पढ़ाने लगते हैं।

भावार्थ—लोभ के वशीभूत हो बड़े-२ शास्त्रों के ज्ञाता मनुष्य भी द्रव्य-चिंता करने लगते हैं और जब उन्हें उसका उपाय नहीं सूझता तो पैसे ले-लेकर लड़कों को पढ़ाना ही प्रारंभ कर देते हैं (ट्यूशन करते हैं) और इस तरह कठिन परिश्रम से प्राप्त अपनी विद्या को कौड़ियों के मोल में बेचते फिरते हैं॥ ६९॥

वस्त्राणि सीव्यति तनोति विचित्रचित्रं
मृत्काष्ठलोहकनकादिविधिं चिनोति।
नृत्यं करोति रजकत्वमुपैति मर्त्यः
किं किं न लोभवशवर्तितया विधत्ते॥ ७०॥

अर्थ—मनुष्य लोभ के वश होकर कपड़े सिलता है, नाना प्रकार के चित्र (फोटो) खींचता है, मिट्टी के बर्तन-खिलौने वगैरह बनाता है, लकड़ी के कुर्सी, मेज, तिपाई आदि गढ़ता है, लोहे के नाना शस्त्र, कल-पुर्जे ढालता है, सुवर्ण के भूषण आदि सृजता है, बड़ी-२ महफिलों, सभा, सोसाइटियों में नाचता है, अपवित्र से अपवित्र कपड़े तक धोता है और कहाँ तक कहें जो काम बिल्कुल ही नहीं करने लायक है, उन सबको भी मनुष्य लोभ के फंदे में पड़कर करता है॥ ७०॥

लोकस्य मुग्धधिषणस्य विवञ्चनानि
कुर्वन्नरो विविधमानविशेषकृत्या।
संसारसागरमपारमवीक्षमाणो
वाणिज्यमत्र विदधाति विवृद्धलोभः॥ ७१॥

अर्थ—लोभ के कारण मनुष्य अपार संसाररूपी सागर के पार को न देखकर मीठी-२ चिकनी-चुपड़ी बातें कह-कह कर लोगों को अपने पंजे में फसांता है और उन्हें नाना प्रकार के भाव-ताव से वस्तुएँ प्रदान कर वाणिज्य करता है॥ ७१॥

अध्येति नृत्यति लुनाति मिनोति नौति
क्रीणाति हन्ति वपते चिनुते बिभेति।
मुष्णाति गायति धिनोति बिभर्ति भिंत्ते
लोभेन सीव्यति पणायति याचते च॥ ७२॥

अर्थ—मनुष्य लोभ से—द्रव्य कमाने की इच्छा से पढ़ता है, नाचता है, काटता है, तौलता है, नापता है, स्तुति करता है, खरीदता-बेचता (क्रय-विक्रय करता) है, जीव मारता है, बीज बोता है, फूल आदि चुनता है, भय खाता है, चीजें चुराता है, गाना गाता है, कर्जा लेता है, अन्यका पोषण करता है, भेदन करता है, कपड़े सीता है, जुआ खेलता है और भीख तक माँगता है॥ ७२॥

कुन्तासिशक्तिभरतोमरतद्वलादि-
नानाविधायुधभयङ्करमुग्रयोधम्।
संग्राममध्यमधितिष्ठति लोभयुक्तः
स्वं जीवितं तृणसमं विगणय्य जीवः॥ ७३॥

अर्थ—लोभ के कारण ही मनुष्य अपने जीवन को तृण समान समझकर संग्रामभूमि में जाता है और वहाँ भाले, तलवार, शक्ति, तोमर, तद्वल (एक तरह का बाण) आदि भयंकर नाना हथियारों के प्रहार से भी नहीं डरता है॥ ७३॥

अत्यन्तभीमवनजीवगणेन पूर्णं
दुर्गं वनं भवभृतां मनसाप्यगम्यम्।
चौराकुलं विशति लोभवशेन मर्त्यो
नो धर्मकर्म विदधाति कदाचिदज्ञः॥ ७४॥

अर्थ—लोभ के वश होकर मनुष्य नाना प्रकार के भयावह जीव-जंतुओं द्वारा व्याप्त वन, जंगल, किले, खंडहर आदि दुर्गम स्थानों में चला जाता है और अपने धर्म, कर्म को सर्वथा भूल जाता है॥ ७४॥

जीवान्निहन्ति विविधं वितथं ब्रवीति
स्येयं तनोति भजते वनितां परस्य।
गृह्णाति दुःखजननं धनमुग्रदोषं
लोभग्रहस्य वशवर्तितया मनुष्यः॥ ७५॥

अर्थ—लोभरूपी पिशाच के वशवर्ती होकर यह जीव जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, दूसरों की स्त्रियों से रमण करता है, नाना प्रकार के दुःखों

को उपजाने वाले धन का संग्रह करता है और इस तरह पांचों पापों का उपार्जन कर नाना दुःख भोगता है॥ ७५॥

उद्यन्महानिलवशोत्थविचित्रवीचि-
विक्षिप्तनक्रमकरादिनितान्तभीतिं।
अम्भोधिमध्यमुपयाति विवृद्धवेलं
लोभाकुलो मरणदोषममन्यमानः॥ ७६॥

अर्थ—लोभवश यह प्राणी प्रचण्ड पवन के आघात से उठी हुई प्रबल तरंगों से व्याप्त, मक्र, चक्र, मगरमच्छ आदि भयंकर जीवों से डरावने समुद्र में भी प्रवेश कर जाता है और वहाँ अपने प्यारे प्राणों तक के खो जाने का कुछ भी भय नहीं करता॥ ७६॥

निःशेषलोकवनदाहविधौ समर्थं
लोभानलं निखिलतापकरं ज्वलन्तम्।
ज्ञानाम्बुवाहजनितेन विवेकिजीवाः
संतोषदिव्यसलिलेन शमं नयाति॥ ७७॥

अर्थ—इसलिये जो विवेकी पुरुष हैं वे समस्त संसाररूपी जीवन को जला देने में समर्थ, महान्, संताप को देने वाले, जाज्वल्यमान लोभरूपी अग्नि को ज्ञानरूपी मेघ से उत्पन्न हुए संतोषरूपी दिव्य जल से बात ही बात में बुझाकर शांत कर देते हैं॥ ७७॥

द्रव्याणि पुण्यरहितस्य न सन्ति लोभा-
त्सत्यस्य चेन्न तु भवन्त्यचलानि तानि।
सन्ति स्थिराणि यदि तस्य न सौख्यदानि
ध्यात्वेति शुद्धधिषणो न तनोति लोभम्॥ ७८॥

अर्थ—शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष यह सोचकर कि-'लोभ करने से पुण्य के बिना धन नहीं आता, यदि आ भी जाय तो वह स्थिर नहीं रहता, यदि स्थिर भी रह जाय तो वह सुखदायी नहीं होता, लोभ नहीं करते। जो उन्हें न्याय से प्राप्त है, उसी में संतोष मान कर आनन्द से रहते हैं॥ ७८॥

चक्रेशकेशवहलायुधभूतितोऽपि
संतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति।
तृप्तिं विना न सुखमित्यवगम्य सम्यग्
लोभग्रहस्य वशिनो न भवन्ति धीराः॥ ७९॥

अर्थ—असंतोषी पुरुष के चक्रवर्ती, नारायण और बलदेव जैसी विशाल विभूति से भी तृप्ति नहीं होती और तृप्ति के बिना सुख नहीं मिल सकता। इसलिये संतोष करना ही श्रेय है, यह विचार कर जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे कभी भी लोभ के फंदे में नहीं पड़ते॥ ७९॥

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि
तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवन्ति लोभाद्-
इत्याकलय्य विनिहन्ति तमत्र धन्यः॥ ८०॥

अर्थ—नरक में जो कुछ भी असह्य दुःख हैं, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति में जो कुछ तीव्र मानसिक या शारीरिक बाधायें हैं, वे सब लोभ के असंतोष के कारण ही होती हैं और संतोष करने से सब दुःख सुखस्वरूप हो जाते हैं, इसलिये जो धीर-वीर मनुष्य हैं, वे सर्वदा लोभ का परित्याग कर संतोष ही धारण करते हैं॥ ८०॥

लोभं विधाय विधिना बहुधापि पुंसः
संचिन्वतः क्षयमनित्यतया प्रयान्ति।
द्रव्याण्यवश्यमिति चेतसि संनिरूप्य
लोभं त्यजन्ति सुधियो धुतमोहनीयाः॥ ८१॥

अर्थ—लोभ के वश होकर नाना उपायों द्वारा उपार्जन किया गया भी द्रव्य अनित्य होने से अवश्य ही एक न एक दिन नष्ट हो जाता है, इसलिये मोह के फंदे से बचने वाले लोग सर्वदा लोभ से दूर रहने का ही प्रयत्न करते हैं॥ ८१॥

तिष्ठन्तु बाह्यधनधान्यपुरःसरार्थाः
संवाधताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा।
कायोऽपि नश्यति नियोज्यमिति प्रचिन्त्य
लोभारिमुग्रमुपहन्ति विरुद्धतत्त्वम्॥ ८२॥

अर्थ—अरे! महान् लोभ से बढ़ाये गये सर्वथा पृथक् दिखनेवाले धन, धान्य आदि पदार्थ यदि नष्ट हो जाते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, परंतु सर्वथा अभिन्न ज्ञात होने वाला यह शरीर भी तो नष्ट हो जाता है—यह जब स्थिर नहीं रहता, तब अन्य की बात ही क्या है, इसलिये जो बुद्धिमान् हैं, वे लोभरूपी प्रबल शत्रु को पराजित कर संतोष धारण करते हैं॥ ८२॥

॥ ५ ॥

इंद्रियों को वश में करने का उपदेश

जो लोग स्पर्श, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र— इन पांचों इंद्रियों के वश में पड़ते हैं, वे जो दु:ख पाते हैं, वह बात तो निराली है, परंतु जो एक-एक इंद्रियों के वशीभूत हो जाते हैं, वे भी महान् दु:ख पाते हैं, इस बात को प्रगट करने के लिये आचार्य श्लोक कहते हैं—

स्वेच्छाविहारसुखतो निवसन्नगानां
भक्षद्वने किशलयानि मनोहराणि।
आरोहणाङ्कुशविनोदनबन्धनादि
दन्ती त्वगिन्द्रियवशः समुपैति दुःखम्॥ ८३॥

अर्थ—देखो! हाथी जंगल में रहकर स्वछंद विचरता फिरता है और वहाँ मनोहर नवीन-नवीन किशलयों को चबाता है, परंतु एक स्पर्शन इंद्रिय के वशीभूत हो पकड़ा जाने से आरोहण, अंकुश, बंधन, विनोदन आदि नाना दु:खों को भोगता है।

भावार्थ— जो लोग जंगल से हाथी पकड़ कर लाते हैं वे वहाँ जाकर हाथियों को लुभाने के लिये पोली पोली जगहों पर हथिनी की सूरत बना खड़ी कर देते हैं और स्वयं कहीं गुप्त जगह में जा छिपते हैं जिससे कि हाथी उस बनावटी हथिनी को वास्तविक समझता है और उसके साथ आलिंगन करने की इच्छा से पास आ गड्ढे में गिर जाता है। बस! उसके गिरते ही छिपे हुए मनुष्य बाहर निकलकर उसे बाँध लेते हैं और लाकर राजा-महाराजाओं के हाथ बेच डालते हैं जहाँ पर कि उसके ऊपर चढ़ाई की जाती है, बिगड़ने पर अंकुशों की मार मारी जाती है, खंभों में सांकल से बाँधकर स्वच्छंदता रोकी जाती है और समय पर जल, भोजन न देना आदि अनेक बाधायें दी जाती हैं॥ ८३॥

तिष्ठञ्जलेऽतिविमले विपुलं यथेच्छं
सौख्येन भीतिरहितो रममाणचित्तः।
गृद्धो रसेषु रसनेन्द्रियतोऽतिकष्टं
निष्कारणं मरणमेति षडीक्षणोऽत्र॥ ८४॥

अर्थ—मछली अत्यंत गहरे निर्मल जल में निर्भय रहती है और वहाँ मनमानी क्रीड़ा किया करती है, परंतु रसना इंद्रिय के फंदे में पड़कर वह अतिकष्टपूर्वक क्षणभर में निष्प्रयोजन ही अपने प्राण गवाँ देती है।

भावार्थ—धीवर आदि हिंसक लोग लोहे के कांटे आदि के अंत भाग में आटा आदि रसीले पदार्थ लगाकर नदी तलाबों में गेरते हैं और उसे देखकर मछलियाँ ज्योंहीं पास आ उस आटे को खाने के लिये मुँह फाड़ती है, त्योंहीं वह कांटा उनके मुँह में फंस जाता है, जिससे कि वे तड़फ तड़फ कर मर जाती हैं और माँस-भोजियों के भोजन की सामग्री बनती है॥ ८४॥

नानातरुप्रसवसौरभवासिताङ्गो
घ्राणेन्द्रियेण मधुपो यमराजधिष्ण्यम्।
गच्छत्यशुद्धमतिरत्र गतो विशक्तिं
गन्धेषु पद्मसदनं समवाप्य दीनः॥ ८५॥

अर्थ—नाना प्रकार के फूलों की सुगंधि से सुगंधित अंगवाला भ्रमर अधिक गंध पाने की इच्छा से कमलों पर जाता है और वहाँ सूर्यास्त होने से उनके मुकुलित होने पर वह मूर्ख उसी में फंसकर यमराज के घर का अतिथि बन जाता है॥ ८५॥

सज्जातिपुष्पकलिकेयमितीव मत्वा
दीपार्चिषं हतमतिः शलभः पतित्वा।
रूपावलोकनमना रमणीयरूपे
मुग्धोऽवलोकनवशेन यमास्यमेति॥ ८६॥

अर्थ—हतबुद्धि पतंग नेत्र-इंद्रिय के वश होकर दीपक की लौ (शिखा) को श्रेष्ठ जाति के पुष्प की कली समझता है और उसके रमणीयरूप को देखने की इच्छा से पास जाकर उसी में भस्म होकर काल के गाल में फंस जाता है॥ ८६॥

दूर्वांकुराशनसमृद्धवपुः कुरङ्गः
क्रीडन् वनेषु हरिणीभिरसौ विलासैः।
अत्यन्तगेयरवदत्तमना वराकः
श्रोत्रेन्द्रियेण समवर्तिमुखं प्रयाति॥ ८७॥

अर्थ—हरिण वन में रहकर हरे-२ दूब के अंकुरों को स्वच्छंद होकर खाता है और हरिणियों के साथ मनमानी क्रीड़ाकर सुख भोगता है, परंतु श्रोत्र-इंद्रिय के वश होकर गीतों को सुनने से पकड़ा जाता है और इसी तरह व्यर्थ ही बेचारा यम की गोदी में चला जाता है।

भावार्थ—बहेलिया लोग वन में जाकर हरिणों को पकड़ने के लिये जाल बिछा देते हैं और स्वयं कुछ दूर बैठे मधुर-मधुर स्वर से गाना गाने लगते हैं, जिसे सुनकर हरिण पास आकर उनके फंदे में फंस जाते हैं और अपने प्राण उनके हाथ में दे देते हैं॥ ८७॥

एकैकमक्षविषयं भजताममीषां
संपद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम्।
पञ्चाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्य-
मक्षार्थमित्यमलधीरधियस्त्यजन्ति ॥ ८८॥

अर्थ—इस तरह जब एक-एक इंद्रिय के वशीभूत हाथी आदि जैसे जीव अपने अपने प्राण तक खो बैठते हैं तब जो पांचों इंद्रियों के विषयों में लवलीन हैं उनकी तो बात ही फिर क्या है, वे तो अवश्य ही नष्ट भ्रष्ट होंगे इसलिये जो विवेकी पुरुष हैं, वे कभी भी इंद्रियों के वश नहीं होते, सर्वदा विषयों को छोड़ते ही रहते हैं॥ ८८॥

दन्तीन्द्रदन्तदलनैकविधौ समर्थाः
सन्त्यत्र रौद्रमृगराजवधे प्रवीणाः।
आशीविषोरगवशीकरणेऽपि दक्षाः
पञ्चाक्षनिर्जयपरास्तु न सन्ति मर्त्याः॥ ८९॥

अर्थ—मत्त से मत्त गजराज के दांत तोड़ देने में, भयंकर मृगाधिपति-सिंह का वध करने में, और जहरीले आशीविष जाति के सर्प को पकड़ने में चतुर मनुष्य तो इस लोक में बहुतेरे हैं परंतु जो पाँचों इंद्रियों को वश में करने में निपुण हैं, वे लोग इस संसार में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ते॥ ८९॥

संसारसागरनिरूपणदत्तचित्ताः
संतो वदन्ति मधुरां विषयोपसेवाम्।
आदौ विपाकसमये कटुकां नितान्तं
किम्पाकपाकफलभुक्तिमिवाङ्गभाजाम्॥ ९०॥

अर्थ—जो लोग संसार की वास्तविक अवस्था का निरूपण करने वाले हैं, वे इंद्रियों के विषय भोग को किंपाक (इंद्रायण) फल के समान प्रारंभ में देखने या भोगने में तो सुखकारी बतलाते हैं, परंतु अंत में महा कटु फल (मृत्यु) देनेवाला कहते हैं॥ ९०॥

तावन्नरो भवति तत्त्वविदस्तदोषो
मानी मनोरमगुणो मननीयवाक्यः।

शूरः समस्तजनतामहितः कुलीनो
यावद्धृषीकविषयेषु न सक्तिमेति॥ ९१॥

अर्थ—मनुष्य अब तक इन्द्रियों के फन्दे में नहीं पड़ता तब तक तो तत्त्वज्ञानी, दोषरहित, मानी, गुणी, विचारशील, शूरवीर, सम्मानीय और कुलीन रहता है, परंतु ज्यों ही इनके फंदे में पड़ा, त्योंही उपर्युक्त समस्त कलायें भूल जाता है॥ ९१॥

मर्त्यं हृषीकविषया यदमी त्यजन्ति
नाश्चर्यमेतदिह किञ्चिदनित्यतातः।
एतत्तु चित्रमनिशं यदमीषु मूढो
मुक्तोऽपि मुञ्चति मतिं न विवेकशून्यः॥ ९२॥

अर्थ—इंद्रियविषय इस जीव को छोड़कर नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि सांसारिक समस्त वस्तुएँ अनित्य हैं-विनाशक हैं। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि-यह प्राणी ऐसा मूढ़ है-(नासमझ) है जो उनको भी नहीं छोड़ना चाहता बल्कि यहाँ तक कि विषयों के द्वारा छोड़ा गया और तिरस्कृत हुआ भी यह विवेकरहित होकर बार-बार उनका ही सेवन करना चाहता है और अनित्यता के नियमों को भूल जाता है॥ ९२॥

आदित्यचन्द्रहरिशंकरवासवाद्याः
शक्ता न जेतुमतिदुःखकराणि यानि।
तानीन्द्रियाणि बलवन्ति सुदुर्जयानि,
ये निर्जयन्ति भुवने बलिनस्त एव॥ ९३॥

अर्थ—जिन अतिदुःखदायिनी बलवान् इंद्रियों को सूर्य, चंद्र, कृष्ण, महादेव और सुरेन्द्र प्रभृति बलिष्ठ से बलिष्ठ पुरुष भी नहीं जीत सके— उन जगज्जयिनी, इन्द्रियों को जो जीत लेते हैं, वे ही इस संसार में वास्तविक बलशाली-पराक्रमी कहलाने योग्य हैं॥ ९३॥

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः
प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम्।
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं
किं तद् दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः॥ ९४॥

अर्थ—इस संसार में इन्द्रियों के गर्व को चूर करनेवाले पुरुष जिस पापरहित अविनाशी आत्मिक सुख का भोग करते हैं, उसको क्या रातदिन विषयाग्नि से संतप्त रहनेवाले पुरुष कभी पा सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्वदा अग्नि से उष्ण रहने वाला पदार्थ जब तक कि उसकी अग्नि न बुझा दी जाय कभी भी शांत ठंडा नहीं हो सकता उसी प्रकार विषयों की उष्णता से सर्वदा उष्ण रहनेवाला यह जीव कभी भी शांतिसुख नहीं पा सकता और जो विषय-सेवन से विषयाग्नि को कम हुई समझना है वह भूल है, क्योंकि जिस प्रकार अग्नि के कुंड में ईंधन डालने से पहले तो वह अग्नि बुझी सरीखी मालूम पड़ती है, परंतु फिर वही धीरे-धीरे घटने के बजाय बढ़ने ही लगती है। उसी प्रकार ये विषय भी भोगने से कुछ शांत हुए जैसे जान पड़ते हैं, परंतु वास्तव में वे उत्तरोत्तर बढ़ते ही चले जाते हैं इसलिये जब तक इनका सर्वथा त्याग न किया जाय, तब तक दुःख ही मिलता है, सुख कभी नहीं॥ ९४॥

नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं,
तत्त्वं विविक्तमवगम्य जिनेशिनोक्तम्।
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य,
हस्तेऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः॥ ९५॥

अर्थ—जो लोग समस्त व्यसनरूपी धूलि की प्रबलता को पवन के समान नष्ट कर देनेवाले, जिन भगवान् के कहे हुए तत्त्वों का अध्ययन करके भी इंद्रियविषयों में फंसते हैं- रात-दिन विषय-भोगों में ही लगे रहते हैं, वे मूर्ख हाथ में आये हुए अमृत प्याले को छोड़ प्राणनाशक विष के भरे प्याले को पीते हैं।

भावार्थ—जिन-शासन में सर्वत्र विषय-त्याग का ही उपदेश है, विषय-भोग का नहीं, पर उस शास्त्र को भी पढ़कर जो लोग विषयों में फंस जाते हैं, उनके समान इस संसार में कोई भी मूर्ख-अविचारी नहीं हैं और यदि है भी तो वही एक मनुष्य है जो कि हाथ के अमृत भरे प्याले को छोड़ दूरवर्ती विष भरे प्याले को पीता है॥ ९५॥

दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां
धर्मं धुनाति विदधाति विनिन्द्यकर्म।
रेफश्चिनोति कुरुतेऽतिविरूपवेषं,
किं वा हृषीकवशतस्तनुते न मर्त्यः॥ ९६॥

अर्थ—इंद्रियों के फन्दे में पड़कर यह मनुष्य नीच से नीच भी काम कर डालता है। देखो! उनके ही वशीभूत हो कर तो यह नौकरी करता है, अपने से हीन कुल वालों की सेवा करता है, सच्चे धर्म को तिलांजलि देकर पाखंडी धर्मों में घुस जाता है, निंदनीय से निंदनीय भी काम कर डालता है, नाना वेषों को धारण करता है और पापकर्म का संचय करता है॥ ९६॥

अब्धिर्न तृप्यति यथा सरितां सहस्रै-
र्नो चेन्धनैरिव शिखी बहुधोपनीतैः।
जीवः समस्तविषयैरपि तद्वदेव,
संचिन्त्य चारुधिषणस्त्यजतीन्द्रियार्थान्॥ ९७॥

अर्थ—जिस प्रकार हजारों नदियों के मिल जाने से भी समुद्र कभी नहीं भरता—अपनी मर्यादा तोड़कर आगे नहीं बढ़ता और जिस प्रकार हजारों ईन्धन के गठ्ठों से भी अग्नि कभी शांत नहीं होती, उसी प्रकार अनंत विषय-भोगों को भोगने पर भी इस जीव की कभी तृप्ति नहीं होती, सर्वदा विषयलालसा बनी ही रहती है, इसलिये बुद्धिमान् लोग इन विषयों का सर्वथा त्याग ही कर देते हैं॥ ९७॥

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतुं,
किम्पाकपाकफलतुल्यमथो विपाके।
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा,
पञ्चेन्द्रियार्थसुखमर्थविदस्त्यजन्ति॥ ९८॥

अर्थ—जिस प्रकार किंपाक (इन्द्रायण) फल देखने में ऊपर से तो अच्छा होता है और देखते ही उसे खाने को जी चाहता है, परंतु खा लेने पर प्राण ही लेकर छोड़ता है, उसी प्रकार ये विषय-भोग भी प्रारंभ में तो अच्छे लगते हैं और यहाँ तक कि इनको छोड़ने को कभी भी जी नहीं चाहता— सर्वदा भोगने की ही इच्छा बनी रहती है, परंतु भोग लेने पर परिणाम में ये नाना दोष-खराबियाँ पैदा कर देते हैं, नाना तकलीफ देते हैं इसलिये जो विचारशील पुरुष हैं वे पाँचों इंद्रियों के विषयों को छोड़, शांत-सुख का अनुभव करते हैं॥ ९८॥

विद्या दया द्युतिरनुद्धतता तितिक्षा,
सत्यं तपो नियमनं विनयो विवेकः[१]
सर्वे भवन्ति विषयेषु रतस्य मोघा,
मत्वेति चारुमतिरेति न तद्वशित्वम्॥ ९९॥

अर्थ—जो लोग रात-दिन इंद्रिय-विषयों में फँसे-रहते हैं, उनके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। न तो उनके पास विद्या और कृपा ही रहती है (वे स्वार्थ के वश होकर दोनों पर भी अन्याय कर बैठते हैं) न तेज ही रहता है (सामर्थ्य-विहीन हो जाते हैं) न सहनशीलता ही ठहरती है, न सत्यता ही निवास करती है (छोटी सी बात के लिये भी झूठ बोलते हैं) न इंद्रियवशता ही रहती है और न विनय-विवेक ही रहता है (गुरुजनों

---

१. 'नयो वा' ऐसा भी पाठ है

के सामने भी विषयों में रत होने के कारण वेश्यादि के यहाँ पड़े रहते हैं) इसलिये विवेकी पुरुष इंद्रियों के वश नहीं होते॥ ९९॥

लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि बहुश्रुतोऽपि,
धर्मस्थितोऽपि निरतोऽपि शमान्वितोऽपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्य-
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निन्द्यम्॥ १००॥

अर्थ—इंद्रियविषयरूपी सर्प के विष से पीड़ित लोग नीच से नीच काम भी कर डालते हैं और यहाँ तक कि अपने लौकिक सम्मान, कुलीनता, पांडित्य, धर्मात्मापन, विरागिता, शांतिता आदि समस्त गुणों को बिल्कुल भूल जाते हैं अर्थात् लौकिक सम्मान आदि गुणों से विशिष्ट पुरुष भी विषयों में फंसकर निंद्य से निंद्य कर्म करने में नहीं चूकते॥ १००॥

लोकार्चितं गुरुजनं पितरं सवित्रीं,
बन्धुं सनाभिमबलां सुहृदं स्वसारम्।
भृत्यं प्रभुं तनयमन्यजनं च मर्त्यो,
नो मन्यते विषयवैरिवशः कदाचित्॥ १०१॥

अर्थ—इंद्रियविषय भोगरूपी वैरी की पक्ष में पहुँचकर ये मनुष्य अपने हित और प्यारे लोग जो गुरु, माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र, मित्र, स्वामी, सेवक आदि हैं, उन्हें भी भूल जाते हैं और इनकी कुछ भी चिंता नहीं करते॥ १०१॥

येनेन्द्रियाणि विजितान्यतिदुर्धराणि,
तस्याविभूतिरिह नास्ति कुतोऽपि लोके।
श्लाघ्यं च जीवितमनर्थविमुक्तमुक्तं,
पुंसो विविक्तमतिपूजिततत्त्वबोधैः॥ १०२॥

अर्थ—जिस मनुष्य ने इन दुर्जेय इंद्रियों का जय कर लिया है-इनके वश में न होकर इन पर ही अपना अधिकार जमा लिया है, उस मनुष्य के समान इस संसार में किसी की भी विभूति नहीं है और न किसी का जीवन ही प्रशंसनीय है, ऐसा श्रीतत्वदर्शी महर्षियों ने कहा है।

भावार्थ— हर एक मनुष्य को इंद्रियों का जय करना ही योग्य है और उसी से अपने जीवन को कृतार्थ मानना चाहिये॥ १०२॥

॥ ६ ॥

स्त्रीगुणदोषविचार[१]

उद्यद्गन्धप्रबन्धां परमसुखरसां कोकिलालापजल्पां
पुष्पास्त्रक्सौकुमार्यां कुसुमशरवधूं रूपतो निर्जयन्तीम्।
सौख्यं सर्वेन्द्रियाणामभिमतमभितः कुर्वतीं मानसेष्टं
सत्सौभाग्या लभन्ते कृतसुकृतवशाः कामिनीं मर्त्यमुख्याः॥ १०३॥

अर्थ—जिसका शरीर सर्वदा सुगंधित रहता है जो परमसुख रस का अनुभव कराती है, कोकिल के से मीठे-२ वचन बोलने वाली, समस्त इंद्रियों को सुख प्रदान करने वाली और मन के अभीष्ट को सिद्ध करने वाली हैं, जिसका फूल की माला के समान कोमल शरीर है और जो रूप से कामदेव की स्त्री रति को भी जीतने वाली है, ऐसी सुंदरी स्त्री, उन्हीं लोगों को इस संसार में मिलती है जिन लोगों ने कि पूर्व जन्म में पुण्य किया है-जिनके सौभाग्य का सितारा देदीप्यमान है।

भावार्थ— मुख की सुगंधि से नासिका को, कोमल वचनों से कर्णों को, चुंबनादि से रसना को, कोमल अंग से स्पर्श को, सुन्दर रूप से नेत्रों को और अभीष्ट कार्य करने से मन को प्रसन्न करने वाली स्त्री बड़े ही भाग्यशालियों को प्राप्त होती है-ऐसी स्त्री का मिलना कम भाग्य की बात नहीं॥ १०३॥

अक्ष्णोर्युग्मं विलोकान्मृदुतनुगुणतस्तर्पयन्ती शरीरं
दिव्यामोदेन वक्त्रादपगतमरुता नासिकां चारुवाचा।
श्रोत्रद्वन्द्वं मनोज्ञाद्रसनमपि रसादर्पयन्ती मुखाब्जं
यद्वत्पञ्चाक्षसौख्यं वितरति युवतिः कामिनां नान्यदेवम्॥ १०४॥

अर्थ—स्त्री-देखने से नेत्र, कोमल शरीर के स्पर्श से शरीर, सुगंधित मुख की गंध से नासिका, मीठी-२ वाणी से श्रोत्र, और मुख-दान (चुम्बन) से रसद्वारा जिह्वा को तृप्त करती है, इसलिये जिस प्रकार कामियों की पाँचों इंद्रियों को सुख देने वाली स्त्री है, वैसी अन्य कोई वस्तु नहीं है।

---

१. किसी-किसी प्रति में यहाँ से ११४ तक के श्लोक नहीं हैं।

भावार्थ—संसार में कामियों को सुख प्रदान करने वाली बहुत सी चीजें हैं, परंतु सिवाय स्त्री के उनमें ऐसी कोई भी एक चीज नहीं है जो कि उनकी पाँचों इंद्रियों को एक साथ सुख देने वाली हो। स्त्री ही एक ऐसा पदार्थ है जो कि उपर्युक्त रीति से समस्त इंद्रियों को सुख देता है॥ १०४॥

या कूर्मोच्चांङ्घ्रिपृष्ठारुणचरणतला वृत्तजङ्घा वरोरूः
स्थूलश्रोणीनितम्बा प्रविपुलजघना दक्षिणावर्तनाभिः।
इन्द्रास्त्रक्षाममध्या कनकघटकुचा वारिजावर्त्तकण्ठा
पुष्पास्त्रग्बाहुयुग्मा शशधरवदना पक्वबिम्बाधरोष्ठी॥ १०५॥

संशुम्भत्पाण्डुगण्डा, प्रचकितहरिणीलोचना, कीरनासा-
सज्येष्वासानतभ्रूः सुरभिकचचया, त्यक्तपद्मेव पद्मा।
अङ्गैरङ्गं भजन्ती धृतमदनमदैः प्रेमतो वीक्ष्यमाणा
नेदृग्यस्यास्ति योषा स किमु वरतपो भक्तितो नो विधत्ते॥ १०६॥

अर्थ—जिसके चरणों के पृष्ठ भाग कछुए के समान उन्नत और चरणों के तल लाल हैं, जंघा [पेड़ीं] गोल और ऊरू सुंदर हैं, श्रोणी और नितंब स्थूल हैं, जघन भाग विपुल है, नाभि भंवर के समान निम्न है, कटि [कमर] वज्र के समान पतली है, कुच सुवर्ण कलश के समान स्थूल हैं, ग्रीवा शंख के समान उन्नतावनत है, बाहु पुष्पमाला के तुल्य कोमल हैं, मुख चंद्रमा सरीखा है, अधर [ओंठ] पके हुये विंब फल से भी अधिक लाल हैं, गंडस्थल [कपोल] पांडु है नेत्र भयभीत हरिणी के समान चपल हैं, नाक तोते की-सी पतली और कुछ लंबी है, भौहें चढ़े हुए बाण युक्त धनुष सरीखी हैं, कोमल केश सुरभि—गाय से युक्त अपने शरीर के अवयवों के साथ मिलाकर आनन्द प्रदान करती है, ऐसी स्त्री जिस पुरुष की नहीं है वह इस संसार में अभागा है, उसे चाहिये कि वह भक्ति-भाव से जंगल में जाकर श्रेष्ठ तप करे।

भावार्थ-उपर्युक्त लक्षणवाली स्त्री पूर्वजन्म में किये गये श्रेष्ठ तप के प्रभाव से मिलती है, इसलिये जिन मनुष्यों के पास वैसी स्त्री नहीं है, उनको चाहिये कि वे संसार-माया में न फंसकर श्रेष्ठ तप करें जिससे कि अगले भव में उन्हें भी वैसी स्त्री प्राप्त हो सके॥ १०५-१०६॥

संत्यक्तव्यक्तबोधस्तरुरपि बकुलो मद्यगण्डूषसिक्तः
पिण्डीवृक्षश्च मुञ्चश्चरणतलहतः पुष्परोमाञ्चमर्च्यम्।
सौख्यं जानाति यस्या जितमदनपतेर्हावभावास्पदाया-
स्तां नारी वर्जयन्तो विदधति तरुतोप्यूनमात्मानमज्ञाः॥ १०७॥

अर्थ—जिनका कि ज्ञान बिल्कुल तुच्छ है, एक तरह से नहीं के समान है, ऐसे बकुल और अशोक वृक्ष भी जिसके मद्य के कुल्ला करने से और पैर द्वारा ताडित होने से रोमांचित वा आनंदित हो निकलते हैं- ऐसी रति की विजेत्री हावभाव जानने वाली स्त्री को जो मनुष्य छोड़ देते हैं उनकी आत्मा वृक्ष से भी न्यून गिनी जाती है।

भावार्थ—युवती स्त्रियों के कुल्लों से बकुल वृक्ष की कलियाँ खिल जाती हैं और उनके पादताडन से अशोक वृक्ष से फूल उठता है, ऐसी कवि समय ख्याति है, इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि जिन स्त्रियों के स्पर्श मात्र से एकेंद्रिय स्वल्पज्ञान के धारक अज्ञानी वृक्ष तक प्रसन्न हो जाते हैं उन्हें भी लोग रुष्ट होकर छोड़ देते हैं, वे लोग अपनी आत्मा को वृक्ष से अल्पज्ञान वाली बनाते हैं॥ १०७॥

गौरीं देहार्धमीशो हरिरपि कमलां नीतवानत्र वक्षो
यत्संगात्सौख्यमिच्छुः सरसिजनिलयोष्टार्धवक्त्रो बभूव।
गीर्वाणानामधीशो दशशतभगतामाप्तवानस्तधैर्यः
सा देवानामपीष्टा मनसि सुवदना वर्तते नुर्न कस्य॥ १०८॥

अर्थ—जिस स्त्री के फंदे में पड़कर बड़े-२ देवता लोग भी अपनी शक्ति को खो बैठे और उनके ही सेवक हो गये भला! वह सुवदना किस मनुष्य की जितेन्द्रियता को वश करेगी। देखो! महादेव ने गौरी को अपने आधे अंग में रखकर सर्वदा के लिये ही अर्धांगिनी बना लिया, कृष्ण लक्ष्मी के मोह में इतने फंसे कि वे उसे रात-दिन वक्ष स्थल पर ही रखने लगे, ब्रह्मा ने सुख की इच्छा से चार मुँह कर लिये और इन्द्र ने तो इतनी उद्विग्नता की कि अपने नेत्र ही हजार बना डाले॥ १०८॥

यत्कामार्तिं धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
सत्पात्राहारदानप्रभववरबृषस्यास्तदोषस्य हेतुः।
वंशाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभवः कारणं कान्तकीर्ति-
स्तत्सर्वाभीष्टदात्री प्रवदत न कथं प्रार्थ्यते स्त्रीसुरत्नम्॥ १०९॥

अर्थ—जो स्त्री काम की पीड़ा को दूर करती और परम सुख देती है, बात ही बातों में प्रेम प्रकट करती है, सत्पात्र में दिये गये आहार दान से उत्पन्न निर्दोष पुण्य में सहायता करती है और जो वंशोद्धार करने वाले पुत्र को जन्म प्रदान करती है, ऐसी समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली नारी श्रेष्ठ रत्न के समान किसके प्रार्थना योग्य नहीं होती? अर्थात् हर एक मनुष्य उसकी कामना करता है॥ १०९॥

कृष्णत्वं केशपाशे, वपुषि च कृषतां नीचतां नाभिबिम्बे,
वक्रत्वं भ्रूलतायामलककुटिलतां, मन्दिमानं प्रयाणे।

चापल्यं नेत्रयुग्मे, कुचकलशयुगे कर्कशत्वं दधाना,
चित्रं दोषानपि स्त्री लसति मुखरुचा ध्वस्तदोषाकरश्रीः॥ ११०॥

अर्थ—जो बातें दूसरी जगह दोषों में गिनी जाती हैं, वे ही स्त्री में गुण समझे जाते हैं। जैसे कि-कृष्णता (कालापन), कृशता, नीचता, वक्रता, (टेढ़ापन) कुटिलता, मंदता, चपलता, और कर्कशता (कठोरता)— ये यद्यपि दोष हैं और जिस मनुष्य में समस्त हो तो क्या कहना? इनमें से कोई एक भी दोष होता है तो वह निंदनीय गिना जाता है, परन्तु स्त्री में ये दोष भी गुण समझे जाते हैं—स्त्री की इन दोषों के ही कारण लोग प्रंशसा करते हैं, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। अर्थात् जिस स्त्री के केशपाश में कृष्णता, शरीर में कृशता (पतला-दुबलापन) नाभि में निम्नता (गहराई) भौहों में वक्रता (टेढ़ापन) बालों में कुटिलता, गमन में मंदता (ढीलाई) नेत्रयुग में चपलता, कुचों में कठोरता होती है उसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं।

भावार्थ—स्त्री एक ऐसा विचित्र पदार्थ है जिसमें कि दोष भी आकर गुण बन जाते हैं॥ ११०॥

बाहुद्वन्द्वेन मालां, मलविकलतया पद्धतीं स्वर्भवानां,
हंसीं गत्यान्यपुष्टां मधुरवचनतो, नेत्रतो मार्गभार्याम्।
सीतां शीलेन, कान्त्या शिशिरकरतनुं, क्षान्तितो भूतधात्रीं
सौभाग्याद्या विजिग्ये गिरिपतितनयां, रूपतः कामपत्नीम्॥ १११॥

वक्षोजौ कठिनौ, न वाग्विरचना, मन्दा गतिर्नो मति-
र्वक्रं भ्रूयुगलं मनो न जठरं, क्षामं नितम्बो न च,।
युग्मं लोचनयोश्चलं न चरितं, कृष्णाः कचा, नो गुणा,
नीचं नाभिसरोवरं, न रमणं, यस्या मनोज्ञाकृतेः॥ ११२॥

स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः सुरनतचरणो जायतेऽबाधबोध-
स्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहितकथकं मोक्षमार्गावबोधः।
तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदुरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं
बुध्वैवं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकरिणीं सज्जनः स्वीकरोति॥ ११३॥

अर्थ—स्त्रियों से देवों द्वारा वंदनीय सर्वज्ञ देव उत्पन्न होते हैं, सर्वज्ञ देव सच्चे शास्त्रों का उपदेश देते हैं, सच्चे शास्त्रों से मोक्षमार्ग का ज्ञान होता है, मोक्ष मार्ग के ज्ञान से संसार का नाश होता है, और संसार के नाश होने से निराबाध नित्य अनंत मोक्ष सुख मिलता है, इसलिये जिसकी कि बाहें पुष्पमाला से भी अधिक कोमल होती हैं, जो पवित्रता में—(निर्मलता में) आकाश को भी मात करती है, जिसका कि गमन हंस के

भी गमन से मंद-मंद होता है, जिसके वचन मधुरता में कोकिला से भी मीठे होते हैं, जो कि नेत्रों की चंचलता से हरिणी को भी जीतती है, जिसके कि शील के (ब्रह्मचर्य के) सामने सीता का भी शील नीचा हो जाता है, जिसकी कि कांति से चंद्रमा की भी कांति फीकी पड़ जाती है, जो की पृथिवी से भी अधिक क्षमाशील होती है, जिसका कि सौभाग्य पार्वती के सौभाग्य से भी बढ़कर होता है, और रूप रति के भी रूप को जीतता है, जिसके कि कुच ही कठिन होते हैं वाक्य नहीं (बोलने में तो बड़ी ही सीधी होती है), गति ही मंद होती है बुद्धि नहीं (बुद्धि में तो खूब तेज रहती है), भौंहें ही कुटिल होती हैं मन नहीं (मन तो बहुत ही ऋजु और कोमल रहता है), उदर ही कृश रहता है, नितंब नहीं [नितंब तो स्थूल होते हैं] नेत्र ही चंचल होते हैं चरित नही (चरित तो बहुत ही दृढ़ रहता है), केश ही काले होते हैं, गुण नहीं (गुण तो निर्दोष रहते हैं) और नाभि ही नीच-निम्न होती है कार्य नहीं (कार्य अत्युच्च होते हैं), ऐसी स्त्री को परंपरा से मोक्ष का कारण और पवित्र जान सज्जन लोग हर्ष के साथ स्वीकार करते हैं॥ १११-११३॥

भृत्यो मंत्री विपत्तौ भवति रतिविधौ याऽत्र वेश्या विदग्धा,
लज्जालुर्या विगीता गुरुजनविनता, गोहिनी गेहकृत्ये।
भक्त्यामत्यौ सखी, या स्वजनपरिजने धर्मकर्मैकदक्षा,
साल्पक्रोधाल्पपुण्यैः सकलगुणनिधिः प्राप्यते स्त्री न मर्त्यैः॥ ११४॥

अर्थ—जो स्त्रियाँ विपत्ति पड़ने पर सेवा करने में चतुर मंत्री का काम देती हैं, रति के समय वैश्या से भी अधिक चतुरता दिखलाती हैं, पति द्वारा निंदित होने पर लज्जा से नीचा मुँह कर लेती हैं, जेठ, सासु, श्वसुर आदि बड़ों की विनय करतीं हैं, घर के काम काज करने में चतुर होती हैं, भक्ति से मित्र के समान पति का काम करती हैं, और धर्म-कर्म में चतुर होने के कारण स्वजन तथा परिजनों में अल्प क्रोध दिखलाती हैं, वे समस्त गुणों की खानि स्वरूप स्त्रियाँ अल्प पुण्यवाले मुनष्यों के भाग्य में नहीं होतीं जिन्होंने पूर्वजन्म में महान् पुण्य किया है उनको ही मिलती हैं॥ ११४॥

कृत्याकृत्ये न वेत्ति, त्यजति गुरुवचो, नीचवाक्यं करोति,
लज्जालुत्वं जहाति, व्यसनमतिमहद्गाहते निन्दनीयम्।
यस्यां शक्तो मनुष्यो निखिलगुणरिपुर्माननीयोऽपि लोके
सानर्थानां निधानं वितरतु युवतिः किं सुखं देहभाजाम्॥ ११५॥

अर्थ—जो मनुष्य स्त्रियों में आसक्त रहता है वह अच्छे और बुरे काम को नहीं विचारता, गुरुजनों के वचनों का पालन नहीं करता, नीचों के कथनानुसार चलता है, लज्जा को एक ताक में रख देता है निंदनीय व्यसनों में फंस जाता है और मान्य होने पर भी समस्त गुणों का वैरी बन जाता है, कोई भी गुण उसके पास नहीं फटकने पाता,

इसलिये महान् अनर्थों की खानिस्वरूप स्त्रियाँ इस संसार में कैसे मनुष्यों को सुख दे सकती हैं ? अर्थात् कभी नहीं—दोषियों की संगति से गुण कभी नहीं मिल सकते॥ ११५॥

शश्वन्मायां करोति, स्थिरयति न मनो मन्यते नोपकारं,
या वाक्यं वक्त्यसत्यं, मलिनयति कुलं, कीर्तिवल्लीं लुनाति।
सर्वारम्भैकहेतुर्विरतिसुखरतिध्वंसिनी निन्दनीया,
तां धर्मारामभङ्क्त्रीं भजति न मनुजो मानिनीं मान्यबुद्धिः॥ ११६॥

अर्थ—स्त्रियाँ सर्वदा माया करती हैं, इनका मन कभी स्थिर नहीं रहता (सर्वदा चंचल ही रहता है) ये उपकारी का भी उपकार नहीं मानतीं (सबका ही अपकार कर बैठती हैं) झूठ बोलने में बड़ी चतुर होती हैं (सत्य बात तो शायद ही इनके श्रीमुख से निकलती हो), कुल पर धब्बा लगा बैठती हैं, कीर्तिरूपी लता को काट डालती हैं, इनके होने से समस्त आरंभों और परिग्रहों में मनुष्य को फँसना पड़ता है और वैराग्य-जन्य सुख से हाथ धो बैठना होता है, इसलिये जो मनुष्य विचारशील हैं, वे कभी भी धर्म की जड़ काटने वाली निंदनीय स्त्री को नहीं सेवते, सर्वथा उससे दूर ही रहते हैं॥ ११६॥

या विश्वासं नराणां जनयति, शतधालीकजल्पप्रपञ्चै-
र्न प्रत्येति स्वयं तु, व्यपहरति गुणानेकदोषेण सर्वान्।
कृत्वा दोषं विचित्रं रचयति निकृतिं यात्मकृत्यैकनिष्ठा,
तां दोषाणां धरित्रीं रमयति रमणीं मानवो नो वरिष्ठः॥ ११७॥

अर्थ—जो मनुष्यों को सैकड़ों और हजारों झूठी-झूठी बातें बतलाकर अपना तो विश्वास करा देती है पर स्वयं किसी का भी विश्वास नहीं करती, जो एक दोष ही दूसरे समस्त गुणों पर पोता फेर देती है जो नाना प्रकार के विचित्र-विचित्र ढोंग रचकर लोगों की दृष्टि में दोषी होने पर भी निर्दोष बनी रहती है और जो सदा अपना ही अपना मतलब गांठती रहती है ऐसी स्त्री को श्रेष्ठ पुरुष कभी भी स्वीकार नहीं करते॥ ११७॥

उद्यज्ज्वालावलीभिर्वरमिह भुवनप्लोषके हव्यवाहे,
रङ्गद्वीचौ प्रविष्टं जलनिधिपयसि ग्राहनक्राकुले वा।
संग्रामे वाऽरिरौद्रे विविधशरहतानेकयोधप्रधाने,
नो नारीसौख्यमध्ये भवशतजनितानन्तदुःखप्रवीणे॥ ११८॥

अर्थ—तीनों लोकों को जला देने में समर्थ अग्नि की प्रज्वलित ज्वाला में जल-भुनकर खाक हो जाना अच्छा, लहरों, ग्राह एवं नाकों से व्याप्त समुद्र के जल में गिरना

अच्छा, और नाना प्रकार के विविध अस्त्रों के धारक योधाओं के युद्ध में वैरियों के बाणों को प्राण दे देना भी अच्छा परंतु संसारिक अनंत दुःखों के घर स्वरूप स्त्रियों के सुख में प्राण रखकर भी रहना अच्छा नहीं। क्योंकि अग्नि समुद्र और संग्राम में प्राण जाने से तो एक जन्म में ही दुःख होता है पर स्त्रियों के सुख में पड़कर तो सैकड़ों और हजारों भवों में दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है॥ ११८॥

विद्युद्द्योतेन रूपं रजनिषु तिमिरे वीक्षितुं शक्यते यैः,
पारं गन्तुं भुजाभ्यां विविधजलचरक्षोभिणां वारिधीनाम्।
ज्ञातुं पारोऽमितानां वियति विचरतां ज्योतिषां मण्डलस्य,
नो चित्तं कामिनीनामिति कृतमतयो दूरतस्तास्त्यजन्ति॥ ११९॥

अर्थ—लोग सघन अंधियारी रात्रि में बिजली के सहारे रूप देख सकते हैं, नाना प्रकार के जलचरों से क्षोभित समुद्र को भुजाओं से तैरकर पार कर सकते हैं और अगणित आकाश के ताराओं को भी किसी न किसी प्रकार गिन सकते हैं परंतु स्त्रियों के चंचल मन की बातों का पार नही पा सकते, इसलिये बुद्धिमान् लोग उनको दूर से ही छोड़ देते हैं।

भावार्थ—चाहे असंभव बात संभव हो जाय, परंतु स्त्रियों के मन में क्या क्या है, यह बात कोई नहीं जान सकता॥ ११९॥

कात्र श्रीः श्रोणिविम्बे स्त्रवदुदरपुरे वाऽस्ति खद्वारवाच्ये,
लक्ष्मीः का कामिनीनां कुचकलशयुगे मांसपिण्डस्वरूपे।
का कान्तिर्नेत्रयुग्मे कलुषजलजुषि, श्लेष्मरक्तादिपूर्णे,
का शोभा वक्त्रगर्ते निगदत यदहो मोहिनस्ताः स्तुवन्ति॥ १२०॥

अर्थ—संसार में मोह (अज्ञान) का प्राबल्य अधिक है, देखो कि उसके वश हो लोग स्त्रियों के शोभाविहीन श्रोणिबिंब, कुचयुगल, नेत्रद्वय और मुख-कमल की कितनी बड़ी प्रशंसा कर पड़ते हैं परंतु वास्तव में देखा जाय तो वे बिलकुल ही निश्रीक घृणा के पात्र हैं क्योंकि उनकी श्रोणि (योनि) तो रज और मूत्र आदि को बहाकर बाहर निकालने वाला इंद्रियद्वार है, कुच जिनको कि लोग कलशों की उपमा देते हैं मांस के लोदें हैं, नेत्र मलिन जल (कीचर) से मैले हैं और मुंह कफ, पित्त, रक्त आदि अपवित्र पदार्थों का घर है॥ १२०॥

वक्त्रं लालाद्यवद्यं सकलशशिभृता स्वर्णकुम्भद्वयेन,
मांसग्रन्थी स्तनौ च, प्रगलदुरुमला स्यन्दनाङ्गेन योनिः।
निर्गच्छद्दूषिकास्त्रं यदुपमितमहो पद्मपत्रेण नेत्रं,
तच्चित्रं नात्र किञ्चिद्यदपगतमतिर्जायते कामिलोकः॥ १२१॥

अर्थ—संसार में कामी लोगों की महिमा अपरंपार है। देखो कि—उन्होंने जो स्त्रियों का मुख लार, थूक आदि अपवित्र वस्तुओं का स्थान है उसे पूर्णमासी के निर्दोष चन्द्रमा की उपमा दी है, मांस के पिण्ड सरीखे स्तनों को बहुमूल्य सुवर्ण के कलशों के समान माना है, सर्वदा रक्तादि मल को चुआने वाली योनि चक्र तुल्य बतलाया है और मैले आँसू आदि दुर्गन्ध पदार्थ बहाने वाले नेत्रों को कमल से भी अधिक सुन्दर बताया है॥ १२१॥

यत्त्वग्मांसास्थिमज्जाक्षतजरसवसाशुक्रधातुप्रवृद्धे,
विष्ठामूत्रासृगश्रुप्रभृतिमलनवस्त्रोतमत्र त्रिदोषे।
वर्चः सद्मोपमाने कृमिकुलनिलयेऽत्यन्तबीभत्सरूपे,
रज्यन्नङ्गे वधूनां व्रजति गतमतिः श्वभ्रगर्भे कृमित्वम्॥ १२२॥

अर्थ—स्त्रियों को रमण करने के अंग त्वचा, मांस, अस्थि, मज्जा, रक्त, वसा और शुक्र इन सप्त धातुओं का बना हुआ है, विष्ठा, मूत्र, रक्त, अश्रु प्रभृति नव मलों के बहाने का नाला है वातपित्त और कफरूप त्रिदोष से सहित है विष्ठा और कृमियों का घर हैं परंतु ऐसे महावीभत्स अंग में भी जो मूढ़ मनुष्य आनन्द के लिए रमण करता है और उससे अपने को धन्य समझता है वह नरक में पड़े हुए कीड़े के समान गिना जाता है॥ १२१॥

छायावद्या न त्याजाचिररुचिचपला खड्गधारेव तीक्ष्णा,
बुद्धिर्वा लुब्धकस्य प्रतिहतकरुणा व्याधिवन्नित्यदुःखा।
वक्रा वा सर्परीतिः कुनृपगतिरिवावद्यकृत्यप्रचारा,
चित्रा वा शक्रचापं भवचकितबुधैः सेव्यते स्त्री कथं सा॥ १२३॥

अर्थ—जो स्त्री छाया के समान पीछे-२ चलती है, बिजली के समान चंचल होती है, तलवार की धार के समान तीक्ष्ण और कसाई की बुद्धि के समान निर्दयी रहती है, व्याधि की तरह सर्वदा दुःख ही दुःख देती है, साँप की गति के समान टेढ़ी रहती है, खोटे नृप के समान सर्वदा पाप का प्रचार करती है और जो इन्द्रधनुष की-सी विचित्रता (रंग-विरंगापन, विलक्षणता) लिये होती है, ऐसी स्त्री को संसार से भीत मनुष्य कैसे सेवते हैं यही आश्चर्य है।

भावार्थ—संसार से भीत हुए मनुष्यों को चाहिए कि वे चपल, तीक्ष्ण दया-रहित, दुःखदायिनी, वक्र [कुटिल], पाप-प्रचारिणी और विचित्र बुद्धि वाली स्त्री से कदापि न रमण करें॥ १२३॥

संज्ञातोऽपीन्द्रजालं यदुत युवतयो मोहयित्वा मनुष्या-
न्नानाशास्त्रेषु दक्षानपि गुणकलितं दर्शयन्त्यात्मरूपम्।

शुक्रासृग्यातनाक्तं ततकुथितमलैः प्रक्षरत्स्रोतगर्तैः
सर्वैरुच्चारपुञ्जं कुथितभृतपटं छिद्रितं यद्वदत्र॥ १२४॥

अर्थ—स्त्रियाँ मनुष्यों को लुभाने में इन्द्रजाल से भी बढ़-चढ़कर काम करती हैं क्योंकि इन्द्रजाल तो सामान्य पढ़े-लिखे मूर्ख लोगों को ही मोह में फँसा सकता है, परंतु ये तो बड़े-२ शास्त्रज्ञ मनुष्यों को बात ही बात में अपने मोह में फंसा लेती हैं और यहां तक कि—छिद्रित मल के धारक वस्त्र को निश्छिद्र के समान अपने शुक्र, रक्त आदि मलों को इन्द्रिय रूपी गर्त्तों से चुआने वाली शरीर को गुण से पूर्ण बतला देती है॥ १२४॥

या सर्वोच्छिष्टवक्त्रा हितजनभुषणासद्गुणास्पर्शनीया,
पूर्वाधर्मात्प्रजाता सततमलभृता निन्द्यकृत्यप्रवृत्ता।
दानस्नेहा शुनीव भ्रमणकृतरतिश्चाटुकर्मप्रवीणा,
योषा सा साधुलोकैरवगतजननैर्दूरतो वर्जनीया॥ १२५॥

अर्थ—जिसका कि मुख तो सब लोगों की उच्छिष्ट से जूठा होता है, हितजनों से जो बैर करती है, दुर्गुणवाली होने से जिसका कि स्पर्श भी करना अनुचित है, पूर्वजन्म में किये गये पाप से ही जो उत्पन्न होती है, रक्तादि मलों से मलिन रहने वाली जो सर्वदा निंदनीय कार्य ही किया करती है, कुतिया [कुक्करी] के समान जिसका कि दान देने वाले में ही स्नेह रहता है और सर्वदा परिभ्रमण करने [इधर-उधर डोलने] की प्रेमिणी और चाटु वचन [मिन्नत, खुशामदी] करने में कुशल होती है, ऐसी स्त्री साधु लोगों को दूर से त्यागने योग्य है॥ १२५॥

दुःखानां या निधानं भवनमविनयस्यार्गला स्वर्गपुर्याः,
श्वभ्रावासस्य वर्त्म प्रकृतिरयशसः साहसानां निवासः।
धर्मारामस्य शस्त्री गुणकमलहिमं मूलमेनोद्रुमस्य,
मायावल्लीधरित्री कथमिह वनिता सेव्यते सा विदग्धैः॥ १२६॥

अर्थ—जो स्त्रियाँ दुःखों के तो खजाने स्वरूप हैं, अविनय का घर हैं, स्वर्गपुरी के जाने में अर्गला [बेड़ा] हैं, नरक का सीधा रास्ता हैं, अपयश [बदनामी] की जड़ हैं, साहसों का अड्डा हैं (साहस करने में बड़ी ही समर्थ होती हैं) धर्मरूपी बगीचे के लिये छुरी हैं, गुणरूप कमलों के लिये तुषार (वर्फ, पाला) हैं, पापरूपी वृक्ष की जड़ हैं, माया की लता (वेल) हैं, उन स्त्रियों को विद्वान् कैसे सेवते हैं, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है॥ १२६॥

श्रोणीसद्मप्रपन्नैः कृमिभिरतिशयारुंतुदैस्तुद्यमाना,
यत्पीडातोऽतिदीना विदधति चलनं लोचनानां रमण्यः।

तन्मन्यन्तेऽतिमोहादुपहतमनसः सद्विलासं मनुष्या,
इत्येतत्तथ्यमुच्चैरमितगतियतिप्रोक्तमाराधनातः ॥ १२७॥

अर्थ—अमित गति आचार्य (इस मूल ग्रंथ के कर्त्ता) का मत है कि—स्त्रियों की योनि में जो विषैले कीड़े रहते हैं, उनको काटने से उन्हें (स्त्रियों को) एक विलक्षण ही रीति की पीड़ा होती है, जिससे कि उस पीड़ा के न सह सकने के कारण स्त्रियां अपने नेत्रों को खोलती-मींचती अथवा इधर-उधर चलाती हैं परंतु मोह के फंदें में पड़े हुए ये मनुष्य ऐसे मूढ़ हैं कि उन्हें उनका [स्त्रियों का] सद्विलास समझते हैं और उसे कटाक्ष नाम से पुकारते हैं॥ १२७॥

॥ ७ ॥

सदसत्स्वरूपनिरूपण

दुरन्तमिथ्यात्वतमोदिवाकरा
विलोकिताशेषपदार्थविस्तराः।
उशंति मिथ्यात्वतमो जिनेश्वरा
यथार्थतत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणम्॥ १२८॥

अर्थ—कठिनता से नाश होने वाले मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से नाश करने में सूर्य के समान, समस्त पदार्थों को स्पष्ट रूप से देखने वाले भगवान् जिनेश्वर ने तत्त्वों की वास्तविक प्रतीति का न होना ही मिथ्यात्व बतलाया है॥ १२८॥

विमूढतैकान्तविनीतसंशय-
प्रतीपताग्राहनिसर्गभेदतः।
जिनैश्च मिथ्यात्वमनेकधोदितं
भवार्णवभ्रान्तिकरं शरीरिणाम्॥ १२९॥

अर्थ—और वह मिथ्यात्व अज्ञान, एकांत, विनय, संशय, विपरीत, गृहीत, और निसर्ग मिथ्यात्व के भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है और वह प्राणियों को संसार-सागर में परिभ्रमण कराने वाला है॥ १२९॥

परिग्रहेणापि युताँस्तपस्विनो
बधेऽपि धर्मं बहुधा शरीरिणाम्।
अनेकदोषामपि देवतां जन-
स्त्रिमोहमिथ्यात्ववशेन भाषते॥ १३०॥

अर्थ—यह जीव त्रिमूढ़ता रूप मिथ्यात्व के वश में होकर परिग्रह से युक्त मनुष्यों को तो साधु तपस्वी बतलाता है, महापाप को उत्पन्न कराने वाले जीवों के बध को धर्म कहता है और रागद्वेष आदि नाना दोषों से दूषित देवों को देव कहकर पूजता है।

भावार्थ—आरंभ और परिग्रह से सहित मायाचारी, पांखड, धूर्त, सुलोफेवाज लोगों को गुरु साधु, तपस्वी, महात्मा समझना गुरू-मूढता है। पुत्रादिक अभीष्ट पदार्थों

के लोभ से या अन्य किसी भी सांसारिक प्रयोजन के वश हो रागद्वेष आदि मल से मलिन देवी देवताओं को मानना पूजना देव-मूढ़ता है और बकरा, भैंसा, मेंढा आदि जंतुओं की हिंसा करने में तथा नदी समुद्र प्रभृति में स्नान कर अनंत जीवों को मारने में धर्म मानना लोक-मूढता है॥ १३०॥

विबोधनित्यत्वसुखित्वकर्तृता-
विमुक्तितद्धेतुकृतज्ञतादयः।
न सर्वथा जीवगुणा भवन्त्यमी
भवन्ति चैकान्तदृशेति बुध्यते॥ १३१॥

अर्थ—विज्ञान, स्वरूपता, नित्यता, सुखिता, कर्तृता, विमुक्तिस्वरूपता और मोक्ष के कारण कृतज्ञता आदि सर्वथा-एकांत रूप से जीव के गुण नहीं हो सकते। परंतु जो पुरुष एकांत मिथ्यात्वी हैं वे उन्हें सर्वथा जीव के गुण मानते हैं।

भावार्थ—यह बात पूर्णरूप से अनुभव में आती है कि यदि किसी रूप से जीव ज्ञानस्वरूप है तो किसी रूप से अज्ञान स्वरूप भी है तथा किसी रूप से नित्यत्व आदि स्वरूप है तो किसी रूप से अनित्यत्व आदिस्वरूप भी हैं परंतु जो एकांतमिथ्यात्व से ग्रस्त हैं वे ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख, नित्यता, कर्तृता, अकर्तृता, मुक्ति, अमुक्ति, (संसारित्व) और कृतज्ञता, अकृतज्ञता आदि को जीव के सर्वथा एकांत से गुण मानते हैं यह ठीक नहीं॥ १३१॥

न धूयमानो भजति[१] ध्वजः स्थितिं
यथानिलैर्देवकुलोपरि स्थितः।
समस्तधर्मानिलधूतचेतनो
विनीतमिथ्यात्वपरस्तथा नरः॥ १३२॥

अर्थ—जिस प्रकार कि देवमंदिर के ऊपर की ध्वजा (पताका) पवन के वेग से क्षण भर भी स्थिर नहीं रहती-सर्वदा इधर-उधर ही फहराया करती है, उसी प्रकार जो जीव विनीत मिथ्यात्यत्व के वश में हैं उनके मन भी सांसारिक समस्त धर्मों (मतों) के प्रभावरूपी पवन से कँपाये गये किसी एक धर्म में स्थिर नहीं रहते-सर्वदा इधर उधर ही भटका करते हैं॥ १३२॥

समस्ततत्त्वानि न सन्ति सन्ति वा
विरागसर्वज्ञनिवेदितानि वै।
विनिश्चयः कर्मवशेन सर्वथा
जनस्य संशीतिरुचेर्न जायते॥ १३३॥

---

१. ''भवति ध्वजः स्थिरो'' ऐसा भी पाठ है।

अर्थ—समस्त पदार्थों को जानने वाले, राग-द्वेष से विनिर्मुक्त जिनेन्द्रभगवान् ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात पदार्थों को तत्त्व कहा है या नहीं कहा है— इस प्रकार का चंचल मन या भाव होना ही संशयमिथ्यात्व है।

भावार्थ—जो जीव सर्वज्ञ प्रतिपादित जीवादिक तत्वों में शंका करते हैं और इस बात को कहते हैं कि—कौन देख आया है, सर्वज्ञ भी होता है या नहीं और उसके प्रतिपादित तत्त्व ये ही हैं या दूसरे हैं अथवा समस्त लोकों में इतने ही तत्त्व हैं, वे संशय मिथ्या दृष्टि हैं॥ १३३॥

पयोयुतं शर्करया कटूयते
यथैव पित्तज्वरभाविते जने।
तथैव तत्त्वं विपरीतमङ्गिनः
प्रतीपमिथ्यात्वदृशो विभासते॥ १३४॥

अर्थ—शक्करमिश्रित भी दूध जिस प्रकार पित्तज्वर वाले को सर्वथा कडुवा लगता है, उसी प्रकार जो प्रतीपमिथ्यात्व वाले जीव हैं, उन्हें वास्तविक तत्त्व उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा समझाया गया भी विपरीत भासता है।

भावार्थ—समझाने पर भी जो वास्तविक तत्त्वों का निश्चय न होना है और सर्वथा मिथ्या तत्त्वों में ही फँसे रहना है, वह प्रतीप मिथ्यात्व है॥ १३४॥

प्रपूरितश्चर्मलवैर्यथाशनं
न मण्डलश्चर्मकृतः समिच्छति।
कुहेतुदृष्टान्तवचःप्रपूरितो
जिनेन्द्रतत्त्वं वितथं प्रपद्यते॥ १३५॥

अर्थ—जिस प्रकार कि चमार (चर्मकार) का कुत्ता रात-दिन मांस खाने के कारण अन्न को नहीं चाहता है, मांस को ही सर्वथा स्वादिष्ट जानकर अन्न से घृणा करता है और रोटी आदि को देने पर भी उसे वह नहीं लेता, उसी प्रकार जिन जीवों के चित्त कुहेतु, कुदृष्टांत प्रभृति पूर्वक समझाये गये रात-दिन के उपदेशों से परिपूरित हैं—मर गये हैं, वे भी जिनेंद्र सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित सत्य पदार्थों को मिथ्या मान नहीं ग्रहण (समझना) करना चाहते, जिससे कि उससे सर्वथा दूर रहते हैं।

भावार्थ—दूसरों के कुहेतु, कुदृष्टांतों से परिपूर्ण उपदेशों के वश हो मिथ्या तत्त्वों का तो श्रद्धान करना और वास्तविक तत्त्वों को जानने की इच्छा न होना गृहीतमिथ्यात्व है॥ १३५॥

यथान्धकारान्धपटावृतो जनो
विचित्रचित्रं न विलोकितुं क्षमः।
यथोक्ततत्त्वं जिननाथभाषितं
निसर्गमिथ्यात्वतिरस्कृतस्तथा॥ १३६॥

अर्थ—जिस प्रकार कि काले वस्त्र से ढका हुआ मनुष्य अंधेरे में रंग-बिरंगे भी चित्र को नहीं देख सकता उसी प्रकार जो जीव निसर्ग मिथ्यात्व के वशीभूत हैं, वे बार-बार उपदेश को देने पर भी जिनेंद्र प्रतिपादित तत्वों को नहीं समझ सकते हैं।

भावार्थ—अज्ञान के कारण जो सदुपदेशों द्वारा समझाने पर भी वास्तविक तत्वों का ज्ञान, श्रद्धा न होना है वह निसर्गमिथ्यात्व है॥ १३६॥

दयादमध्यानतपोव्रतादयो
गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो
रजोयुतालाबु गतं यथा पयः॥ १३७॥

अर्थ—जिस प्रकार कि मिट्टी से भरी हुई तूंबडी में जल कभी भी नहीं रहता है-सूख जाता है, उसी प्रकार परिपाक में कटुकफल देने वाले मिथ्यात्वरूपी रजोमल से जिन की आत्मायें मलिन होती हैं, उनकी आत्मा में दया, शांति, ध्यान, तप, व्रत आदि समस्त गुण प्रगट नहीं होते हैं।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि लोगों में दया, दांति, शांति, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, व्रत, उपवास, यम, नियम आदि सच्चे और श्रेष्ठ गुण कदापि नहीं हो सकते॥ १३७॥

अवैति तत्त्वं सदसत्त्वलक्षणं
विना विशेषं विपरीतलोचनः।
यदृच्छया मत्तवदस्तचेतनो
जनो जिनानां वचनात्पराङ्मुखः॥ १३८॥

अर्थ—जो लोग सर्वज्ञकथित मार्ग से पराङ्मुख हैं—भ्रष्ट हैं, वे मत्त पुरुष के समान विशेषज्ञान के विना वस्तु के सत्तात्मक, असत्तात्मक स्वरूप को यथार्थ रीति से नहीं जान सकते।

भावार्थ—जिस प्रकार लोक में मत्तपुरुष अपनी मत्तता से कभी माँ को बहिन, बहिन को माँ, भाई को बाप, बाप को भाई और कभी माँ को माँ, बहिन को बहिन, बाप को बाप और भाई को भाई कह देता है, परंतु वास्तव में क्या है, इस बात का निश्चय

नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह जीव भी मिथ्यात्व के नशे से पागल हुआ सत् को असत् और असत् को सत् समझता है, परंतु वास्तविक विशेषता को नहीं जानता है, इसलिये यह संसार में चिरकाल तक डोलता-फिरता है॥ १३८॥

त्रिलोककालत्रयसम्भवासुखं
सुदुःसहं यत्त्रिविधं विलोक्यते।
चराचराणां भवगर्तवर्तिनां
तदत्र मिथ्यात्ववशेन जायते॥ १३९॥

अर्थ—तीन लोक और तीन काल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) में होने वाले जितने भी मानसिक, वाचिक और शारीरिक असह्य दुःख हैं, वे सब संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को इसी मिथ्यात्व के कारण से होते हैं॥ १३९॥

वरं विषं भुक्तमसुक्षयक्षमं
वरं वनं श्वापदवन्निषेवितम्।
वरं कृतं वह्निशिखाप्रवेशनं
नरस्य मिथ्यात्वयुतं न जीवितम्॥ १४०॥

अर्थ—भोजन में प्राणों को नाश करने वाले विष को खा लेना अच्छा, श्वापद, सिंह आदि हिंसक जंतुओं से भरे हुए वन में निवास करना अच्छा और जलती हुई अग्नि में पड़कर प्राणों को दे देना भी अच्छा, परंतु मिथ्यात्व सहित इस संसार में जीना अच्छा नहीं, क्योंकि विष आदि से प्राणों के नष्ट हो जाने पर तो एक जन्म में ही थोड़ी देर के लिये दुःख उठाना पड़ता है और मिथ्यात्व से जन्म-जन्म में प्रतिक्षण तीव्र यातनाओं का सामना करना होता है॥ १४०॥

करोति दोषं न तमत्र केशरी
न दंदशूको न करी न भूमिपः।
अतीव रुष्टो न च शत्रुरुद्धतो
यमुग्रमिथ्यात्वरिपुः शरीरिणाम्॥ १४१॥

अर्थ—इस संसार में जीवों का जितना अहित मिथ्यात्वरूपी उग्र वैरी करता है उतना सिंह, साँप, हाथी, रुष्ट राजा, और उद्धत शत्रु आदि कोई भी नहीं कर सकते है॥ १४१॥

दधातु धर्मं दशधा तु पावनं
करोतु भिक्षाशनमस्तदूषणम्।

तनोतु योगं धृतचित्तविस्तरं
तथापि मिथ्यात्वयुतो न मुच्यते॥ १४२॥

अर्थ—यह जीव पवित्र दश प्रकार के क्षमा आदि धर्मों को भी पाले, निर्दोष भिक्षावृत्ति का भी आचरण करे और मन के वेग को रोक योगसाधन भी कर डाले, परंतु जब तक मिथ्यात्व को नहीं छोड़ेगा तब तक कदापि इसकी मुक्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—वास्तविक पदार्थों के श्रद्धा न किये विना कितना भी जप-तप किया जाय कभी भी वह अभीष्ट फल मोक्षदायक नहीं हो सकता, उससे सर्वथा संसार में ही डोलना पड़ता है॥ १४२॥

ददातु दानं बहुधा चतुर्विधं
करोतु पूजामति भक्तितोऽर्हताम्।
दधातु शीलं तनुतामभोजनं
तथापि मिथ्यात्ववशो न सिद्ध्यति॥ १४३॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव चाहे चारों प्रकार के दान देवे, चाहे जिनेंद्र भगवान् की भक्ति-भाव से पूजन करे, चाहे ब्रह्मचर्य को पाले, चाहे अनेक प्रकार के उपवास भी कर डाले, परन्तु कभी भी निराबाध सुख देने वाले सिद्ध पद को नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् मोक्ष सम्यग्दृष्टि ही को मिल सकती है, मिथ्यात्वी उसे नहीं प्राप्त कर सकता॥ १४३॥

अवैतु शास्त्राणि नरो विशेषतः
करोतु चित्राणि तपांसि भावतः।
अतत्त्वसंसक्तमनास्तथापि नो
विमुक्तिसौख्यं गतबाधमश्नुते॥ १४४॥

अर्थ—तथा यह मनुष्य पूर्णरूप से शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन करे, पवित्र भावों से नाना प्रकार के उग्र तपों का भी आराधन करे, परन्तु यदि निर्दोष तत्त्वों के विचार से विमुख है तो कदापि अव्याबाध मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं कर सकता॥ १४४॥

विचित्रवर्णाञ्चितचित्रमुत्तमं
यथा गताक्षो न जनो विलोकते।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते
कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम्॥ १४५॥

अर्थ—जिस प्रकार कि चक्षुरहित अंधा मनुष्य नाना रंगों के बने हुए उत्तम चित्र को नहीं देख सकता उसी प्रकार विवेक रहित मिथ्यात्व से अंधा हुआ यह जीव पुनः पुनः उपदिष्ट भी जिनेंद्र के सच्चे मार्ग को नही पहचान सकता॥ १४५॥

अभव्यजीवो वचनं पठन्नपि
जिनस्य मिथ्यात्वविषं न मुञ्चति।
यथा विषं रौद्रविषोऽतिपन्नगः
सशर्करं चारुपयः पिबन्नपि॥ १४६॥

अर्थ—जिस प्रकार भयंकर विषैला सर्प शक्कर मिले हुए भी मीठे दूध को पीकर कडुवे विष ही को उगलता है उसी प्रकार अभव्यजीव भी जिनेंद्र भगवान् के वचनों को पढ़ता हुआ भी मिथ्यात्वरूपी विष को ही उगलता है।

भावार्थ—जो जीव भव्य होते हैं वे तो काललब्धिको प्राप्त कर मिथ्यात्व छोड़ देते हैं और जो अभव्य होते हैं, वे सर्वदा वैसे के वैसे ही बने रहते हैं॥ १४६॥

भजन्ति नैकैकगुणं त्रयस्त्रयो
द्वयं द्वयं च त्रयमेककः परः।
इमेऽत्र सप्तापि भवन्ति दुर्दृशो
यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिवर्जिताः॥ १४७॥

अर्थ—पहले जिन सात मिथ्यादृष्टियों का वर्णन किया गया है, उनमें से तीन के तो एक गुण (सम्यग्दर्शन) नहीं होता, तीन के दो गुण (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र) नहीं होते और एक के तीनों गुण (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्र) नहीं होते॥ १४७॥

अनन्तकोपादिचतुष्टयोदये
त्रिभेदमिथ्यात्वमलोदये तथा।
दुरन्तमिथ्यात्वविषं शरीरिणा-
मनन्तसंसारकरं प्ररोहति॥ १४८॥

अर्थ—अनन्त क्रोध, अनंत मान, अनंत माया और अनंत लोभ इन चार अनंतानुबंधी कपायों के तथा मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व— इन तीन दर्शनमोहनीय कर्मों की प्रकृतियों के उदय से इस जीव के मिथ्यात्व होता है और उससे अनंत संसार में अचिंत्य दुःख भोगने पड़ते हैं।

भावार्थ—संसार में जितने प्राणी हैं उन सबके साथ शुभ-अशुभ कर्म लगे हुए हैं। उन कर्मों की प्रेरणा से ही ये संसारी जीव कभी मनुष्य होते हैं, कभी पशु (तिर्यग्)

बनते हैं, कभी नरक में जाकर अचिंत्य यातनायें भोगते हैं और कभी स्वर्ग में उत्पन्न हो इन्द्रियजन्य विषय-सुखों का अनुभव करते हैं। इस तरह जितने भी सुख-दुःख इस संसार में होते हैं वे कर्मों के कारण से ही होते हैं। उन कर्मों के जैन-सिद्धांत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अतराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इस प्रकार आठ भेद बतलाये हैं जिनके कि कारण इस जीव के अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख आदि अनन्तगुण ढके हुए रहते हैं। इसलिये ज्यों-ज्यों इन कर्मों का अभाव-नाश होता है त्यों-त्यों इसके वास्तविकगुण भी प्रकट होते चले जाते हैं। सम्यग्दर्शन, जिसका कि लक्षण 'सच्चे पदार्थों का निश्चय करना' बतलाया है वह भी आत्मा एक मुख गुण है और वह अनादि काल से कर्ममल से मलिन इस आत्मामें मोहनीय कर्म की अनन्त क्रोधादि सात प्रकृतियों के उदय के कारण छिप रहा है-अंतरंग में शक्ति की अपेक्षा होता हुआ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जिससे कि उस गुण के अभाव होने से वास्तविक तत्त्वों का श्रद्धा ज्ञान न होने रूप मिथ्यात्व ने इस आत्मा में अपना अधिकार जमा लिया है और उसी के कारण ये आत्मायें अपने सच्चे स्वरूप का वास्तविक ज्ञान न कर शरीर आदि भिन्न अचेतन पदार्थों को ही अपना सच्चा स्वरूप समझती हुई अनंत संसार में डोलती फिरती हैं और अनन्त क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से अपने को तथा दूसरों को दुःखित किया करती हैं॥ १४८॥

अलब्धदुग्धादिरसो रसावहं
तदुद्भवो निम्बरसं कृमिर्यथा।
अदृष्टजैनेन्द्रवचोरसायन-
स्तथाकुतत्त्वं मनुते रसायनम्॥ १४९॥

अर्थ—जिस प्रकार कि नीम के रस से उत्पन्न हुआ कीड़ा दूध आदि मीठे पदार्थों का रस न जानने के कारण नीम के कडुवे रस को ही मीठा समझता है, उसी प्रकार जिस जीव ने जिनेंद्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट वास्तविक तत्त्वरूपी रसायन को नहीं पीया है वह मिथ्या कुतत्त्वों को ही रसायन समझता है।

भावार्थ—जब तक यह जीव जिनेंद्र भगवान् के सच्चे तत्त्वों का पठन-पाठन नहीं करता और अन्य-अन्य शास्त्रों का ही अध्ययन-अध्यापन करता रहता है, तब तक ही उन मिथ्या शास्त्रों को श्रेष्ठ समझता है, पीछे नहीं॥ १४९॥

ददाति दुःखं बहुधातिदुःसहं
तनोति पापोपचयोन्मुखां मतिम्।
यथार्थबुद्धिं विधुनोति पावनीं
करोति मिथ्यात्वविषं न किं नृणाम्॥ १५०॥

अर्थ—यह मिथ्यात्वरूपी विष इस जीव को अति दुःसह दुःख देता है, पाप कमाने की ओर बुद्धि को ऋजु करता है, यथार्थ—श्रेष्ठ बुद्धि को नष्ट कर देता है और कहां तक कहें जो-जो दुःख हैं वे सब ही इसी मिथ्यात्व के कारण से होते हैं॥ १५०॥

अनेकधेति प्रगुणेन चेतसा
विविच्य मिथ्यात्वमलं सदूषणम्।
विमुच्य जैनेन्द्रमतं सुखावहं
भजन्ति भव्या भवदुःखभीरवः॥ १५१॥

अर्थ—इसलिये जो लोग इस संसार में भव्य हैं-जिनको कि सम्यग्दर्शन व्यक्त होने वाला है और जो कि संसार में जन्म-मरण धारण करने से डरते हैं, वे लोग पूर्व में बतलाये गये, नाना दोषों से दूषित सब प्रकार के मिथ्यात्व को छोड़कर अनंत सुख देने वाले जैनेंद्र (जैन) मत को ग्रहण करते हैं॥ १५१॥

अब मिथ्यात्व का लक्षण और कारण बतलाकर सम्यग्दर्शन के कारण आदि का वर्णन करते हैं-

विमुक्तशंकादिसमस्तदूषणं
विमुक्ततत्त्वाप्रतिपत्तिमुज्ज्वलम्।
वदन्ति सम्यक्त्वमनन्तदर्शना
जिनेशिनो नाकिनुताङ्घ्रिपङ्कजाः॥ १५२॥

अर्थ—देवों से वंदित अनंतदर्शन के धारक, जिनेंद्र भगवान् शंकादि दोषों से रहित जीव, अजीव, आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और संस्तव ये सम्यग्दर्शन के मुख्य पांच अतीचार (दोष) हैं, इसलिए इन पाँचों अतीचारों से रहित हो जिनेंद्र-प्रतिपादित जीवादि तत्त्वों में जो श्रद्धान करना है वही सम्यग्दर्शन है॥ १५२॥

परोपदेशेन शशांकनिर्मलं
नरो निसर्गेण तदा तदश्नुते।
क्षयं शमं मिश्रमुपागते मले
यथार्थतत्त्वैकरुचेर्निषेधके॥ १५३॥

अर्थ—जिस समय इस जीव के यथार्थ तत्त्वों के श्रद्धान को रोकने वाले कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम हो जाता है उस समय या तो पर (सद्गुरु आदि) के

उपदेश से या निसर्ग (पूर्वजन्म का संस्कार) से इसके सम्यग्दर्शन (यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान) प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हर एक पदार्थ के उत्पन्न होने में दो कारण होते हैं—अंतरंग (उपादान) और दूसरा बाह्य। इसी नियम के अनुसार सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने में भी अंतरंग और बाह्य दो कारण हैं। जिसमें अंतरंग कारण तो आत्मा के अनंतदर्शनद गुण को ढकने वाले कर्म का उपशम, क्षय, वा क्षयोपशम है (जिस प्रकार मल से मलिन जल में फिटकिरी आदि डाल देने से उसका मैलापन तो नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल दीख पड़ने लगता है उसी प्रकार अनादिकाल से कर्म मल द्वारा मलिन इस आत्मा में उपदेशादि के कारण जो दर्शन गुण को ढकने वाले कर्म का उदय में न आना है कुछ काल के लिये उस कर्म के फल का आत्मा को न मिलना है वह उपशम है, उस कर्म का सर्वथा नाश हो जाना क्षय है और उपशम तथा क्षय दोनों होना क्षयोपशम है) और बाह्यकारण परोपदेश, जिनबिंब दर्शन, पूर्वजन्म संस्कार पूर्वजन्म स्मरण आदि है। बस! इन्हीं दोनों अंतरंग और बाह्य कारणों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे कि क्षय से उत्पन्न होने वाला तत्त्वश्रद्धान क्षायिक, उपशम से होने वाला औपशमिक, क्षय और उपशम दोनों से होने वाला क्षायोपशमिक, परोपदेश आदि से वर्तमान भव में होने वाला अधिगमज और पूर्वजन्म के संस्कार से स्वयं होने वाला निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। १५३॥

सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रसम्पदः
सुखेन सर्वा लभते भ्रमन् भवे।
अशेषदुःखक्षयकारणं परं
न दर्शनं पावनमश्नुते जनः॥ १५४॥

अर्थ—इस परिवर्तनरूप संसार में सर्वदा भ्रमण करते हुए इस जीव को इंद्रों की संपत्तियां, नरेंद्र और धरणीन्द्रों की विभूतियां भी सुख पूर्वक मिल सकती हैं, परंतु समस्त सांसारिक दुःखों का नाश करने वाला पवित्र-निर्दोष सम्यग्दर्शन नही मिल सकता अर्थात् सांसारिक सुखों को पाना तो बहुत ही सरल है, परंतु पारमार्थिक सुख स्वरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है॥ १५४॥

जनस्य यस्यास्ति विनिर्मलारुचि-
र्जिनेन्द्रचन्द्रप्रतिपादिते मते।
अनेकधर्मान्वितततत्त्वसूचके
किमस्ति नो तस्य समस्तविष्टपे॥ १५५॥

अर्थ—जो जीव सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित, अनेक धर्मात्मक जीवाजीवादि

तत्त्वों में निर्दोष बुद्धि-श्रद्धा रखते हैं, उन लोंगों के लिये इस लोक में कोई भी पदार्थ दुष्प्राप्य नहीं है-समस्त सांसारिक सुख उनके हाथ के खिलौने हैं॥ १५५॥

विधाय यो जैनमतस्य रोचनं
मुहूर्तमप्येकमथो विमुञ्चति।
अनन्तकालं भवदुःखसंगतिं
न सोऽपि जीवो लभते कथञ्चन॥ १५६॥

अर्थ—जो प्राणी जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में एकक्षण भर भी श्रद्धान कर लेते हैं वे लोग भी अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण करने की परिपाटी को तोड़ डालते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम अंत मुहूर्त की है अर्थात् कोई-कोई जीव मुहूर्त के भीतर ही सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि-जिसने एक बार सम्यग्दर्शन धारण कर लिया है चाहे वह बहुत थोड़े ही समय के लिये किया गया हो तो भी वह पुरुष संसार में अनन्त काल तक नहीं घूमता कुछ समय के बाद अवश्य उस को मोक्ष प्राप्त हो जाता है॥ १५६॥

यथार्थतत्त्वं कथितं जिनेश्वरैः
सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो
न भव्यजीवो वितनेति दुर्मतिम्॥ १५७॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित समस्त प्राणियों के लिये वास्तविक सुख को देने वाले यथार्थ तत्त्वों का जो भव्य जीव पूर्ण विश्वास रखता है, वह कभी भी दुर्मति को नहीं करता अर्थात् सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वह जीव खोटे-खोटे मार्गों में न चलकर सुमार्ग पर चलता है॥ १५७॥

विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये
यतौ निरस्ताखिलसंगसंगतौ।
वृषे च हिंसारहिते महाफले
करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः॥ १५८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव रागद्वेषादि सहित देवों में देवत्व, परिग्रह आरम्भ आदि सहित मनुष्यों में गुरुत्व, और हिंसादि कर्मों में धर्मत्व, बुद्धि न कर—उन्हें देव गुरु और धर्म न समझकर रागद्वेष से रहित समस्त पदार्थों के ज्ञाता को देव, सर्व प्रकार के परिग्रह और आरंभ को त्यागने वाले (दिगम्बर) मुनियों को गुरु और हिंसा आदि पापों से रहित

कर्मों को धर्म मानते हैं, जिससे कि वे उन्हीं की सेवा शुश्रूषा करते हैं, अन्य की नहीं॥ १५८॥

भवाङ्गभोगेष्वपि भङ्गुरात्मना
जयत्सु नारीजनचित्तसंततिम्।
भवार्णवभ्रान्तिविधानहेतुषु
विरागभावं विदधाति सद्रुचिः॥ १५९॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियों के मनोभावों के समान चंचल क्षण विनाशक सांसारिक इंद्रिय भोगों को भी बुरा समझते हैं और उन्हें संसार-समुद्र में डुबाने वाले समझ सर्वदा त्यागते ही रहते हैं। अर्थात् इंद्रिय भोगों को उपादेय समझ उनमें कभी लिप्त नहीं होते॥ १५९॥

कलत्रपुत्रादिनिमित्ततः क्वचिद्-
विनिन्द्यरूपे विहितेऽपि कर्मणि।
इदं कृतं कर्म विनिन्दितं सतां
मयेति भव्यश्चकितो विनिन्दति॥ १६०॥

गलन्ति दोषाः कथिताः कथञ्चन
प्रतप्तलोहे पतितं यथा पयः।
नयेषु तेषां व्रतिनां स्वदूषणं
निवेदयत्यात्महितोद्यतो जनः॥ १६१॥

अर्थ—यदि कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीव से स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन, मा, बाप, आदि कुटुम्बियों के निमित्त से कोई बुरा काम भी बन जाता है तो वह अपने को बार-बार धिक्कारता है और उस काम करने की निंदा करता है एवं केवल निंदा ही नही किंतु ''जिस प्रकार गरम लोहे पर गिरी हुई जल की बूंदें क्षण भर में नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार गुरुजनों के समक्ष विनयपूर्वक कहे गये समस्त दोष भी नष्ट हो जाते हैं'' यह समझकर वह अपने कुकार्यों को गुरुजनों के सामने निवेदन भी कर देता है॥ १६०-१६१॥

निमित्ततो भूतमनर्थकारणं
न यस्य कोपादिचतुष्टयं स्थितिम्।
करोति रेखा पयसीव मानसे
स शांतभावोऽस्ति विशुद्धदर्शनः॥ १६२॥

अर्थ—महा अनर्थ को करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ जिसके किसी

कारण से उत्पन्न तो हो गये हों परंतु जिस प्रकार जल में रेखा चिर काल तक स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार उसके चित्त में बहुत देर तक स्थिर न रहें वह शांत स्वभावी सम्यग्दृष्टि कहा जाता है॥ १६२॥

विशुद्धभावेन विधूतदूषणं
करोति भक्तिं गुरुपञ्चके श्रुते।
श्रुतान्विते जैनगृहे जिनाकृतौ
जिनेशतत्त्वैकरुचिः शरीरवान्॥ १६३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव अर्हत (सर्वज्ञ, हितोपदेष्टा) सिद्ध (मुक्तजीव) आचार्य (परिग्रहारंभ रहित मुनिसंघ के नायक) उपाध्याय (परिग्रहारंभ रहित मुनियों को पढ़ाने वाले) और साधुओं (परिग्रहारंभ रहित मुनि) की एवं सर्वज्ञोपदिष्ट शास्त्रों, जिन मंदिरों और जिन मुनियों की विशुद्ध भाव से निर्दोष पूजा, भक्ति करते हैं अन्य अल्पज्ञ, पाखंडियों की नहीं॥ १६३॥

चतुर्विधे धर्मिजने जिनाश्रिते
निरस्तमिथ्यात्वमलेऽतिपावने।
करोति वात्सल्यमनर्थनाशनं
सुदर्शनो गौरिव तर्णके नवे॥ १६४॥

अर्थ—जिस प्रकार गाय अपने नये बच्चे से प्रेम करती है और उसका कदापि वियोग नहीं चाहती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने समान सच्चे तत्त्वों पर श्रद्धा करने वाले श्रावक, श्राविका, मुनि और आर्यिकाओं के संघ में निर्दोष वात्सल्य प्रेम करता है और उस संघ का कदापि वियोग नहीं चाहता। सर्वदा उन की संगति में ही रहना चाहता है॥ १६४॥

दुरन्तरोगोपहतेषु संततं
पुरार्जितैनोवशतः शरीरिषु।
करोति सर्वेषु विशुद्धदर्शनो
दयां परामस्तसमस्तदूषणः॥ १६५॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पहले उपार्जन किये गये अपने दुष्कर्मों के कारण नाना प्रकार के रोगों आक्रांत हुए समस्त संसारी जीवों में दया भाव धारण करता है और उनसे किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं चाहता॥ १६५॥

विशुद्धमेवं गुणमस्ति दर्शनं
जनस्य यस्येह विमुक्तिकारणम्।

व्रतं विनाप्युत्तमसंचितं सतां
च तीर्थकृत्त्वं लभतेऽतिपावनम्॥ १६६॥

अर्थ—उपर्युक्त गुणों से सहित मुक्ति का कारण भूत निर्दोष सम्यग्दर्शन इस संसार में जिस जीव के हैं, वह विना व्रत उपवास किये ही सबसे उत्कृष्ट तीर्थंकर पदवी को पा लेता है।

भावार्थ—इस संसार में जितनी भी विभूतियां हैं क्या इन्द्र की, क्या धरणीन्द्र की और क्या चक्रवर्ती की? उन सब में तीर्थंकर की विभूति ही सबसे बढ़ी-चढ़ी होती है, इसलिये तीर्थंकर की पदवी को पाना बड़े ही उत्कृष्ट तप का फल है, परन्तु जो जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है, उसे वह भी बिना व्रतादि के ही मिल जाती है, उसके लिये भी कोई यत्न नहीं करना पड़ता, फिर अन्य विभूतियों की तो कोई बात ही क्या है-वे तो स्वयं उसे मिल ही जायेंगी॥ १६६॥

दमो दया ध्यानमहिंसनं तपो
जितेन्द्रियत्वं विनयो नयस्तथा।
ददाति नैतत्फलमङ्गधारिणां
यदत्र सम्यक्त्वमनिन्दितं धृतम्॥ १६७॥

अर्थ—संसार में क्षमा, दया, ध्यान, अहिंसा, तप, जितेंद्रियता, विनय और नय-नीति से कोई भी उतना शुभ फल नहीं देते जितना कि शुभ फल शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राणियों को देता है।

भावार्थ—क्षमा आदि को धारण करने से तो साक्षात् स्वर्गादिक, सांसारिक अनित्य सुखों की ही प्राप्ति होती है और शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण करने से पारमार्थिक, अविनाशी मोक्षसुख मिलता है, इसलिये ये समस्त गुण भी उस शुद्ध सम्यग्दर्शन की बराबरी नहीं कर सकते॥ १६७॥

वरं निवासो नरकेऽपि देहिनां
विशुद्धसम्यक्त्वविभूषितात्मनाम्।
दुरन्तमिथ्यात्वविषोपभोगिनां
न देवलोके वसतिर्विराजते॥ १६८॥

अर्थ—जो कि विशुद्ध सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं—वास्तविक तत्त्वों की श्रद्धा करने वाले हैं वे लोग यदि नरक में भी रहें तो भी अच्छे हैं—क्योंकि अनंत असह्य दुःखों के खजाने रूप नरक में भी उन्हें आत्मरस का आस्वादन होने से सुख ही होता है और उससे विरुद्ध, परिपाक में महान् दुःख देने वाले मिथ्यात्व से सहित जीवों का स्वर्ग में

निवास करना भी अच्छा नहीं—क्योंकि यद्यपि वर्तमान में उन्हें पूर्वोपार्जित पुण्य से ऐन्द्रिय सुख मिल रहा है तथापि कुछ काल के बाद वह विनष्ट हो जाएगा और तब अवश्य ही दुःख भोगना पड़ेगा॥ १६८॥

अधस्तनश्चभ्रभुवो न याति षट्
न सर्वनारीषु न संज्ञितोऽन्यः।
न जायते व्यन्तरदेवजातिषु
न भावनज्योतिषिकेषु सद्रुचिः॥ १६९॥

अर्थ—जो कि शुद्ध सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं-निर्दोष सम्यग्दृष्टि हैं, वे जीव मरकर—मनुष्य या तिर्यच आदि पर्यायों के पूर्ण हो जाने पर न तो प्रथम के सिवा छह नरकों में जाते हैं, न असंज्ञी होते हैं, न स्त्री-पर्याय धारण करते हैं और न व्यंतर, भवनवासी तथा ज्योतिषी देवों में ही जा उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—संसार में जीवों की स्थूल रीति से चार पर्यायें होती हैं। एक मनुष्य, दूसरी तिर्यक्, तीसरी नार की और चौथी देव। और उत्तरोत्तर उनके अनेक भेद हैं। जिसमें कि भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी (विमानों में रहने वाले) भेदों से देव पर्याय चार प्रकार की है। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर इन समस्त पर्यायों में से छह भूमियों का नार की, असैनी, स्त्री, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन पर्यायों को नहीं धारण करता है। परन्तु जीवित अवस्था में तो धारण कर सकता है अर्थात् नार की, आदि जीव उसी पर्याय में जिसमें कि वर्तमान हैं काललब्धि आदि कारणों के प्राप्त हो जाने से तो मिथ्यात्व छोड़ सम्यक्त्व धारण कर सकते हैं- सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं परंतु सम्यग्दृष्टि, जिसने कि मरण के पहले से ही सम्यक्त्व धारण कर रक्खा है वह कभी भी उपर्युक्त पर्यायों को नहीं धारण कर सकता है। वह मरकर जब उत्पन्न होगा, तब कल्पवासी देवों में या प्रथम नरक में सा संज्ञी तिर्यचों में या उत्तम मनुष्यों में ही उत्पन्न होगा अन्यत्र नहीं॥ १६९॥

न बान्धवा नो सुहृदो न बल्लभा
न देहजा नो धनधान्यसञ्चयः।
तथा हिताः सन्ति शरीरिणां जने
यथात्र सम्यक्त्वमदूषितं हितम्॥ १७०॥

अर्थ—अनाद्यनंत संसार में इस जीव का जितना कि हित शुद्ध सम्यग्दर्शन करता है उतना कोई भी नहीं करता। न तो बंधु लोग ही करते हैं और न मित्रगण, प्रेमीजन, पुत्रादिक तथा धन-धान्य आदि संपत्तियाँ ही करती हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सांसारिक समस्त भोगोपभोग की सामग्रियों से तथा इष्ट मित्रादि से भी अधिक हितकर-सुखदायी है॥ १७०॥

तनोति धर्मं, विधुनोति पातकं,
ददाति सौख्यं, विधुनोति बाधकम्।
चिनोति मुक्तिं, विनिहन्ति संसृतिं,
जनस्य सम्यक्त्वमनिन्दितं धृतम्॥ १७१॥

अर्थ—इस शुद्ध सम्यग्दर्शन की कहां तक प्रशंसा की जाय। इस की महिमा अपरंपार है, क्योंकि पहले तो यह पापों को सर्वथा नष्ट कर धर्म को बढ़ाता है, जिससे कि संसार में निराबाध-निर्विघ्न सुख की प्राप्ति होती है और फिर पारमार्थिक अनंत अविनाशी मोक्ष सुख को दे देता है, जिससे कि परिभ्रमण रूप संसार से सर्वथा मुक्त हो यह जीव स्वतंत्र हो जाता है॥ १७१॥

मनोहरं सौख्यकरं शरीरिणां
तदस्ति लोके सकले न किञ्चन।
यदत्र सम्यक्त्वधनस्य दुर्लभ-
मितिप्रचिन्त्यात्र भवन्तु तत्पराः॥ १७२॥

अर्थ—तीनों लोक में ऐसा कोई भी नहीं है जो सम्यग्दर्शन रूपी धन के प्रभाव से न प्राप्त हो सकता हो, इसलिये जो लोग सुखी होना चाहते हैं, उन्हें वह सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिये।

भावार्थ—समस्त सुखों को शुद्ध सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप सोच-समझ कर भव्य जीवों को चाहिये वे उसे धारण करने का उपाय करें, वास्तविक तत्त्वों का निश्चयकर हिताहित के विचार की ओर लगें, जिससे कि वे सर्वथा अहित का त्याग करने में समर्थ हो जायें और फिर जो कुछ भी चाहेंगे—इच्छा करेंगे वे सब ही अभीष्ट इसकी कृपा से उनके सिद्ध होते रहेंगे, क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये जो कि मोक्ष सुख तक दे देता है इस संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है॥ १७॥।

विहाय दैवीं गतिमर्चितां सतां
व्रजन्ति नान्यत्र विशुद्धदर्शनाः।
ततश्च्युताश्चक्रधरादिमानवा
भवन्ति भव्या भवभीरवो भुविः॥ १७३॥

अर्थ—सांसारिक दुःखों से भयभीत शुद्ध सम्यग्दृष्टि मरकर सम्माननीय (कल्पवासी या कल्पातीत) देव की होते हैं अन्य नहीं और वहां से निकलकर इस

मध्यलोक में भी चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्य ही होते हैं जिससे कि नाना ऐन्द्रिय सुखों का भोग भोगते हैं।

भावार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शन को पालने का फल जो १६९ वें श्लोक में बतलाया गया है, वह तो गतिबध बांधने के बाद समयग्दर्शन धारण करने का है और यहां गतिबंध से पहले सम्यग्दर्शन धारण करने का है॥ १७३॥

अब सम्यग्दर्शन के गुण बतलाकर शंकादि दोषों का—जिनसे कि सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है और यथार्थ कार्यकारी नहीं होता, वर्णन करते हैं—

प्रमाणसिद्धाः कथिता जिनेशिना
व्ययोद्भवध्रौव्ययुता विमोहिना।
समस्तभावा वितथा न वेति यः
करोति शंकां स निहन्ति दर्शनम्॥ १७४॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष युक्ति आदि प्रमाणों से सिद्ध, व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य वाले जीवाजीवादि सर्वज्ञ कथित समस्त तत्त्वों को सत्य नहीं समझता और इस बात की शंका करता है कि 'क्या मालूम' ये ही तत्त्व हैं या इनसे कुछ कम बढ़ती हैं, वह पुरुष अपने शुद्ध सम्यग्दर्शन का नाश करता है, उसमें धब्बा लगाता है॥ १७४॥

सुरासुराणामथ चक्रधारिणां
निरीक्ष्य लक्ष्मीममलां मनोहराम्।
अनेन शीलेन भवेन्ममेति य-
स्तनोतिकाङ्क्षां स धुनोति सद्रुचिम्॥ १७५॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध सम्यग्दर्शन धारक हो सुर, असुर और चक्रवर्ती आदि की विशाल विभूतियों को देखकर यह विचारता है—इस बात की मन में इच्छा करता है कि ये मेरे भी हों-ऐसी संपत्ति वाला मैं भी हो जाऊँ वह अपने सम्यग्दर्शन में मलिनता पैदा करता है॥ १७५॥

मलेन दिग्धानवलोक्य संयतान्-
प्रपीडितान्वा तपसा महीयसा।
नरश्चिकित्सां विदधाति यः परां
निहन्ति सम्यक्त्वमसावचेतनः॥ १७६॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन के धारक हैं, उन्हें चाहिये कि वे स्नानादि आरंभ को करने वाले, श्रेष्ठ तप से संयुक्त अन्तरगर्भ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से

देदीप्यमान तपस्वियों के मल से मलिन या रोगादि से पीड़ित शरीर में घृणा न करें और जो ऐसा करते हैं, वे मूर्ख पुरुष अपने सम्यग्दर्शन को कलंक लगाते हैं॥ १७६॥

विलोक्य रौद्रव्रतिनोऽन्यलिङ्गिनः
प्रकुर्वतः कन्दफलाशनादिकम्।
इमेऽपि कर्मक्षयकारकव्रता
विचिन्वतेति प्रतिहन्यते रुचिः॥ १७७॥

अर्थ—पंचाग्नितप तपने वाले, जंगल में रह कंदमूल फल खाकर पेट भरने वाले, चिलम, तमाखू, सुलफा, भांग आदि मादक चीजें पीने वाले आदि पाखण्डियों को देखकर जो सम्यग्दृष्टि यह मानता है कि ये भी अपने कर्मों का क्षय कर रहे हैं- इनके व्रतों से भी कर्मों का नाश होता है वह अपने सम्यग्दर्शन को दूषित करता है॥ १७७॥

कुदर्शनज्ञानचरित्रचिद्रजान्
निरस्ततत्त्वार्थरुचीनसंयतान्।
निषेवमाणो मनसापि मानवो
लुनाति सम्यक्त्वतरुं महाफलम्॥ १७८॥

अर्थ—जो लोग कुदर्शन, कुज्ञान, कुचरित्र रूप मल से मलिन आत्मा वाले मिथ्या तत्त्व श्रद्धानियों की मन, वचन, काय से या मन, वचन, काया में से किसी एक से भी सेवा शूश्रूषा करते हैं, वे महाफल को प्राप्त कराने वाले सम्यग्दर्शन रूपी वृक्ष को काटते हैं—वे सम्यक्त्व को दूषित करते हैं॥ १७८॥

जिनेन्द्रचन्द्रामलभक्तिभाविना
निरस्तमिथ्यात्वमलेन देहिना।
प्रधार्यते येन विशुद्धदर्शन-
मवाप्यतेतेन विमुक्तिकामिनी॥ १७९॥

अर्थ—जो लोग उपर्युक्त पांचों दोषों से रहित सम्यग्दर्शन धारण करने वाले होते हैं और साथ ही जिनेंद्र भगवान् के चरणों में अचल भक्ति भी रखते हैं, वे लोग शीघ्र ही मुक्ति (संसार से सर्वथा छूट जाना) रूपी कामिनी को पा लेते हैं॥ १७९॥

॥ ८ ॥

सम्यग्ज्ञान का निरूपण

अनेकपर्यायगुणैरुपेतं
विलोक्यते येन समस्ततत्त्वम्।
तदिन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्नं
ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय॥ १८०॥

अर्थ—जिसके द्वारा अनेक पर्याय (परिणमन) और गुणों से सहित समस्त जीवाजीवादि पदार्थ जाने जायें उसे ज्ञान कहते हैं और वह इन्द्रियज (परोक्ष) अनिंद्रयज (आत्माजन्य-प्रत्यक्ष) के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ—'ज्ञायतेऽनेन जीवाजीवादि तत्त्वं तत् ज्ञानम्' इस व्युत्पत्ति से जिससे पदार्थ जाने जायें उसे 'ज्ञान' कहते हैं और वह ज्ञान जीवों को इन्द्रियों की सहायता से अथवा उनके बिना ही सहायता के केवल आत्मा से होता है, इसलिये जो ज्ञान अक्ष-आत्मा से भिन्न इन्द्रियों की सहायता से हो उसे तो इन्द्रियज अथवा परोक्ष कहते हैं और जो केवल अक्ष आत्मा की सहायता मात्र से ही होता है वह प्रत्यक्ष-अनिन्द्रियज कहलाता है॥ १८०॥

रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो
विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्।
रुणद्धि पापं, कुरुते विशुद्धिं,
ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः॥ १८१॥

अर्थ—जिसकी कि सहायता से यह जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूप रत्नत्रय की रक्षा करता है, क्षण स्थायी शारीरिक सुख से विरक्त हो जाता है, पापों के आस्रव को रोकता है, धर्म करता है वह ज्ञान है और ऐसा ही ज्ञान सर्वज्ञ द्वारा श्रेष्ठ माना गया है॥ १८१॥

क्रोधं धुनीते, विदधाति शान्तिं,
तनोति मैत्रीं, विहिनस्ति मोहम्।
पुनाति चित्तं, मदनं लुनीते,
येनेह बोधं तमुशंति सन्तः॥ १८२॥

अर्थ—जिसके कारण क्रोध का नाश हो जाय, शांति का साम्राज्य छाजाये, समस्त प्राणियों से शत्रुता न होकर मित्रता हो जाये, मोह का नाश हो, चित्त में अपवित्रता छोड़ पवित्रता आ विराजे, और कामदेव का प्रभाव घट जाये—मनवचन-काय में किसी प्रकार के विकृत भावों का उदय न हो, वह ज्ञान है, ऐसे ही ज्ञान को सज्जन लोग वास्तव में ज्ञान नाम से पुकारते हैं, अन्य को नहीं॥ १८२॥

ज्ञानेन बोधं कुरुते परेषां,
कीर्तिस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरी।
ततोऽनुरागः सकलेऽपि लोके
ततः फलं तस्य मनोऽनुकूलम्॥ १८३॥

अर्थ—मनुष्य ज्ञान से दूसरों को चेता सकता है कुमार्ग पर जाते हुओं को सुमार्ग पर लगा सकता है। दूसरों को सुमार्ग पर लगाने से उसकी चंद्रमा की किरणों के समान शुभ्र कीर्ति दशों दिशाओं में फैल सकती है, निर्मल कीर्ति के फैलने से लोगों का अनुराग-भाजन (प्रेमपात्र) हो सकता है और लोकानुराग होने से उसको अभीष्ट की शीघ्र ही सिद्धि भी हो सकती है॥ १८३॥

ज्ञानाद्धितं वेत्ति ततः प्रवृत्ती
रत्नत्रये संचितकर्ममोक्षः।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चै-
स्तेनात्र यत्नं विदधाति दक्षः॥ १८४॥

अर्थ—ज्ञान से यह जीव हित-अहित जानता है, हित-अहित को जानने से हित रूप रत्नत्रय में प्रवृत्ति होती है, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र) में प्रवृत्ति होने से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है और कर्मों का क्षय होने से निराबाध नित्य मोक्ष सुख मिलता है, इसलिये जो चतुर मनुष्य होते हैं, वे अवश्य ही ज्ञान का उपार्जन करते हैं॥ १८४॥

यदज्ञजीवो विधुनोति कर्म
तपोभिरुग्रैर्भवकोटिलक्षैः।
ज्ञानी तु चैकक्षणतो हिनस्ति
तदत्र कर्मेति जिना वदन्ति॥ १८५॥

अर्थ—जिन पूर्व संचित कर्मों को एक अज्ञानी जीव लाखों और करोड़ों जन्मों में उग्र तप तपकर खपाता है उन्हीं कर्मों को यह ज्ञानी जीव अपने ज्ञान के बल से एक क्षण में ही नष्ट कर डालता है॥ १८५॥

चौरादिदायादतनूजभूपै-
रहार्यमर्च्यं सकलेऽपि लोके।
धनं परेषां नयनैरदृश्यं
ज्ञानं नरा धन्यतमां वहन्ति॥ १८६॥

अर्थ—यह ज्ञानरूपी धन ऐसा विलक्षण पदार्थ है कि जिसको चोर तो चुरा नहीं सकते, दाबेदार भाई-बंधु बांट नहीं सकते, मरने के बाद पुत्रादि ले नहीं सकते, राजा अधिकृत कर नहीं सकता और दूसरे लोग आंखों से देख नहीं सकते परंतु यह जिनके पास होता है, वे लोग धन्य समझे जाते है॥ १८६॥

विनश्वरं पापसमृद्धिदक्षं
विपाकदुःखं बुधनिन्दनीयम्।
तदन्यथाभूतगुणेन तुल्यं
ज्ञानेन राज्यं न कदाचिदस्ति॥ १८७॥

अर्थ—यदि ज्ञान को राज्य की उपमा दी जाय तो यह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि राज्य विनश्वर है—एक न एक दिन नष्ट हो जाने वाला है और ज्ञान अविनश्वर-चिरस्थायी है, राज्य से पाप की वृद्धि होती है और इससे पाप का ह्रास तथा नाश होता है, राज्य परिपाक-अंत में दुःखदायी है और यह सर्वदा सुख ही सुख देने वाला है, राज्य की संसार से विरक्त-विद्वान् लोग वास्तव में निंदा करते हैं और इसकी सब लोग प्रशंसा ही करते हैं, इसलिये जो लोग राज्य से सर्वथा विरुद्ध गुण वाले ज्ञान की राज्य के साथ तुलना करते हैं, वे भूलते हैं-राज्य और ज्ञान कदापि बराबर नहीं हो सकते॥ १८७॥

पूज्यं स्वदेशे भवतीह राज्यं
ज्ञानं त्रिलोकेऽपि सदार्चनीयम्।
ज्ञानं विवेकाय, मदाय राज्यं,
ततो न ते तुल्यगुणे भवेताम्॥ १८८॥

अर्थ—ज्ञान जिसके पास है वह पुरुष तो तीनों लोकों में पूजा जाता है उसकी तो सब ही राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणीन्द्र, प्रभृति पूजा करते हैं परन्तु राज्य जिसके पास है, जो कि राजा है उसकी उस देश वाले ही जिसका वह राजा है पूजा करते हैं अन्य उसे कोई भी राजा नहीं मानते। और भी ज्ञान-विवेक (हित का ग्रहण और अहित का त्याग करने) के लिये होता है परन्तु राज्य-पद (हित का त्याग और अहित का ग्रहण) कराता है इसलिये भी राज्य की बराबरी नहीं कर सकता॥ १८८॥

तमो धुनीते, कुरुते प्रकाशं,
शमं विधत्ते, विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मं, विधुनोति पापं,
ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम्॥ १८९॥

अर्थ—ज्ञान के बल से अज्ञान रूपी अंधकार का नाश हो अंतरंग में एक विलक्षण ही रीति का स्वानुभूत प्रकाश छा जाता है, शांति का साम्राज्य हो जाने से क्रोध का नाम-निशान तक नहीं रहता, और धर्म की वृद्धि के साथ-साथ पापों का भी नाश होता चला जाता है, इसलिये ज्ञान जीव का सब प्रकार से कल्याण करता है॥ १८९॥

यथा यथा ज्ञानबलेन जीवो
जानाति तत्त्वं जिननाथदृष्टम्।
तथा तथा धर्ममतिः प्रशस्ता
प्रजायते पापविनाशशक्ता॥ १९०॥

अर्थ—ज्यों-ज्यों यह जीव अधिक-अधिक ज्ञानी हो, सर्वज्ञप्रतिपादित तत्त्वों का मनन करता चला जाता है-वास्तविक पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान करता चलता है, त्यों त्यों इस (ज्ञानी) की बुद्धि प्रशस्त हो धर्म-कार्य में अग्रसर होती जाती है और पाप के विनाश में उद्यत होने लगती है॥ १९०॥

आस्तां महाबोधबलेन साध्यो
मोक्षो विवाधामलसौख्ययुक्तः।
धर्मार्थकामा अपि नो भवन्ति
ज्ञानं विना तेन तदर्चनीयम्॥ १९१॥

अर्थ—अच्छा! महाज्ञान के उपार्जन करने से सिद्ध होने वाले, निराबाध नित्य मोक्ष सुख की बात जाने दो, क्योंकि एक तो वह अनिंद्रिय है, उसे तुम यह कहकर टाल सकते हो कि हमारी इन्द्रियों के अगोचर है, उसे हम देख नहीं सकते इसलिये वह कुछ नहीं है उसके लिये ज्ञान का आराधन करना व्यर्थ है और दूसरे यदि वह है भी तो बड़े भारी ज्ञान के (केवलज्ञान) से मिल सकता है थोड़े से नहीं, जिससे कि उतने ज्ञान का उपार्जन करना बहुत ही कठिन है, परंतु देखो उस ज्ञान के विना तुम्हारे इन्द्रियगोचर धर्म, अर्थ, काम भी तो नहीं हो सकते-उन्हें भी तो तुम नहीं कर सकते जो कि तुम्हारे प्रतिदिन के कर्तव्य हैं इसलिये ज्ञान सम्माननीय है-उपार्जन करने योग्य है॥ १९१॥

सर्वेऽपि लोके विधयो हितार्था
ज्ञानादृते नैव भवन्ति जन्तोः।

अनात्मनीयं परिहर्तुकामा-
स्तदर्थिनो ज्ञानमतः श्रयन्ति॥ १९२॥

अर्थ—संसार में जितने भी कार्य हैं-जो कुछ भी व्यवहार हैं वे कोई भी बिना ज्ञान के ठीक-ठीक हितकर नहीं होते, ज्ञानी पुरुष जितना कि योग्य और हितोत्पादक रीति से उन्हें सम्पादन कर सकता है, उतना अज्ञानी नहीं। इसलिये जो लोग अपना हित चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अहित से सर्वथा से दूर रहकर हितकारी ज्ञान का ही आश्रय लें ज्ञान के उपार्जन करने में अवश्य दत्तचित्त हों॥ १९२॥

शक्यो विजेतुं न मनःकरीन्द्रो
गन्तुं प्रवृत्तः प्रविहाय मार्गम्।
ज्ञानाङ्कुशेनात्र विना मनुष्यै-
र्विनाङ्कुशं मत्तमहाकरीव॥ १९३॥

अर्थ—जिस प्रकार मत्त हाथी विना अंकुश के वश में नहीं होता, मार्ग छोड़ कुमार्ग पर चलने के लिये उद्यत होता हुआ सुमार्ग पर नहीं आता, उसी प्रकार यह मनुष्य का मनरूपी मत्त हाथी भी ज्ञानरूपी अंकृश के विना सुमार्ग (सुकार्य) पर नहीं चलता।

भावार्थ—मनुष्य का मन बहुत ही चंचल है, प्रयत्न करने पर भी कुमार्ग की ओर ही दौड़ता है, बुरी से बुरी वस्तुओं के अनुभव करने में भी नहीं हिचकिचाता। परंतु ऐसा तब ही तक होता है जब तक कि ज्ञानरूपी अंकुश की इस पर मार नहीं पड़ती ज्ञान से इस की रुकावट नहीं की जाती, और ज्ञान से रुकावट करने पर तो यह तत्काल वश में हो जाता है॥ १९३॥

ज्ञानं तृतीयं पुरुषस्य नेत्रं
समस्ततत्त्वार्थविलोकदक्षम्।
तेजोऽनपेक्षं विमतान्तरायं
प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेऽपि॥ १९४॥

अर्थ—ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है और चर्मचक्षुओं से सर्वथा ही विलक्षण है। क्योंकि चर्मचक्षु तो समस्त तदार्थों को न देखकर मूर्त्त को ही देख सकते हैं अमूर्त्त को नहीं, सूरज दीपक आदि तैजस पदार्थों के प्रकाश की सर्वदा अपेक्षा कर ही उनकी सहायता से ही पदार्थों को जान सकते हैं विना सहायता के नहीं, प्रतीघात विघ्न न होने से ही पदार्थों को देख सकते हैं, दूरवर्ती व्यवहितों को नहीं। परंतु ज्ञानरूपी मनुष्य का तीसरा नेत्र ऐसा है कि वह समस्त मूर्त्त-अमूर्त्त पदार्थों को देख सकता है। सूरज आदि

के प्रकाश की बिलकुल सहायता नही चाहता और हजारों प्रकार के प्रतिघात होने पर भी सुदूरवर्ती तीनों काल और तीनों लोकों के पदार्थों को जान सकता है॥ १९४॥

निःशेषलोकव्यवहारदक्षो
ज्ञानेन मर्त्यो महनीयकीर्तिः।
सेव्यः सतां संतमसेन हीनो
विमुक्तिकृत्यं प्रति बद्धचितः॥ १९५॥

अर्थ—ज्ञान से मनुष्य लौकिक समस्त व्यवहारों में चतुर होता है-अपनी समस्त लौकिक आवश्यकताओं को सुगमता से संपादन कर लेता है, ज्ञान से मनुष्य की निर्मल कीर्ति फैलती है, ज्ञान से मनुष्य सज्जनों की सेवा का पात्र बनता है-सज्जन लोग भी उसकी सेवा करने लग जाते हैं और ज्ञान से ही सांसारिक समस्त विषयों से विरक्ति हो मोक्ष की तरफ चित लगता है, विना ज्ञान के हित-अहित का विचार नहीं होता॥ १९५॥

धर्मार्थकामव्यवहारशून्यो
विनष्टनिःशेषविचारबुद्धिः।
रात्रिन्दिवं भक्षणसक्तचित्तो
ज्ञानेन हीनः पशुरेव शुद्धः॥ १९६॥

अर्थ—जिनके पास ज्ञान नहीं—जो अज्ञानी हैं, वे मनुष्य अपने प्रधान ध्येय धर्म, अर्थ और काम के व्यवहारों से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं अर्थात् वे धर्म, अर्थ और काम को नहीं पाल सकते, उन्हें हित अहित का ज्ञान नहीं होता, वे न तो अपने हित को ही विचार सकते हैं और न अहित का त्याग ही कर सकते हैं, उनका केवल रात-दिन का खाना-पीना ही एक मुख्य कर्तव्य रह जाता है इसलिये वे इस संसार में पशु तुल्य गिने जाते हैं।

भावार्थ—मनुष्य और पशु में ज्ञान की विशेषता से ही भेद है—मनुष्य विशेष ज्ञानी होते हैं और पशु अल्पज्ञानी। जिससे मनुष्य अपने हित अहित का स्पष्ट रीति से विचार कर लेता है, पशु नहीं और इसीलिये मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थों को भली भांति सम्पादन भी कर लेता है, परन्तु जब इस विशेषता का उद्योतक ज्ञान ही जिस मनुष्य में नहीं है जो धर्म, अर्थ, काम का ही सम्पादन नहीं करता, तब उस मनुष्य में और पशु में कोई भी भेद नहीं है, वे दोनों एक से ही हैं॥ १९६॥

तपोदयादानशमक्षमाद्याः सर्वेऽपि पुंसां महिता गुणा ये।
भवन्ति सौख्याय न ते जनस्य ज्ञानं विना तेन तदेषु पूज्यम्॥ १९७॥

अर्थ—इस संसार में जितने भी तप, व्रत, दान, शम, दया, क्षमा प्रभृति मनुष्य के

मुख्य गुण हैं, जिन को धारण करने से लोगों को सुख मिलता है, वे सब ज्ञान की सहायता से ही सुखदायी होते हैं, बिना ज्ञान के वे भी सुख नहीं दे सकते, इसलिये उन समस्त गुणों में भी ज्ञान ही पूज्य मुख्य है॥ १९७॥

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानां।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेत्वभीष्टम्॥ १९८॥

अर्थ—ज्ञान के बिना मुनष्य की अहित से निवृत्ति नहीं होती, अहित की निवृत्ति न होने से हितकार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। हित-कार्य में प्रवृत्ति न होने से पूर्वो-पार्जित कर्म का नाश नहीं होता, और पूर्वोपार्जित कर्म के नाश न होने से अभीष्ट मोक्ष सुख नहीं मिलता॥ १९८॥

क्षेत्रे प्रकाशं नियतं करोति
रविर्दिनेऽस्तं पुनरेव रात्रौ।
ज्ञानं त्रिलोके सकले प्रकाशं
करोति नाच्छादनमस्ति किञ्चित्॥ १९९॥

अर्थ—ज्ञान सूरज से भी अधिक प्रकाशक है क्योंकि सूरज एकतो सर्वत्र प्रकाश नहीं करता और दूसरे जिस क्षेत्र में प्रकाश करता भी है, उसमें सर्वदा नहीं करता गति दिन के विभाग से करता है और मेघादि के आछादन से अवरुद्ध हो जाता है, परंतु यह ज्ञान सर्वदा सर्वत्र तीनों काल और तीनों लोकों में वेरोक-टोक प्रकाश करता है॥ १९९॥

भवार्णवोत्तारणपूतनावं निःशेषदुःखेन्धनदाववह्निम्।
दशांगधर्मं न करोति येन ज्ञानं तदिष्टं न जिनेन्द्रचन्द्रैः॥ २००॥

अर्थ—जिस ज्ञान के बल से संसार- समुद्र को पार करने में नौका का काम देने वाले और समस्त जन्म-मरण के दुःखों को जलाने में वनवह्नि के समान तेज वाले उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों का आचरण न हो सके, वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं है।

भावार्थ—ज्ञान का फल अहित (पाप) से निवृत्त हो हित (धर्म) में प्रवृत्ति करना है। परंतु जिस ज्ञान से बातें नहीं होती वह ज्ञान फलदायक न होने से वास्तव में ज्ञान नहीं कहा जाता॥ २००॥

गन्तुं समुल्लङ्घ्य भवाटवीं यो ज्ञानं विना मुक्तिपुरीं समिच्छेत्।
सोऽन्धोऽन्धकारेषु विलङ्घ्य दुर्गं वनं पुरं प्रासुमना विचक्षुः॥ २०१॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञान के बिना केवल बाह्याचरण से ही संसार रूपी भयानक जंगल को पार कर मुक्ति रूपी नगरी को जाना चाहता है,वह अंधा हो अंधेरी रात्रि में सघन वन को पार कर नगर में प्रविष्ट होने का निंदनीय साहस करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार अंधे (नेत्रहीन) पुरुष को एकतो वैसे ही नहीं मार्ग दिखता और दूसरे अंधकारावृत सघन वन में तो उसे उसका मिलना बहुत ही कठिन है, परंतु ऐसा होने पर भी जो उस वन को पार कर अपने अभीष्ट स्थान-नगरादि में जाने का प्रयास करता है, वह लोगों की दृष्टि में निंदा का भाजन गिना जाता है और उस स्थान पर पहुंच भी नहीं पाता, उसी प्रकार एक तो यह भावाटवी इतनी गहन है कि इससे पार होने पर रास्ता बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी नहीं मिलता, वे भी इसे कठिनता से पार कर सकते हैं और दूसरे इसमें नाना मतमतांतरों का महान् अंधकार छाया हुआ है, परंतु ऐसी अवस्था में भी जो सम्यग्ज्ञान के विना ही उसे पार करना चाहते हैं, वे निंदनीय प्रयास करते हैं और अंत में उसके सफल न होने से लज्जित होते हैं॥ २०१॥

ज्ञानेन पुंसां सकलार्थसिद्धिर्ज्ञानादृते काचन नार्थसिद्धिः।
ज्ञानस्य मत्वेति गुणान् कदाचिज्ज्ञानं न मुञ्चन्ति महानुभावाः॥१०२॥

अर्थ—और बहुत सी बातें कहां तक कहें, इतना कह देना ही बस है कि इस संसार में ज्ञान से तो समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है और अज्ञान से कुछ भी नहीं होता। इसलिये अपने हित चाहने वालों को चाहिये कि वे ज्ञान को कभी न छोड़ें, सर्वदा उसके उपार्जन में ही लगे रहें॥ २०२॥

वरं विषं भक्षितमुग्रदोषं वरं प्रविष्टं ज्वलनेऽतिरौद्रे।
वरं कृतान्ताय निवेदितं स्वं न जीवितं तत्त्वविवेकमुक्तम्॥ २०३॥

अर्थ—तत्काल प्राणों को हर लेने वाले विष को खा लेना अच्छा, भयंकरता से जलती हुई अग्नि में प्रविष्ट हो जलकर राख हो जाना अच्छा और अन्य भी किसी कारण से यमराज की गोद में चला जाना अच्छा, परंतु तत्त्वज्ञान से रहित हो जीना इस संसार में अच्छा नहीं॥ २०३॥

शौचक्षमासत्यतपोदमाद्या गुणाः समस्ताः क्षणतश्चलन्ति।
ज्ञानेन हीनस्य नरस्य लोके वात्याहता वा तरवोऽपि मूलात्॥ २०४॥

अर्थ—जिस प्रकार आंधी के वेग से वृक्ष धडाधड़ गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष ज्ञान से हीन होते हैं—अज्ञानी हैं, उनके शौच, क्षमा, सत्य, तप, दम प्रभृति गुण क्षण भर में विलीन हो जाते हैं।

भावार्थ—अज्ञानी पुरुष शौचादि गुणों को निश्चल रीति से दृढ़ प्रतिज्ञ होकर नहीं पाल सकता—समय पड़ने पर उनको छोड़ सकता है, परन्तु जो ज्ञानी हैं, वे उन्हें कभी भी नहीं छोड़ते॥ २०४॥

माता पिता बन्धुजनः कलत्रं पुत्रः सुहृद् भूमिपतिश्च तुष्टः।
न तत्सुखं कर्तुमलं नराणां ज्ञानं यदेव स्थितमस्तदोषम्॥ २०५॥

अर्थ—जो सुख इस जीव को निर्दोष (पवित्र) ज्ञान दे सकता है, उसे संतुष्ट हुए माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र, मित्र और राजा प्रभृति कोई भी नहीं दे सकते।

भावार्थ—माता-पिता आदि संतुष्ट होकर तो सांसारिक भौतिक पदार्थ देकर परिपाक में कटु सुख दे सकते हैं परन्तु पवित्र ज्ञान अविनाशी और पारमार्थिक सुख दे सकता है, इसलिये माता-पिता आदि की सेवा से बढ़-चढ़कर ज्ञान की सेवा करनी चाहिये॥ २०५॥

शक्यो वशीकर्तुमिभोऽतिमत्तः सिंहः फणीन्द्रः कुपितो नरेन्द्रः।
ज्ञानेन हीनो न पुनः कथञ्चिदित्यस्य दूरे न भवन्ति सन्तः॥ २०६॥

अर्थ—लोग अतिमत्त हाथी को वश में कर सकते हैं उसे किसी न किसी प्रकार सुमार्ग पर ला सकते हैं और कुपित हुए सिंह, सर्प राजा प्रभृति को भी अपने कौशल से समझा सकते हैं परन्तु मूढ़ अज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार भी सुमार्ग पर नहीं चला सकते, इसलिये सज्जन लोग ज्ञान के उपार्जन करने से कभी भी मुंह नहीं मोड़ते—वे यह सोचकर कि-'हमारा ज्ञान के बिना सुमार्ग पर स्वयं वा दूसरों द्वारा प्रेरित होकर चलना कठिन है' ज्ञानी होने का प्रयत्न करते हैं॥ २०६॥

करोति संसारशरीरभोगविरागभावं विदधाति रागम्।
शीलव्रतध्यानतपःकृपासु ज्ञानी विमोक्षाय कृतप्रयासः॥ २०७॥

अर्थ—जो लोग ज्ञान सहित होते हैं वे मोक्षाभिलाषी होकर सांसारिक विषय-वासनाओं में नही फँसते सर्वदा, विरक्त ही रहते हैं और शील, व्रत, ध्यान, तप, कृपा प्रभृति गुणों में हमेशा अपना चित्त लगाते हैं॥ २०७॥

परोपदेशं स्वहितोपकारं ज्ञानेन देही वितनोति लोके।
जहाति दोषं श्रयते गुणं च ज्ञानं जनैस्तेन समर्चनीयम्॥ २०८॥

अर्थ—यह जीव ज्ञान के बल से उपदेश द्वारा दूसरों का हित कर सकता है, स्वयं अपने हित-अहित को विचारकर गुणों की तरफ ऋजु होने लगता है और दोषों से सर्वथा बचने का उपाय करता है, इसलिये ज्ञान प्रशंसनीय है॥ २०८॥

एवं विलोक्यास्य गुणाननेकान् समस्तपापारिनिरासदक्षान्।
विशुद्धबोधा न कदाचनापि ज्ञानस्य पूजां महतीं त्यजन्ति॥ २०९॥

अर्थ—इस तरह पूर्वोक्त रीति से कहे गये पापों को नष्ट करने वाले ज्ञान के गुणों को विचार कर बुद्धिमान् पुरुष कभी भी ज्ञान की पूजा नहीं छोड़ते—सर्वदा उसके उपार्जन में ही दत्तचित रहते हैं॥ २०९॥

॥ ९ ॥

सम्यक्चरित्र का वर्णन

सद्दर्शनज्ञानबलेन भूता पापक्रियाया विरतिस्त्रिधा या।
जिनेश्वरैस्तद्वदितं चरित्रं समस्तकर्मक्षयहेतुभूतम्॥ २१०॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उत्पन्न होने से पैदा हुआ जो पाप क्रियायों में मन, वचन और काय से वैराग्य है, वह सम्यक्चरित्र कहा जाता है और उसी से समस्त कर्मों का नाश होता है।

भावार्थ—सर्वज्ञ प्रतिपादित सत्य तत्त्वों के श्रद्धान और ज्ञान से जिस समय इस मनुष्य के हित-अहित का विचार हो जाता है तो यह अपनी अनादि काल से अनुभव में लाई गई पर पदार्थों की एकता को धीरे-धीरे दु:खद समझने लगता है और संसार में परिभ्रमण कराने वाले आठों ही कर्मों का सब तरह से नाश करना चाहता है। बस! उस समय से जो इसकी पाप-क्रियाओं से मानसिक, वाचिक और शारीरिक विरक्तिघृणा होना है वही सम्यक्चरित्र है॥ २१०॥

शमं क्षयं मिश्रमुपागतायां तन्नाशिकर्मप्रकृतौ त्रिधात्र।
द्विधा सरागेतरभेदतश्च प्रजायते साधनसाध्यरूपम्॥ २११॥

अर्थ—आत्मा के चरित्र गुण को घातने वाले चरित्र मोहनीय कर्म के क्षय वा उपश्म वा क्षयोपशम होने से जो आत्मा में चरित्र-गुण प्रकट होता है वह क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तो तीन प्रकार का है और सरागचरित्र एवं विरागचरित्रं के भेद से दो प्रकार का है। इसमें पहिला जो सरागचरित्र है वह तो साधन (विरागचरित्र का कारण) है और दूसरा जो विराग चरित्र है वह साध्य (ध्येय, मुख्य) है।

भावार्थ—इस जीव के चरित्र मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय या क्षयोपशम होने से एक विलक्षण ही रीति के परिणाम हो जाते हैं। जिससे इसकी सांसारिक समस्त अशुभ पाप क्रियायों से घृणा होने लगती है और व्रताचरणादिक शुभ कर्म करने को जी चाहने लगता है, इसलिये यह सम्यग्दृष्टि जीव अपनी शक्त्यनुसार या तो गृहस्थ अवस्था में ही रहकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है या फिर अनगार मुनि हो जाता है

जिससे कि इस चरित्र के दो भेद हो जाते हैं— एक सागारचरित्र (सरागचरित्र) और दूसरा अनगारचरित्र (विरागचरित्र)॥ २११॥

हिंसानृतस्तेयजनीविसंगनिवृत्तिरुक्तं व्रतमङ्गभाजाम्।
पञ्चप्रकारं शुभसूतिहेतुर्जिनेश्वरैर्ज्ञातसमस्ततत्त्वैः॥ २१२॥

अर्थ—सम्यक्चरित्र हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह (ममत्व) इन पांचों पापों के त्याग से पांच प्रकार का है अर्थात् हिंसा की निवृत्ति से अहिंसा व्रत, झूठ की निवृत्ति सत्य व्रत, चौरी की निवृत्ति से आचार्य व्रत, कुशील की निवृत्ति से शील (ब्रह्मचर्य) व्रत और परिग्रह (सांसारिक पदार्थों से ममता) की निवृत्ति से अपरिग्रह (निरारंभ) व्रत होता है॥ २१२॥

जीवास्त्रसस्थावरभेदभिन्नास्त्रसाश्चतुर्धात्र भवेयुरन्ये।
पञ्चप्रकारास्त्रिविधेन तेषां रक्षा अहिंसाव्रतमस्ति पूतम्॥ २१३॥

अर्थ—मुख्य में संसारी जीवों के त्रस और स्थावर ये दो भेद होते हैं जिनमें स्थावर तो एकेंद्रिय हैं एवं पृथिवी, जल, तेज, वायु वनस्पति कार्य के भेद से पांच प्रकार के हैं और त्रस दो इंद्रिय, तेइंद्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेंद्रिय के भेद से चार तरह के हैं इस तरह इन सब काय के जीवों की मन, वचन और काय से जो रक्षा करता है वह अहिंसा व्रत है।

भावार्थ—जैन शास्त्र में जीवों के भेद भिन्न-भिन्न विवक्षा से भिन्न-भिन्न रीति के कहे गये हैं। उनमें से यदि संसारी जीवों का इन्द्रियों की अपेक्षा से भेद करें तो उनके उपर्युक्त एकेंद्रिय द्वींद्रिय आदि पांच भेद हो जाते हैं, क्योंकि इन्द्रियां स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इस तरह पांच प्रकार की हैं और वे किसी जीव के एक, और किसी के दो इस तरह न्यूनाधिक होती है। जिस जीव के स्पर्श (शरीर) इन्द्रिय हो वह एकेंद्रिय है जैसे वृक्ष, पानी, पर्वत आदि। जिसके स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियां हो वह द्वीन्द्रिय जीव है। जैसे-लट, केंचुआ आदि। जिस जीव के स्पर्श, रसना (जिह्वा) और घ्राण (नासिका) ये तीन इन्द्रियां हों वह तेइन्द्रिय है। जैसे-चींटी, चींटा आदि। जिसके स्पर्श, रसना, घ्राण, आ चक्षु (नेत्र) ये चार इन्द्रियां हो वह चतुरिंद्रिय या चौइन्द्रिय है जैसे कि भौंरा, मक्खी आदि और जिसके स्पर्श, रसना घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां हों वह पंचेंद्रिय जीव है। जैसे मनुष्य, हाथी, घोड़ा आदि। इस तरह इन ही पांच प्रकारों में समस्त संसारी जीव आ गये। सो इनकी मन, वचन काय से हिंसा न करना इनको किसी भी प्रकार से दुःख न देना अहिंसा व्रत है॥ २१३॥

स्पर्शेण वर्णेन रसेन गन्धाद्यदन्यथा वारि गतं स्वभावम्।
तत्प्राशुकं साधुजनस्य योग्यं पातुं मुनीन्द्रा निगदन्ति जैनाः॥ २१४॥

अर्थ—जो अहिंसा व्रत को पालने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—इन चार स्वाभाविक गुणों के बदल जाने पर जल को पीवें अर्थात् जल का स्वभाव शीतल होता है, इसलिये उसे न पीकर उन्हें उष्ण जल पीना चाहिये॥ २१४॥

उष्णोदकं साधु जनाः पिबन्ति मनोवचःकायविशुद्धिलब्धम्।
एकान्ततस्तत्पिबतां मुनीनां षड्जीवघातं कथयन्ति सन्तः॥ २१५॥

अर्थ—जो साधु लोग हैं—सब प्रकार की हिंसा के त्यागी हैं, वे मन, वचन और काय की विशुद्धता से प्राप्त हुए उष्णजल को पीते हैं और जो ऐसा नहीं करते है-मन वचन काय की शुद्धि के बिना प्राप्त हुए केवल उष्णता से ही मतलब रख उसे पीते हैं, वे षट्काय के जीवों की हिंसा करते हैं॥ २१५॥

हतं घटीयन्त्रचतुष्पदादिसूर्येन्दुवाताग्निकरैर्मुनीन्द्राः।
प्रत्यन्तवातेन हतं वहच्च यत्प्रासुकं तन्निगन्ति वारि॥ २१६॥

भवत्यवश्यायहिमांशधूसरी
घनाम्बुशुद्धोदकबिन्दुसीकरान्।
विहाय शेषं व्यवहारकारणं
मनीषिणां वारि विशुद्धिमिच्छताम्॥ २१७॥

उष्णोदकं प्रतिगृहं यदकारिलोके-
स्तच्छ्रावकैः पिबति नान्यजनैः कदाचित्।
तत्केवलं मुनिजनाय विधीयमानं
षड्जीवसंततिविराधनसाधनाय॥ २१८॥

अर्थ—जो जल घटीयन्त्र (अर्घट) का हो, गाय, भैंस आदि चौपायों के आवा-गमन से ताड़ित हो, सूर्य, चंद्रमा, वायु और अग्नि की सहायता से अपने स्वाभाविक वर्ण, गंध, रस और स्पर्श को छोड़ चुका हो अथवा जो प्रत्यंत वायु से हत हो कर बह रहा हो तथा जो पाला, ओले, मेह और शुद्धोदक बिंदु (छाने हुये जल के बचे हुए) के कणों से भिन्न हो वह सब जल तो अहिंसा व्रत को पालने वाले मुनियों के व्यवहार में लाने के योग्य है और जो जल श्रावक लोगों द्वारा अपने-अपने घर अपने काम के लिये उष्ण किया जाता है वह पीने के योग्य है, इसके सिवाय जो जल केवल मुनियों के उद्देश्य से उष्ण किया गया है और जो श्रावकों के सिवाय अन्य क्रिया को न जानने वालों से उष्ण किया है वह सब अपेय है तथा छहों काय के जीवों की हिंसा का निमित्त है॥ २१६-२१७-२१८॥

यथार्थवाक्यं रहितं कषायैरपीडनं प्राणिगणस्य पूतम्।
गृहस्थभाषाविकलं यथार्थं सत्यं व्रतं स्याद्वदतां यतीनाम्॥ २१९॥

अर्थ—जिन मुनियों का वचन सार्थक, कषायों से रहित, प्राणियों को पीड़ा न पहुंचाने वाला, पवित्र हितकर, गृहकार्य (व्यापार आदि) के पोषण करने से रहित होता है उनके सत्य व्रत होता है।

भावार्थ—हित मित जीवों के घात को न बतलाने वाले सार्थक वचन बोलने से ही मुनियों के सत्य व्रत पल सकता है अन्यथा नहीं इसलिये मुनियों को चाहिये कि वे अहितकारी, अधिक और व्यर्थ वचनों को कभी न बोलें॥ २१९॥

ग्रामादि नष्टादि धनं परेषामगृह्णतोऽल्पादि मुनेस्त्रिधापि।
भवत्यदत्तग्रहवर्जनाख्यं व्रतं मुनीनां गदितं हि लोके॥ २२०॥

अर्थ—ग्राम आदि के नष्ट आदि धन को जो महानुभाव मन, वचन, काय से ग्रहण नहीं करता उसके द्वारा अचौर्य व्रत का पालन होता है।

भावार्थ—रखी हुई, गिरी हुई, खोई हुई, भूली हुई और बिना दी हुई दूसरे की वस्तु का मन, वचन, काय से नहीं ग्रहण करना तीसरा अचौर्य व्रत है॥ २२०॥

विलोक्य मातृस्वसृदेहजावत्स्त्रीणां त्रिकं रागवशेन यासाम्।
विलोकनस्पर्शनसंकथाभ्यो निवृत्तिरुक्तं तदमैथुनत्वम्॥ २२१॥

अर्थ—जो महानुभाव वृद्धा को माँ, बराबर की को बहिन और छोटी स्त्री को पुत्री के समान मानकर सब प्रकार की स्त्रियों का मन, वचन, काय से त्याग कर देता है। न उन्हें राग-बुद्धि से देखता है, न उनके साथ राग की बातें करता है और न कभी उनका स्पर्श करता है। उसके द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत होता है॥ २२१॥

सचेतनाचेतनभेदतोत्थाः परिग्रहा सन्ति विचित्ररूपाः।
तेभ्यो निवृत्तिस्त्रिविधेन यत्र नैसंग्यमुक्तं तदपासतसंगैः॥ २२२॥

अर्थ—संसार में पदार्थ दो प्रकार के हैं— चेतन और अचेतन। सो इन दोनों प्रकार के पदार्थों का मन, वचन, काय से त्याग कर देना—न तो इनको मन से अपने समझना, न इनको वचन से अपने कहना और न इनका शरीर के ही साथ किसी प्रकार का संबंध रखना, निःसग (अपरिग्रह) व्रत है॥ २२२॥

युगान्तरप्रेक्षणतः स्वकार्याद्दिवा पथा जन्तुविवर्जितेन।
यतो मुनेर्जीवविराधहान्या गतिर्वरेर्यासमितिः समुक्ता॥ २२३॥

अर्थ—'जीवों की हिंसा न हो, हमारे सम्बन्ध से मार्ग में आये हुए किसी भी जीव को कैसा भी दुःख न हो' इस अभिप्राय से जो जुड़ा प्रमाण पृथ्वी को देखकर दिन

में किसी प्रधान प्रयोजन के लिये मुनि-का चलना है-गमन करना है, वह ईर्या समिति है॥ २२३॥

आत्मप्रशंसापरदोषहासपैशून्यकार्कश्यविरुद्धवाक्यम्।
विवर्ज्य भाषां वदतां मुनीनां वदन्ति भाषासमितिं जिनेन्द्राः॥ २२४॥

अर्थ—जो मुनि आत्म-प्रशंसा, परनिंदा, उपहास्य और पिशुनता (चुगली) को सर्वथा नहीं करते हैं और जो कर्कश, शास्त्र-विरुद्ध वचन भी कभी नहीं बोलते हैं, वे भाषा समिति के पालने वाले हैं।

भावार्थ—आत्म-प्रंशसा आदि दोषों से रहित शास्त्र-सम्मत वचन बोलना भाषा समिति है॥ २२४॥

अनुद्गमोत्पादनवल्भदोषा मनोवचःकायविकल्पशुद्धा।
स्वकारणा या मुनिपस्य भुक्तिस्तामेषणाख्यां समितिं वदन्ति॥२२५॥

अर्थ—उद्गम आदि छियालीस दोषों और बत्तीस अन्तरायों से रहित, मन, वचन, काय की शुद्धि से शुद्ध, शरीर की स्थिति के लिये जो आहार करना है वह मुनि की एषणा समिति है॥ २२५॥

आदाननिक्षेपविधेर्विधाने द्रव्यस्य योग्यस्य मुनेः स यत्नः।
आदाननिक्षेपणनामधेयां वदन्ति सन्तः समितिं पवित्राम्॥ २२६॥

अर्थ—पिच्छि कमण्डलु आदि दिगंबर मुनि के योग्य पदार्थों का जो सावधानी से धरना-उठाना है, वह आदाननिक्षेपण नाम की समिति है॥ २२६॥

दूरे विशाले जनजन्तुमुक्ते गूढे विरुद्धे त्यजतो मलानि।
पूतां प्रतिष्ठापननामधेयां वदन्ति साधोः समितिं जिनेन्द्राः॥ २२७॥

अर्थ—दूरवर्त्ती, विशाल, गूढ, जनजंतु-रहित प्रदेश में जो मल-मूत्र का त्याग करना है वह प्रतिष्ठापन समिति है॥ २२७॥

समस्तजन्तुप्रतिपालनार्थाः कर्माश्रवद्वारनिरोधदक्षाः।
इमा मुनीनां निगदन्ति पञ्च पञ्चत्वमुक्ताः समितीर्जिनेन्द्राः॥ २२८॥

अर्थ—जन्म-मरण-रहित भगवान् जिनेंद्र ने समस्त जीवों की रक्षरक्षा करने वाली इन पांचों समितियों को शुभ और अशुभ कर्मों का आस्रव (आगमन) रोकने वाली बतलाया है, इसलिये मुनियों को अवश्य इनका पालन करना चाहिये॥ २२८॥

प्रवृत्तयः स्वान्तवचस्तनूनां सूत्रानुसारेण निवृत्तयो वा।
यास्ता जिनेशाः कथयन्ति तिस्त्रो गुप्तीर्विधूताखिलकर्मबन्धाः॥२२९॥

अर्थ—सर्वज्ञ प्रतिपादित शास्त्र के अनुसार मन, वचन, काय की जो प्रवृत्ति और निवृत्ति है, वह तीन प्रकार की गुप्ति है।

भावार्थ—जैन शास्त्रानुसार मन की प्रवृत्ति वा निवृत्ति करना मनोगुप्ति है, वचन की प्रवृत्ति और रोकना वचोगुप्ति है और काय (शरीर) का प्रवृत्त करना वा रोकना कायगुप्ति है॥ २२९॥

एवं चरित्रस्य चरित्रयुक्तैस्त्रयोदशांगस्य निवेदितस्य।
व्रतादिभेदेन भवन्ति भेदाः सामायिकाद्याः पुनरेव पञ्च॥ २३०॥

अर्थ—इस तरह पांच व्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों के मिलने से चरित्र तेरह प्रकार का है और इन तेरह भेदों के ही सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात ये पांच भेद कहे हैं॥ २३०॥

पञ्चाधिका विंशतिरस्तदोषैरुक्ताः कषायाः क्षयतः शमाद्वा।
तेषां यथाख्यातचरित्रमुक्तं तन्मिश्रतायामितरं चतुष्कम्॥ २३१॥

अर्थ—सामायिक आदि पांच भेदों में से जो यथाख्यात चरित्र है वह तो क्रोध, मान, माया आदि पच्चीस कषायों के क्षय होने से वा उपशम होने से होता है और शेष के जो चार चरित्र हैं, वे उन कषायों के क्षयोपशम होने से होते हैं।

भावार्थ—इस जीव में अनंत गुण विद्यमान हैं, परंतु वे समस्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के प्रभाव से ढ़क रहे हैं, इसलिये ज्यों-ज्यों कर्मों का नाश अथवा उपशम (सत्ता में रहने पर भी उनके फल का कुछ समय के लिये अभाव हो जाना) होता चला जाता है, त्यों-त्यों आत्मा के गुण प्रकट होते चले जाते हैं। इसी नियम के अनुसार चरित्र भी एक आत्मा का गुण है और वह चरित्र मोहनीय कर्म के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद और नपुंसक वेद इन पच्चीस भेदों के क्षय और उपशम से तो समस्त (यथाख्यात) चरित्र गुण प्रकट होता है एवं इनके क्षयोपशम से सामयिक आदि चार प्रकार का चरित्र प्रकट होता है॥ २३१॥

सद्दर्शनज्ञानफलं चरित्रं ते तेन हीने भवतो वृथैव।
सूर्यादिसंगेन दिवेव नेत्रं न तत्फलं येन वदन्ति सन्तः॥ २३२॥

अर्थ—जिस प्रकार बिना सूर्य आदि के प्रकाश के नेत्रों का धारण करना व्यर्थ है, कभी उनसे अभीष्ट पदार्थों का देखना और अभीष्ट स्थानों पर पहुंचना हो नहीं

सकता, उसी प्रकार बिना चरित्र के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का भी धारण करना व्यर्थ है केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से कभी अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये विद्वानों को यह चरित्र अवश्य धारण करना चाहिये॥ २३२॥

कषायमुक्तं कथितं चरित्रं कषायवृद्धावपघातमेति।
यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतम्॥ २३३॥

अर्थ—कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) का सर्वथा अथाव होना चरित्र है, इसलिये जब इस जीव के कषायों की वृद्धि होने लगती है, तब इसका चरित्र गुण भी नष्ट होने लगता है और उनकी शांति वा नाश होने पर फिर वह वैसा का वैसा ही शुद्ध हो जाता है॥ २३३॥

कषायसंगौ सहते न वृत्तं समार्द्रचक्षुर्न दिनं च रेणूं।
कषायसंगौ विधुनन्ति तेन चारित्रवन्तो मुनयः सदापि॥ २३४॥

अर्थ—जिस प्रकार कि दुःखित आँख (दुखने को आई हुई आँख) दिन के प्रकाश और धूलि के कणों को नहीं सहार सकती उसी प्रकार चरित्र भी क्रोध आदि कषायों की और धन-धान्य आदि परिग्रह की मौजूदगी को नहीं सहार सकता इसलिये चारित्र को निर्दोष रीति से पालने के इच्छुक मुनिगण कषायों को तथा परिग्रहों को अपने पास नहीं फटकने देते॥ २३४॥

निःशेषकल्याणविधौ समर्थं
यस्यास्ति वृत्तं शशिकान्तिकान्तम्।
मर्त्यस्य तस्य द्वितयेऽपि लोके
न विद्यते काचन जातु भीतिः॥ २३५॥

अर्थ—निर्दोष चरित्र का पालन करने से समस्त कल्याणों की प्राप्ति होती है—संसार में ऐसा कोई भी दुर्लभ पदार्थ नहीं है जो कि इसके पालने से न मिलता हो इसलिये जो लोग चांदनी के समान शुभ्र चरित्र को धारण करने वाले होते हैं, वे इस लोक और परलोक दोनों में निर्भय सुख पाते हैं॥ २३५॥

न चक्रनाथस्य न नाकिराजो न भोगभूजस्य न नागराजः।
आत्मस्थितं शाश्वतमस्तदोषं यत्संयतस्यास्ति सुखं विबाधम्॥ २३६॥

अर्थ—जिस सुख को चक्रवर्त्ती प्राप्त नहीं कर सकते, जिसके सामने नागेंद्र की संपत्ति भी तुच्छ है, जो देवेन्द्रों को भी नहीं मिल सकता और जिसे भोग भूमियाँ भी नहीं भोग सकते उस अपने आत्मा में विराजमान बाधा-रहित शाश्वत सुख को चरित्र-धारी संयमी मुनि भोगते हैं॥ २३६॥

निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः संतोषवानस्तसमस्तदोषः।
यत्सौख्यमाप्नोति गतान्तरायं किं तस्य लेशोऽपि सरागचित्तः॥२३७॥

अर्थ—जिसने सांसारिक समस्त व्यवहारों से अपनी वृत्ति हटा ली है, जो संतोषी है और जिसने समस्त दोषों का नाश कर निर्दोषता प्राप्त करली है वह पुरुष जितना निराबाध सुख पाता है, उससे हजारवाँ हिस्सा भी राग सहित पुरुष कभी नहीं पा सकता॥ २३७॥

ससंशयं नश्वरमन्तदुःखं सरागचित्तस्य जनस्य सौख्यम्।
तदन्यथा रागविवर्जितस्य तेनेह संतो न भजन्ति रागम्॥ २३८॥

अर्थ—जो मनुष्य सरागी हैं राग सहित हैं, वे नश्वर, परिपाक में कडुवे, अंतराय सहित सुख का अनुभव करते हैं और जो विरागी हैं-रागरहित हैं वे अविनाशी नित्य, सर्वदा मधुर, अंतराय रहित सुख का भोग करते हैं, इसलिये जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, हित-अहित के जानकार हैं, वे सर्वदा राग-प्रेम और द्वेष से दूर ही रहते हैं॥ २३८॥

विनिर्मलं पार्वणचन्द्रकान्तं यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः॥ २३९॥

अर्थ—जिस पुरुष का चरित्र पूर्णमासी की चांदनी के समान निर्मल है-अतीचार रहित है, वही मानी है, वही कुलीन है, वही जगत् में श्रेष्ठ है, उसी का जन्म कृतार्थ (सफल) है और उसी की बुद्धि सम्माननीय है॥ २३९॥

गर्भे विलीनं वरमत्र मातुः प्रसूतकालेऽपि वरं विनाशः।
असंभवो वा वरमङ्गभाजो न जीवितं चारुचरित्रमुक्तम्॥ २४०॥

अर्थ—जो लोग निर्दोष चरित्र से रहित हैं-दुराचारी हैं, उनका जीवन निंदनीय है। वे यदि अपनी माता के गर्भ में ही विलीन हो जाते अथवा उत्पन्न होते ही मर जाते या इस पर्याय में पैदा ही न होते तो अच्छा होता।

भावार्थ—मर जाना या मनुष्य पर्याय में न पैदा होना तो किसी कदर अच्छा क्योंकि 'हमने मनुष्य पर्याय न पायी इसलिये कुछ ततश्चरणादि न कर सके' यह कहने के लिये रहता है, परन्तु उसे पाकर भी यदि चरित्र धारण न किया तो मनुष्य पर्याय का पाना सर्वथा निरर्थक है॥ २४०॥

निरस्तभूषोऽपि यथा विभाति पवित्रचारित्रविभूषितात्मा।
अनेकभूषाभिरलङ्कृतोऽपि विमुक्तवृत्तो न तथा मनुष्यः॥ २४१॥

अर्थ—जैसा कि कंकण, कंठी आदि भूषणों से रहित और निर्दोष चारित्र से सहित पुरुष शोभित होता है वैसा नाना प्रकार के भूषणों से अलंकृत चरित्र से रहित पुरुष शोभित नहीं होता, इसलिये सज्जन लोग पार्थिव भूषणों का त्याग कर आत्मिक चरित्र रूपी भूषण को पहनते हैं॥ २४१॥

सद्दर्शनज्ञानतपोदयाद्याश्चारित्रभाजः सफलाः समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण विना भवन्ति ज्ञात्वेह संतश्चरिते यतन्ते॥ २४२॥

अर्थ—जो पुरुष अहिंसा आदि तपश्चरण से संयुक्त है-तेरहों प्रकार के चारित्र का धारण करने वाला है, उनके तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और दांति, शांति आदि समस्त गुण फल वाले हैं और जो चरित्र से रहित हैं, उनके वे सब निरर्थक हैं, इसलिये सज्जन लोग सर्वदा चरित्र-धारण करने का प्रयत्न करते हैं॥ २४२॥

॥ १० ॥

जातिनिरूपण

अनेकमलसंभवे कृमिकुलैः सदा
संकुले विचित्रबहुवेदने बुधविनिन्दिते दुःसहे।
भ्रमन्नयमनारतं व्यसनसंकटे देहवान्
पुरार्जितवशो भवे भवति भामिनीगर्भके॥ २४३॥

अर्थ—यह दीन प्राणी अपने पूर्वोपार्जित कर्म के वश से नाना दुःखों से परिपूर्ण योनियों में भ्रमण करता-करता स्त्री के महानिंदनीय अनेक मलों से उत्पन्न, कृमिकुल से व्याप्त गर्भाशय में देह धारण करता है और वहाँ विचित्र-विचित्र दुःसह वेदनाओं को भोगता है॥ २४३॥

शरीरमसुखावहं विविधदोषवर्चोगृहं
सशुक्ररुधिरोद्भवं भवभृता भवे भ्राम्यते।
प्रगृह्य भवसंततेर्विदधतानिमित्तं विधं
सरागमनसां सुखं प्रचुरमिच्छता तत्कृते॥ २४४॥

अर्थ—यह शरीर यद्यपि दुःख देने वाला है, नाना दोषों और मल मूत्रों का घर है, शुक्र (वीर्य) और रुधिर (रज) से उत्पन्न है तो भी यह जीव उसके प्रेम में अंधा हो उसके सुख के लिये नाना उपायों को रचता है और जन्म-मरण के कारणों का संग्रह कर इस संसार से चिरकाल तक घूमता है॥ २४४॥

किमस्य सुखमादितो भवति देहिनो गर्भके
किमङ्गमलभक्षणप्रभृतिदूषिते शैशवे।
किमङ्गजकृतासुखव्यसनपीडिते यौवने
किमङ्गगुणमर्दनक्षमजराहते वार्धके॥ २४५॥

अर्थ—इस प्राणी को मनुष्य की किसी भी अवस्था में सुख नहीं मिलता। देखो! जब कि वह गर्भ में रहता है तब तो अंगसंकोचनादि कारणों से दुःख पाता है, जब लड़का (पैदा) होता, है तब शारीरिक मलभक्षणादि से तकलीफ उठाता है, जब युवावस्था में पदार्पण करता है, तब काम-जन्य पीड़ाओं से पीड़ित रहता है और जब

बुड्ढ होता है तब शरीर की कांति आदि नष्ट होने से दुःख भोगता है, इसलिये इसको चारों अवस्था में दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है॥ २४५॥

किमत्र विरसे सुखं दयितकामिनीसेवने
किमन्यजनदुर्लभे[१] द्रविणसंचये नश्वरे।
किमस्ति भुवि भङ्गुरे तनयदर्शने वा भवे
यतोऽत्र गतचेतसा तनुमता रतिर्वध्यते॥ २४६॥

अर्थ—वास्तव में देखा जाय तो इस संसार में न तो सुन्दर-सुन्दर प्यारी स्त्रियों के सेवन करने में ही सुख है, क्योंकि उससे अंत में अवश्य ही दुःख उठाना पड़ता है, न अन्य जनों से कठिनता पूर्वक उपार्जन करने योग्य धन के संचय करने में ही सुख है, क्योंकि वह भी अंत में नश्वर-विनाशशील होने से दुःखदायी है और न पुत्र के उत्पन्न होने में ही सुख है, क्योंकि वह भी क्षणभंगुर विनाशक है। परन्तु यह प्राणी ऐसा मूर्ख है कि तब भी उनमें ही प्रेम करता है, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है॥ २४६॥

गतिर्विगलिता वपुः परिणतं हृषीकं मितं
कुलं नियमितं भवोऽपि कलितः सुखं संमितम्।
परिभ्रमकृता भवे भवभृता घटीयन्त्रवद्-
भवस्थितिरियं सदा परिमिताप्यनन्ता कृता॥ २४७॥

अर्थ—गति, शरीर, इन्द्रिय, कुल, जन्म और सुख से परिमित भी भवस्थिति इस जीव ने घटी यंत्र (अर्घट) के समान अपरिमित अनंत कर डाली है।

भावार्थ—जिस प्रकार अर्घट घड़े कभी ऊपर जाते हैं और कभी नीचे आते हैं, सदा एक समान स्थिर नहीं रहते, उसी प्रकार संसार-सागर में घूमता हुआ यह जीव कभी किसी योनि में जाता है और कभी किसी योनि में, सर्वदा समान नहीं रहता। यद्यपि भ्रमण करते हुए इसे शरीर, गति, इन्द्रिय आदि वस्तुएँ परिमित ही मिली हैं तथापि उन्हें इसने अपरिमित कर डाला है अर्थात् अनन्त वार उन्हें धारण कर अनंत बना दिया है॥ २४७॥

तदस्ति न वपुर्भृता यदिह नोपभुक्तं
सुखं न सा गतिरनेकधा गतवता न या गाहिता।
न ता नरपतिश्रियः परिचिता न याः संसृतौ
न सोऽस्ति विषयो न यः परिचितः सदा देहिनाम्॥ २४८॥

---

१. 'जनप्रीतये' ऐसा भी पाठ है।

अर्थ—संसार-चक्र में घूमते हुए इस जीव से न तो कोई ऐसा इंद्रिय-सुख बचा है, जो कि न भोगा गया हो, न कोई ऐसी गति (योनि) छूटी है, जो अनेक वार न अवगाही हो, न कोई ऐसी राजा महाराजाओं की संपत्ति बेची है जो न अनुभवी हो और न कोई ऐसा क्षेत्र ही छूटा है, जहाँ पर कि इसने अनेक बार जन्म-मरण न किया हो॥ २४८॥

इदं स्वजनदेहजातनयमातृभार्यामयं विचित्र-
मिह केनचिद्रचितमिन्द्रजालं मनु।
क्व कस्य कथमत्र को भवति तत्त्वतो देहिनः
स्वकर्मवशवर्तिनस्त्रिभुवने निजो वा परः॥

अर्थ—वास्तव में देखा जाय तो संसार में ये दीन जीव सर्वदा अपने-अपने कर्मों द्वारा प्रेरित हो अकेले ही नाना दुःख भोगा करते हैं, उस समय कोई भी माँ-बाप, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र आदि इनके काम नहीं आते। परन्तु ऊपर से जो कुछ हमको यह मालूम पड़ता है कि ये हमारे कुटुंबी माँ-बाप आदि हमारे दुःख-सुख के साथी हैं, हमारे हैं यह इंद्रजाल के समान मिथ्या है। क्योंकि इंद्रजाल में देखी गई चीजें जिस प्रकार यथार्थ नहीं होतीं वे जब तक इंद्रजाल कायम रहता है, तब तक ही दीखतीं हैं, बाद को नष्ट हो जातीं हैं, उसी प्रकार ये भाई-बहिन एक पर्याय में तो रहते हैं और पर्याय बदलने पर सब भिन्न-भिन्न हो जाते हैं॥ २४९॥

हृषीकविषयं सुखं किमिह यन्न भुक्तं
भवे किमिच्छति नरः परं सुखमपूर्वभूतं ननुः।
कुतूहलमपूर्वजं भवति नाङ्गिनोऽस्यास्ति
चेत्समैकसुखसंग्रहे किमपि नो विधत्ते मनः॥ २५०॥

अर्थ—जन्म-मरण रूप इस संसार में ऐसा कोई भी इंद्रिय सुख नहीं है जो कि इस जीव ने अनेकों बार न भोगा हो, परन्तु यह ऐसा मूर्ख है कि उस भुक्त पूर्व को ही फिर-२ भोगना चाहता है और अभुक्त पूर्व सुख की कभी कामना भी नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो यह जीव पूर्व में नहीं भोगे गये, समता (विरागता) सुख में कभी न कभी तो मन लगाता॥ २५०॥

क्षणेन शमवानतो भवति कोपवान्संसृतौ
विवेकविकलः शिशुर्विरहकातरो वा युवा।
जरार्दितनुस्ततो विगतसर्वचेष्टो जरी
दधाति नटवन्नरः प्रचुरवेषरूपं वपुः॥ २५१॥

अर्थ—यह जीव कभी तो शांत होता है, कभी क्रोध करता है, कभी ज्ञान-शून्य बालक होता है, कभी युवतियों के विरह से व्याकुल होता है और कभी बुढ़ापे से पीड़ित हो चेष्टा-शून्य होता है, इस तरह एक ही नट के समान नाना अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न रूप धारण करता-फिरता है॥ २५१॥

अनेकगतिचित्रितं विविधजातिभेदाकुलं
समेत्य तनुमद्गणः प्रचुरचित्तचेष्टोद्यतः।
पुरार्जितविचित्रकर्मफलभुग्विचित्रां
तनुं प्रगृह्य नटवत्सदा भ्रमति जन्मरङ्गाङ्गणे॥ २५२॥

अर्थ—और भी जिस प्रकार रंगभूमि में नट अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र पात्रों के रूप को धारण कर उन्हीं की सी चेष्टा करता है और लोगों को वास्तविक की सी भ्रांति करा देता है, उसी प्रकार यह जीव भी मनुष्य, तिर्यक् आदि गतियों (पर्यायों) में भिन्न २ जाति का हो अपने मनमानी तदनुकूल चेष्टाओं को कर पूर्वोपार्जित अपने कर्मों के फल को भोगता हुआ सदा घूमता फिरता है और जिस पर्याय को धारण करता है उसी स्वरूप मालूम होने लगता है॥ २५२॥

अचिन्त्यमतिदुस्सहं त्रिविधदुःखमेनोर्जितं
चतुर्विधगतिश्रितं भवभृता न किं प्राप्यते।
शरीरमसुखाकरं जगति गृह्णता मुञ्चता तनोति
न तथाप्ययं विरतिमूर्जितां पापतः॥ २५३॥

अर्थ—इस प्राणी ने मनुष्य, तिर्यंच, देव और नार की अवस्थाओं में पाप से होने वाले मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रकार के असह्य से असह्य दुःख भोगे हैं और बार-बार अनेक दुःख देने वाले शरीर धारण कर छोड़े हैं, परन्तु तब भी इसको पाप से विरक्ति नहीं होती यह बड़े आश्चर्य की बात है॥ २५३॥

भजत्यतनुपीडितो विरहकातरः कामिनीं
करोति मदनोज्झितो विरतिमङ्गनासंगतः।
तपस्यति मुनिः सुखी हसति विक्लवः क्लिश्यति
विचित्रमतिचेष्टितं श्रयति संसृतौ जन्मवान्॥ २५४॥

अर्थ—संसार में यह शरीर जिस समय कामदेव के बाणों से घायल हो विरह से कातर होता है उस समय कामिनियों के संग को चाहता है और जिस-किसी तरह उनकी प्राप्ति कर सुख मानता है, जिस समय काम से रहित हो शांत हो जाता है, उस समय उन स्त्रियों के संसर्ग को दूर कर देता है और मुनि होकर तप तपने लगता है,

जिस समय कुछ सुखी होता है, उस समय हंसने लगता है और दु:ख पड़ने पर रोने लगता है, इस तरह एक ही नाना चेष्टाओं को करता रहता है॥ २५४॥

अनेकभवसंचिता इह हि कर्मणा निर्मिताः
प्रियाप्रियवियोगसंगमविपत्तिसंपत्तयः।
भवन्ति सकलास्विमा गतिषु सर्वदा
देहिनां जरामरणवीचिके जननसागरे मज्जताम्॥ २५५॥

अर्थ—यह संसार समुद्र के समान अपरिमित है, इसमें जन्म, मरणरूपी लहरों के वेग से ताड़ित हो प्राणी गण सर्वदा मनुष्य आदि पर्यायों को धर-धर का घूमते हैं और अपने-२ कर्मों के अनुसार ही सर्वदा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, संपत्ति, विपत्ति आदि जन्य दु:खों को भोगते रहते हैं॥ २५५॥

करोम्यहमिदं तदा कृतमिदं करिष्याम्यदः
पुमानिति सदा क्रियाकरणकारणव्यापृतः।
विवेकरहिताशयो विगतसर्वधर्मक्षमो न वेत्ति
गतमप्यहो जगति कालमत्याकुलः॥ २५६॥

अर्थ—यह मूढ विवेकरहित प्राणी सर्वदा नाना प्रकार के कर्मों के करने में ही लगा रहता है और इस तरह विचारता रहता है कि अमुक समय अमुक काम तो मैंने कर लिया अब यह जरूरी है इसे कर डालूँ और फिर इसे भी कर डालूँगा, परन्तु धर्म की तरफ कभी भी कुछ ध्यान नहीं देता और जाते हुए काल को भी तनिक नहीं समझता॥ २५६॥

इमे मम धनाङ्गजस्वजनवल्लभादेहजा-
सुहृज्जनकमातुलप्रभृतयो भृशं वल्लभाः।
मुधेति हतचेतनो भववने खिद्यते यतो
भवति कस्य को जगति वालुकामुष्टिवत्॥ २५७॥

अर्थ—ये प्राणी रातदिन यह मेरा धन है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा मित्र है, ये स्त्री हैं, ये माता-पिता हैं, ये कुटुंबी हैं, ये मामा प्रभृति रिश्तेदार हैं, ये मेरे बड़े ही प्यारे हैं इन्हें छोड़कर मैं रह नहीं सकता इत्यादि मोह के वश हो समस्त मिथ्या बातों को सच समझता है और उनके संयोग-वियोग के खेद से खिन्न होता रहता है परन्तु इस बात को कभी नहीं सोचता कि इस संसार में बालू की मुठ्ठी के समान समस्त जीव भिन्न भिन्न हैं जिस प्रकार मुठ्ठी में ली गई बालू कभी एक नहीं होती उसके रेणु भिन्न-भिन्न ही रहते हैं उसी प्रकार किसी कारण वश एकत्र हुए भाई, बहिन आदि जीव भी अलग-अलग ही रहते हैं, एक कभी नहीं होते॥ २५७॥

तनूजजननीपितृस्वसृसुताकलत्रादयो
भवन्ति निखिला जनाः कृतपरस्परोत्पत्तयः।
किमत्र बहूनात्मनो जमति देहजो जायते
धिगस्तु भवसंततिं भवभृतां सदा दुःखदाम्॥ २५८॥

अर्थ—इस संसार में ऐसा कोई नियम नहीं है कि इस भव (जन्म) में जो माता है वह सर्वदा माता ही होती रहे, जो बाप है, वह बाप ही होता रहे और जो लड़का है, वह लड़का ही होता रहे, किंतु यह स्पष्ट देखने में आता है कि यह जीव बाप का लड़का, लड़के का बाप, माँ की लड़की, लड़की की माँ, बहिन की लड़की, लड़की की बहिन, स्त्री की बुआ, बुआ की स्त्री आदि एक-दूसरे से सर्वथा विरुद्ध पर्यायें रिश्ते-धारण करता है और बहुत कहाँ तक कहें यह जीव अपनी स्त्री के गर्भ से अपना ही आप पुत्र भी होता देखा गया है इसलिये सर्वदा अनन्त दुःखों को देने वाली इस संसार की स्थिति को धिक्कार है॥ २५८॥

विधाय नृपसेवनं धनमवाप्य चित्तेप्सितं
करोमि परिपोषणं निजकुटुम्बकस्याङ्गनाः।
मनोनयनवल्लभा समदना निषेवे तथा
सदेति कृतचेतसा स्वहिततो भवे भ्रश्यते॥ २५९॥

अर्थ—यह जीव सर्वदा राजा आदि की सेवा से मनमाने धन को कमा-कमा कर अपने कुटुंबियों का भरण-पोषण करता रहता है और जिस समय काम की बाधा होती है उस समय मन और नयनों को प्यारी-प्यारी लगने वाली काम से विह्वल युवतियों को सेवता है, इस तरह सर्वदा इधर-उधर की बातों में ही फंसा रहकर अपने हित से भ्रष्ट हो यह संसार चक्र में चक्कर लगाता फिरता है॥ २५९॥

विवेकविकलः शिशुः प्रथमतोऽधिकं
मोदते ततो मदनपीडितो युवतिसंगमं वाञ्छति।
पुनर्जरसमाश्रितो भवति सर्वनष्टक्रियो
विचित्रमतिजीवितं परिणतेर्न लज्जायते॥ २६०॥

अर्थ—यह विवेक रहितजीव लड़कपन में तो पहिले अधिक आनंद मानता है, युवा होने पर काम से पीड़ित हो नई-नई युवतियों के संग को चाहता है और वृद्ध होने पर समस्त चेष्टाओं से हीन हो जाता है इस तरह एक ही जन्म में नाना प्रकार की अवस्थाओं का अनुभव करता हुआ यह लज्जित नहीं होता॥ २६०॥

विनश्वरमिदं वपुर्युवतिमानसं चञ्चलं
भुजङ्गकुटिलो विधिः पवनगत्वरं जीवितम्।
अपायबहुलं धनं बत परिप्लवं यौवनं
तथापि न जना भवव्यसनसंततेर्विभ्यति॥ २६१॥

अर्थ—इस संसार में शरीर अनित्य है, युवतियों का मन चंचल है (आज किसी अन्य मनुष्य में फंसा है तो किसी अन्य में) देव (भाग्य) भुजंग के समान टेढ़ा है, (आज सुख दे रहा है कल ही दुःख देने लगता है) जीवन हवा (पवन) के समान गमनशील है, धन नाना कारणों से नष्ट हो जाता है और यौवन कालांतर में परिणमन शील है परन्तु तब भी यह मनुष्य इस प्रकार की भयानक संसार की स्थिति से नहीं डरता यह बड़े ही आश्चर्य की बात है॥ २६१॥

विपत्तिसहिताः श्रियोऽसुखयुतं सुखं जन्मिनां
वियोगविषदूषिता जगति सज्जनैः संगतिः।
रुजोरगबिलं वपुर्मरणनिन्दितं जन्मिनां
तदप्ययमनारतं हतमतिर्भवे रज्यति॥ २६२॥

अर्थ—यद्यपि इस संसार में जीवों को जो सम्पत्तियां मिलती हैं वे विपत्तियों से सहित हैं, सुख-दुःख से मिश्रित हैं, सज्जनों की संगति वियोग रूपी विष से विषैली है दुःखदायी है, शरीर रोगरूपी सर्पों का बिल है, जन्म-मरण सहित है तो भी यह जीव ऐसा अज्ञानी है कि उसी अवस्था में अपने को सुखी मानता है और उससे निकलने की कभी भी चेष्टा नहीं करता॥ २६२॥

असातहुतभुक्शिखाकवलितं जगन्मन्दिरं
सुखं विषमवातभुग्रसनवच्चलं कामजम्।
जलस्थशशिचञ्चलां भुवि विलोक्य लोकस्थितिं
विमुञ्चत जनाः सदा विषयमूर्छनां तत्त्वतः॥ २६३॥

अर्थ—यह जगत् रूपी महिला असाता (दुःख) अग्नि की प्रज्वलित ज्वाला से सर्वदा जलता रहता है, कामजन्य सुख सर्प की जिह्वा के समान चंचल है, क्षणस्थायी है और अन्य भी जो कुछ इस संसार में दृष्टिगोचर होता है वह भी जलस्थित चंद्रमा के प्रतिबिंब के समान अस्थिर है, इसलिये सज्जनों को चाहिये कि वे इस संसार के कारण भूत-परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दें॥ २६३॥

भवेऽत्र कठिनस्तनींस्तरललोचनाः
कामिनीर्धरापरिवृढश्रियश्चपलचामरभ्राजिताः।

रसादिविषयांस्तथा सुखकरान्न कःसेवते
भवेद्यदि जनस्य नो तृणशिरोऽम्बुवज्जीवितम्॥ २६४॥

अर्थ—यदि इस संसार में मनुष्य का जीवन तृण के ऊपर पड़े हुए ओस की बूंद के समान क्षण विनाशक न होता तो कौन पुरुष चंचल नेत्र वाली, कठिन स्तनी कामिनियों का संसर्ग न करता। ढुलते हुए चामरों से शोभित राज्यादि विभूति को न सेवता और मधुर-२ रसादि इंद्रियों के विषय को अनुभव में न लाता अर्थात् जो लोग वन में जा तपकर मुक्त हो गये हैं, वे हरगिज भी ऐसा न करते, सर्वदा जीवित रहने से सांसारिक सुख ही भोगा करते॥ २६४॥

हसन्ति धनिनो, जना गतधना रुदन्त्यातुराः,
पठन्ति कृतबुद्धयोऽकृतधियोऽनिशं शेरते।
तपन्ति मुनिपुङ्गवा विषयिणो रमन्ते तथा
करोति नटनर्तनक्रममयं भवे जन्मिनाम्॥ २६५॥

अर्थ—जिनको इस संसार में धन मिल जाता है वे तो हँसने लगते हैं और जिनका वह नष्ट हो जाता है वे आतुर हो रोना शुरू कर देते हैं, जिनको कुछ ज्ञान हैं, वे पढ़ते हैं और जो ज्ञान-रहित हैं वे रात-दिन आलस्य में ही ऊँघा करते हैं, जो कि मुनिश्रेष्ठ हैं, वे तप तपते हैं और जो विषयी हैं, इंद्रिय-लंपटी हैं, वे उन इंद्रिय के विषयों में ही फंसे रहते हैं, इस प्रकार रंगभूमि में नटों के समान मनुष्य नाना प्रकार की भिन्न-भिन्न चेष्टायें किया करते हैं॥ २६५॥

न किं तरललोचना समदकामिनीवल्लभा
विभूतिरपि भूभुजां धवलचामरच्छत्रभृत्।
मरुच्चलितदीपवज्जगदिदं विलोक्यास्थिरं
परन्तु सकलं जनाः कृतधियो वनान्ते गताः॥ २६६॥

अर्थ—काम के मद से विह्वल कामनियां क्षण विनाशक हैं, राजा-महाराजाओं की श्वेत चमर छत्र से शोभित संपत्तियां शीघ्र ही नष्ट होने वाली हैं और अन्य भी जो कुछ लौकिक सुख हैं वे भी पवन से प्रेरित दीपक की लौ के समान चंचल हैं, इत्यादि अनेक बातों को विचार कर जो लोग बुद्धिमान् हैं, ज्ञानी हैं, वे इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिये जंगल में जाकर तप तपते हैं॥ २६६॥

इति प्रकुपितोरगप्रमुखभङ्गुरां सर्वदा
निधाय निजचेतसि प्रबलदुःखदां संसृतिम्।
विमुञ्चत परिग्रहग्रहमनार्जव सज्जना
यदीच्छत सुखामृतं रसितुमस्तसर्वाशुभम्॥ २६७॥

अर्थ—इसलिये सज्जनों! यदि तुम्हारी इच्छा समस्त दुःखों से रहित चिरस्थायी सुख पाने की है तो इस प्रकुपित सर्पादि से क्षणभंगुर संसार के जीवन को प्रबल दुःख देने वाला समझो और उससे छुटकारा पाने के लिये कुटिल परिग्रह के ग्रहण का त्याग करो समस्त पदार्थों में ममता छोड़ दो॥ २६७॥

मनोभवशरार्दितः स्मरति कामिनीं यो
नरो विचिन्तयति सा परं मदनकातराङ्गी नरम्।
परोऽपि परभामिनीमिति विभिन्नभावेप्सितां
विलोक्य जगतः स्थितिं बुधजनास्तपःकुर्वते॥ २६८॥

अर्थ—जो लोग विचारशील हैं, हित-अहित के ज्ञाता हैं, वे संसार की रीति को इस प्रकार की समझकर कि देखो! काम के बाणों से पीड़ित हो पुरुष जिस कामिनी को चाहता है, वह कामिनी उसको नहीं चाहती, जिस पुरुष को वह चाहती है वह पुरुष उसको नहीं चाहता और वह तीसरा पुरुष भी जिस कामिनी को चाहता है, वह उसे नहीं चाहती इत्यादि महादुःखदायिनी है, तप तपने वन में चले जाते हैं॥ २६८॥

॥ ११ ॥

जरानिरूपण

जनयति वचोऽव्यक्तं, वक्त्रं तनोति मलाविलं,
स्खलयति गतिं, हन्ति स्थाम, श्लथीकुरुते तनुम्।
दहति शिखिवत्सर्वाङ्गानां च यौवनकाननं,
गमयति वपुर्मर्त्यानां वा, करोति जरा न किम्॥ २६९॥

अर्थ—बुढ़ापे के आने से मनुष्य के वचन अव्यक्त हो जाते हैं, जीभ लड़खड़ाने लगती है, मुँह सर्वदा मल से भरा रहता है, लार, कफ आदि बहने लगते हैं, गति स्खलित हो जाती है, चलने पर पैर कहीं रखने पर कहीं रख जाते हैं, सामर्थ्य नष्ट हो जाती है, शरीर शिथिल होने लगता है, अग्नि से जलाये गये वन के समान यौवन खाक में मिल जाता है और कहाँ तक कहें जिस अवस्था का पहिले कभी अनुमान तक नहीं कर सकते वह बुढ़ापे से इस शरीर की हो जाती है॥ २६९॥

प्रवलपवनपातध्वस्तप्रदीपशिखोपमैरलि-
मलनिभैः कामोद्भूतैः सुखैर्विषसंनिभैः।
समपरिचितैर्दुःखप्रान्तैः सतामतिनिन्दितैरिति
कृतमानाः शङ्के वृद्धः प्रकम्पयते करौ॥ २७०॥

अर्थ—हमारा अनुमान है कि बुढ़ापे के कारण जो मनुष्य हाथ कँपाते हैं, वे सर्वदा अपने अतरंग के इस प्रकार के भाव प्रकट करते रहते हैं कि भाईयो! हमने जो यौवन अवस्था में कामजन्य सुख भोगे थे, वे अब विषतुल्य हानिकारक सिद्ध हुये, आँधी के वेग से बुझाई गई दीपक की लौ के समान क्षण विनाशक और महादुःख के स्थान निकले, सज्जन लोग जो पहले से इनकी निंदा करते हैं सो बिलकुल ठीक है उसमें तनिक भी झूठ नहीं। इसलिये इनका भोगना सर्वथा अनुचित ही है॥ २७०॥

चलयति तनुं दृष्टेर्भ्रान्तिं करोति शरीरिणां,
रचयति बलादव्यक्तोक्तिं, तनोति गतिक्षतिम्।
जनयति जने नुद्यां निन्दामनर्थपरम्परां हरति
सुरभिं गन्धं देहाज्जरा मदिरा यथा॥ २७१॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीने से शरीर को चल-विचल कर देती है, आँखों को घुमा देती है, अस्फुट वचन कहलवाती है, चलने में बाधा डालती है, लोगों में निंदा का पात्र बना देती है और देह में सुगंधि हर दुर्गन्धि कर देती है, उसी प्रकार जरा वृद्धावस्था भी शरीर को कँपा देती है, आंखों में ज्योति कम कर देने से दृष्टि में भ्रांति कर देती है, टूटे-फूटे कुछ के कुछ शब्द बुलवाती है, पूर्व की भांति ठीक-२ नहीं चलने देती, लोगों में निंदायें करवाती है और शरीर को दुर्गन्धमय कर देती है॥ २७१॥

भवति मरणं प्रत्यासन्नं विनश्यति यौवनं,
प्रभवति जरा सर्वाङ्गानां विनाशविधायिनी।
विरमत बुधाः कामार्थेभ्यो वृषे कुरुतादरं
वदितुमिति वा कर्णोपान्तस्थितं पलितं जने॥ २७२॥

अर्थ—वृद्धावस्था आने के समय शिर में जो कुछ श्वेत केश हो जाते हैं, वे लोगों के कान के पास आकर अपने आगमन से इस बात की सूचना देते हैं कि हे विद्वानों, हिताहित विवेकियों! तुम्हारा मरण अब समीप है—शीघ्र ही आने वाला है, यौवन की अवधि पूरी हो चुकी, यह भी अब नष्ट होने के ही करीब है, देखो, वह तुम्हारे पीछे-पीछे बुढ़ापा आ रहा है जिससे कि तुम्हारे वे अंग जो कि इस समय काम करने में समर्थ हैं शक्तिहीन हो जांयगे-किसी काम के न रहेंगे इसलिये काम, अर्थ को छोड़ो-इनको जो अब तक भोग चुके सो भोग चुके, अब धर्म की ओर ध्यान दो, अंत के दिनों में भी कुछ अपना हित कर लो॥ २७२॥

मदनसदृशं यं पश्यन्ती विलोचनहारिणी
शिथिलिततनुः कामावस्थां गता मदनातुरा।
तदपि जरसा शीर्णं मर्त्यं बलादिह भोज्यते
जगति युवतिर्वा भैषज्यं विमुक्तरतस्पृहा॥ २७३॥

अर्थ—लोचनों को प्रिय लगने वाली युवतियां पहले जिसको काम के समान सुंदर मानतीं थीं और जिसे देखकर शिथिल शरीर को धारण करने वाली काम से पीड़ित हो जाती थीं, उसी को वृद्धावस्था में जब जरा से शीर्ण महानिंदित रूप का धारी देखती हैं तो वे यद्यपि काम की स्पृहा से बिलकुल रहित हो जाती हैं तो भी औषध के समान इच्छा न रखने पर भी जबरन भोगी जाती है॥ २७३॥

भवति विषयान् भोक्तुं न च क्षमचेष्टितो
वपुषि जरसा जीर्णो देही विधूतबलः परम्।
रसति तरसा त्वस्थीनि श्वा यथा त्रपयोज्झितः
कररसनया धिग्जीवानां विचेष्टितमीदृशम्॥ २७४॥

अर्थ—यद्यपि बुढ़ापे से ग्रस्त निर्बल हो जाता है—उसकी शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाती है तथापि उसके इंद्रिय विषयों के छोड़ने की इच्छा न होकर भोगने की ही इच्छा बनी रहती है और जिस प्रकार रक्त-मांस-रहित हड्डी को तृष्णा के वश कुत्ता चबाया ही करता है-छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार वह उस वृद्धावस्था में भी उन इंद्रिय-विषयों को सेया ही करता है, छोड़ने का मन नहीं करता, इसलिये जीवों के चेष्टाओं को बार-बार धिक्कार है॥ २७४॥

तिमिरपिहिते नेत्रे लालावलीमलिनं मुखं
विगलितगती पादौ देहो विसंस्थुलतां गतः।
पलितकलितो मूर्धा कम्पत्यबोधि जराङ्गना-
मिति कृतपदां तृष्णा नारी तथापि न मुञ्चति॥ २७५॥

अर्थ—संसार की ऐसी रीति है कि स्त्री एक पुरुष में तब तक ही प्रेम (अनुराग) करती रहती है, जब तक वह पुरुष उसी स्त्री को चाहता रहता है और ज्यों ही उस पुरुष ने अन्य स्त्री को चाहा—उसका स्थान अन्य को दे दिया, त्यों ही वह क्रोध करने लग जाती है और उसे छोड़ने पर उतारू हो जाती है, परंतु तृष्णा रूपी स्त्री ऐसी निर्ल्लज्ज है—स्त्रियों के कायदे के विरुद्ध काम करने वाली है कि—पुरुष को जरारूपी अपनी सौत से ग्रसा हुआ जानकर भी नहीं छोड़ना चाहती। यद्यपि उसको इस बात का निश्चय हो जाता है कि-इस पुरुष के नेत्र मंद ज्योति हो गये हैं, मुंह लार, कफ आदि से भरा रहता है, पैर ठीक-ठीक अपना काम नहीं देते—चलने में लड़खड़ाते हैं, देह शिथिल झुर्रीदार हो गया है और कांपता हैं, इसलिये जरारूपी द्वितीय स्त्री ने इसे अपना लिया है, परंतु तो भी वह उसे नहीं छोड़ती॥ २७५॥

गलति सकलं रूपं, लालां विमुञ्चति जल्पनं,
स्खलति गमनं, दन्ता नाशं श्रयन्ति शरीरिणः।
विरमति मतिर्नो शुश्रूषां करोति च गेहिनी,
वपुषि जरसा ग्रस्ते वाक्यं तनोति न देहजः॥ २७६॥

अर्थ—जब कि यह मनुष्य जरा से ग्रस्त हो जाता है, इसका संपूर्ण रूप नष्ट-भ्रष्ट होने लगता है, तब बोलने में थूक गिरता है, चलने में पैर टेढ़े हो जाते हैं, दांत गिर पड़ते हैं, बुद्धि अपना काम नहीं करती, अपनी खास स्त्री भी सेवा-शुश्रूषा करना छोड़ देती है, पुत्र भी आज्ञा नहीं मानता॥ २७६॥

रचयति मतिं धर्मे, नीतिं तनोत्यतिनिर्मलां,
विषयविरतिं धत्ते, चेतः शमं नयते पराम्।
व्यसननिहतिं दत्ते, सूते विनीतिमथार्चितां
मनसि निहिता प्रायः पुंसां करोति जरा हितम्॥ २७७॥

युवतिरपरा नो भोक्तव्या त्वया मम संनिधा-
विति निगदितस्तृष्णां योषां न मुञ्चसि किं शठ।
निगदितुमिति श्रोत्रोपान्तं गतेव जराङ्गना
पलितमिषतो न स्त्रीमन्यां यतः सहतेऽङ्गना॥ २७८॥

अर्थ—परंतु ऐसा करने पर भी यदि हित बुद्धि से विचारा जाय तो जरा (बुढ़ापा) एक तरह से इस प्राणी का हित ही करती है क्योंकि देखो! इसके आने से विवेकियों की बुद्धि धर्म में आरूढ हो जाती है, अत्यंत निर्मल नीति का आचरण होने लगता है, विषयों से विरक्ति हो जाती है, चित्त में एक अभूत पूर्व शांति का आविर्भाव हो जाता है, पवित्र विनय आने लगती है और जो श्वेत केश हो जाते हैं उनसे कान के समीप आकर ऐसा कहती हुई के समान मालूम पड़ने लगती है कि हे बुद्धिमानों! अब मैं तुम्हारी हितकारिणी जरा स्त्री आ गई। मेरे सामने तुमको इस दुष्टा तृष्णा का संपर्क न करना चाहिये, इसकी संगति से तुमने नाना दुःख उठा लिये हैं अब क्यों नहीं इसका साथ छोड़ते क्योंकि स्त्री सौत को अपने सामने इस तह पति में आसक्त कभी नहीं देख सकती॥ २७७॥ २७८॥

वचनरचना जाताऽव्यक्ता मुखं वलिभिः श्रितं,
नयनयुगलं ध्वान्ताघ्रातं श्रितं पलितं शिरः।
विघटितगती पादौ हस्तौ सवेपथुतां गतौ
तदपि मनस्तृष्णा कष्टं व्युपैति न देहिनाम्॥ २७९॥

अर्थ—यद्यपि मनुष्यों की वचन-रचना अव्यक्त होने लगती है, मुँह पर झुर्रियां पड़ जाती हैं, दोनों नेत्र मंद-ज्योति हो जाते हैं, शिर केशों से श्वेत हो जाता है, पैर टेढ़े-मेढ़े पड़ने लगते हैं, और हाथों में कँपकँपी आने लगती है परन्तु तो भी इनके मन की हवस (तृष्णा) नहीं मिटती, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है॥ २७९॥

सुखकरतनुस्पर्शां गौरीं करग्रहलालितां
नयनदयितां वंशोद्भूतां शरीरबलप्रदाम्।
धृतसरलतां वृद्धो यष्टिं न पर्वविभूषितां
त्यजति तरुणीं त्यक्त्वाप्यन्यां जरावनितासखीम्॥ २८०॥

अर्थ—वृद्धावस्था आने से यद्यपि मनुष्य शरीर के स्पर्श से सुख देने वाली, नेत्रहारिणी, कुलीन, शारीरिक बल प्रदात्री, सरला अपनी धर्मगृहीत भामिनी को छोड़ देता है-उसका संग नहीं करता तो भी यह उस वृद्धावस्था की सखी का काम देने वाली, कोमलस्पर्श से सहित, नेत्रों को प्यारी, उत्तम वंश (वांस) से उत्पन्न, शरीर की सहायक, उत्तम पर्व (मूठ) से शोभित सीधी-साधी यष्टिरूपी नवीन स्त्री को ग्रहण कर

लेता है, उसके सहारे पकड़-पकड़कर चलता है॥ २८०॥

त्यजसि न हते तृष्णायोषे जराङ्गनया नरं
रमितवपुषं धिक्के स्त्रीत्वं शठे त्रपयोज्झिते।
इति निगदिता कर्णाभ्यर्णे गतैः पलितैरियं
तदपि न गता तृष्णा का वा नु मुञ्चति बल्लभाम्॥ २८१॥

अर्थ—बुढ़ापे से श्वेत हुए जो केश रूपी सभ्य पुरुष हैं वे तृष्णा रूपी स्त्री को बार-बार धिक्कारते और यह बात कहते मालूम पड़ते हैं कि-हे लज्जा रहित तृष्णे! इस पुरुष को अब तू छोड़ दे, यह तेरे काम का नहीं रहा। क्योंकि जो श्रेष्ठ स्त्रियाँ होती हैं वे अपने सामने अपनी सपत्नी का साम्राज्य नहीं देख सकती। इसलिये देख! यह पुरुष जरा रूपी स्त्री के फंदे में पड़ चुका है। इसका अब और सेवना तुझे धिक्कार है। परन्तु यह तृष्णा स्त्री इतनी वेशरम और स्त्रीत्व से गिरी हुई है कि उसे तब भी नहीं छोड़ती। सो ठीक ही है दूसरों को धिक्कारने से कोई कैसे अपने प्यारे को छोड़ सकता है?॥ २८१॥

त्यजत विषयान् दुःखोत्पत्तौ पटूननिशं
खलान्भजत विषयान् जन्मारातेर्निराशकृतौ हितान्।
जरयति यतः कालः कायं निहन्ति च जीवितं
वदितुमिति वा कर्णोपान्ते गतं पलितं जनाः!॥ २८२॥

अर्थ—अथवा अरे सज्जनों! सदा नाना प्रकार के दुःख देने वाले महा दुष्ट विषयों का तो त्याग करो और जो विषय जन्म-मरण को नष्ट करने वाले और परम हितकारी हैं उनका अवलंबन करो, क्योंकि काल नष्ट होता जाता है और जीवन शरीर क्षीण करता चलता है, इस बात को जानने के लिये ही मानों पलित श्वेत केशों ने कान के पास आकर स्थिति की है ऐसा जान पड़ता है॥ २८२॥

हरति विषयान् दण्डालम्बे करोति गतिस्थिती
स्खलयति पथि स्पष्टं नार्थं विलोकयितुं क्षमा।
परिभवकृताः सर्वाश्चेष्टास्तनोत्यनिवारिता
कुनृपमतिवद्देहं नृणां जरा परिजृम्भते॥ २८३॥

अर्थ—जिस समय बुढ़ापा मनुष्य की देह में आकर अपना डेरा जमाती है उस समय उसकी समस्त चेष्टायें कुनृप की बुद्धि की-सी कर देती है अर्थात् जिस प्रकार खोटे नृप की बुद्धि विषयों को विचारने योग्य बातों को छोड़ देती है, उसी प्रकार यह बुढ़ापे से ग्रस्त पुरुष भी विषयों, इंद्रिय-भोगों को छोड़ देता है, जिस प्रकार कुनृप की

बुद्धि गतिस्थिति-शांति और विरोध में सब जगह दंड-नियमन का ही अवलंबन करती है। उसी प्रकार बुड्ढा आदमी भी गति-स्थिति, चलने-फिरने और बैठने आदि सब अवस्थाओं मे दंड-यष्टि (लाठी) का ही अवलंबन करता है, जिस प्रकार वह कुनृप की बुद्धि पथ-न्याय मार्ग में स्खलित हो जाती है—योग्यायोग्य का विचार नहीं कर सकती उसी प्रकार इस जराग्रस्त मनुष्य का भी पथ—रास्ता (मार्ग) में स्खलित हो जाता है थोड़ी दूर चलकर बैठता जाता है, जिस प्रकार कुनृप की बुद्धि अर्थ-वास्तविक तत्त्व को स्पष्टतया नहीं देख सकती, उसी प्रकार वह (बुड्ढा) भी अर्थ-पदार्थों को स्पष्टतया नहीं देख सकता और जिस प्रकार कुनृप की बुद्धि समस्त परिभव-तिरस्कार फल देने वाली चेष्टाओं को करती है, उसी प्रकार वृद्ध भी समस्त वैसी ही परिभव फल देने वालीं चेष्टाओं को करता है॥ २८३॥

शिरसि निभृतं कृत्वा पादं प्रपातयति द्विजान्
पिबति रुधिरं, मांसं सर्वं समत्ति शरीरिणाम्।
स्थपुटविषमं चर्माङ्गानां दधाति शरीरिणां
विचरति जरा संहाराय क्षितावि‌व राक्षसी॥ २८४॥

अर्थ—जिस प्रकार पृथ्वी में कुपित हुई राक्षसी पहिले लोगों के शिर पर पैर रखती है और फिर द्विजों का— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का संहार-नाश कर खून को पी डालती है, समस्त मांस को खा जाती है, केवल हाड़ हाड़ छोड़ देती है और चर्मार्गों को तितर-बितर कर विषम कर देती है, उसी प्रकार यह जरा वृद्धावस्था भी पहिले लोगों के शिर पर पैर रख द्विजों-दांतों को गिरा देती है, अर्थात् जरा-ग्रस्त पुरुष के शिर के समस्त केश श्वेत हो जाते हैं और दांत एक भी नही रहता और फिर खून को पीकर सुखा डालती है, मांस तनिक भी नहीं छोडती—केवल हाड़ ही हाड़ रह जाते हैं और चर्मांगों को विषम झुर्रीदार कर देती है॥ २८४॥

भुवनसदनप्राणिग्रामप्रकम्पविधायिनी
निकुचिततनुर्भीमाकारा जराजरती रुषा।
निहितमनसं तृष्णानार्यां निरीक्ष्य नरं भृशं
पलितमिषतो जातेर्ष्या वा करोति कचग्रहम्॥ २८५॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार अपनी सौत को आलिंगन करते देखकर कुपित हुई भयंकर कोई स्त्री अपने स्वामी के केशों को पकड़ लेती है और अपने इस प्रकार के वर्त्ताव से समस्त कुटुंबियों की देह में कँपकँपी छुड़ा देती है, उसी प्रकार यह भंयकर जरा रूपी स्त्री भी तृष्णा रूपी भार्या में पुरुष को अधिकाधिक फंसा हुआ देखकर श्वेत हुए केशों के छल से इसके केश पकड़ लेती है और समस्त संसार रूपी गृह के प्राणी

समुदाय की देह में घृणा से कँपकँपी छुड़ा देती है॥ २८५॥

विमदमृषिवच्छ्रीकण्ठं वा गदाङ्कितविग्रहं
शिशिरकरवद्वक्त्रं वेशं विरूपविलोचनम्।
रविमिव तमोमुक्तं दण्डाश्रितं च यमं यथा
वृषमपि विना मर्त्यं निन्द्या करोतितरां जरा॥ २८६॥

अर्थ—यह निंदनीय जरा बिना ही धर्म किये मनुष्य को देवों का स्वरूप दे देती है। देखो! जिस प्रकार ऋषि विमद-घमंड रहित होते हैं, उसी प्रकार यह मनुष्य भी को विमद-वीर्य रहित बना देती है, जिस प्रकार श्रीकृष्ण गदांकित-गदा अस्त्र से चिह्नित हैं, उसी प्रकार यह भी मनुष्य को गद-रोग से अंकित सहित कर देती है, जिस प्रकार महादेव-विरूप असमान तीन नेत्रों के धारक हैं, उसी प्रकार यह भी मनुष्य के रूप को कुरूप और नेत्रों को मंदज्योति कर देती है, जिस प्रकार सूरज तमोमुक्त-अंधकार से रहित है, उसी प्रकार यह भी मनुष्य को तमोमुक्त-तम-निद्रा से मुक्त-रहित कर देती है और जिस प्रकार यमराज दंड अस्त्र विशेष के धारक हैं, उसी प्रकार यह भी मनुष्य को दंड-यष्टि के आश्रित कर देती है॥ २८६॥

विगतदशनं शश्वल्लालाततताकुलसृक्कं
स्खलति चरणाक्षेपं तुण्डापरिस्फुटजल्पनम्।
रहितकरणव्यक्तारम्भं मृदूकृतमूर्धजं
पुनरपि नरं पापा बालं करोतितरां जरा॥ २८७॥

अर्थ—अथवा यह जरा मनुष्य को पुनः बालक बना देती है, क्योंकि जिस प्रकार बालक दांत-रहित होता है, उसी प्रकार बुड्ढा आदमी भी दांत-रहित हो जाता है, जिस प्रकार बालक का मुंह सर्वदा लार-थूक से भरा रहता है, उसी प्रकार इस (बुड्ढे) का मुँह भी लार-थूक से सर्वदा भरा रहता है जिस प्रकार बालक पहले तो चल नहीं सकता यदि चलने का मन भी करता है तो थोड़ी सी दूर में ही बार-बार स्खलित होता जाता है उसी प्रकार बुड्ढा आदमी भी पहले तो चल नहीं सकता। यदि चलता भी है तो बार-बार स्खलित होने लगता है। जिस प्रकार बालक मुख से स्पष्ट नहीं बोलता, उसी प्रकार बुड्ढा भी स्पष्ट नहीं बोल सकता। जिस प्रकार बालक की इन्द्रियां प्रबल न होने से अच्छी तरह कार्य नहीं कर सकती उसी प्रकार इस वृद्ध की इन्द्रियां भी प्रबल न होने से अच्छी तरह कोई काम नहीं कर सकती और जिस प्रकार बालक के केश कोमल होते हैं उसी प्रकार इस (वृद्ध) के केश भी कोमल हो जाते हैं॥ २८७॥

अहह नयने मिथ्यादृग्वत्सदीक्षणवर्जिते
श्रवणयुगलं दुष्पुत्रो वा शृणोति न भाषितम्।
स्खलितचरणद्वन्द्वं मार्गे मदाकुललोकवद्-
वपुषिजरसा जीर्णे वर्णो व्यपैति कलत्रवत्॥ २८८॥

अर्थ—वृद्धावस्था आने से मनुष्य के नेत्र तो मिथ्या-दृष्टि के समान सदीक्षण (सम्यग्दर्शन या स्पष्ट देखने) से रहित हो जाते हैं, अर्थात् जिस प्रकार मिथ्या-दृष्टि जीव सत्तत्त्वों का श्रद्धान नहीं कर सकता, उसी प्रकार बुड्ढे के नेत्र भी अच्छी तरह नहीं देख पाते, कर्ण कुपुत्र के समान बात नहीं सुनते अर्थात् जिस प्रकार कुपुत्र पिता की आज्ञा को नहीं सुनता, उसी प्रकार कान भी किसी बात को नहीं सुनते, पैर मदोन्मत्त मनुष्य के समान मार्ग में बार-बार स्खलित होने लगते हैं, अर्थात् जिस प्रकार मदिरा को पीया हुआ मनुष्य इधर-उधर मार्ग में गिरने पड़ने लगता है, उसी प्रकार बुड्ढे के पैर भी चलने में लड़खड़ाने लगते हैं और शरीर का रंग युवती स्त्री के समान छोड़कर दूर चला जाता है अर्थात् जिस प्रकार बुड्ढे को छोड़कर युवती स्त्री अन्यत्र चली जाती है, उसी प्रकार शरीर का रंग भी बुढ्ढे को छोड़कर दूर चला जाता है॥ २८८॥

मुदितमनसो दृष्ट्वा रूपं यदीयमकृत्रिमं
परवशधियः कामाक्षिप्तभर्भवन्ति शिलीमुखैः।
धवलितमुखभ्रूमूर्धानं जरसा धरात्रयं
झटिति मनुजं चाण्डालं वा त्यजन्ति जनां जनाः॥ २८९॥

अर्थ—जिस पुरुष के अकृत्रिम स्वाभाविक रूप को देखकर जो स्त्रियां पहिले हर्षित चित्त हो जाती थी और काम के बाणों से बेधी जाने के कारण उसी के अधीन होने लगती थीं, वे ही जब उसी पुरुष के जरा से ग्रस्त हुए शिथिल मुँह और श्वेत भौंह तथा केश वाले कांतिहीन शरीर को देख लेती हैं तो उसे चांडाल के समान अस्पृश्य समझकर शीघ्र ही छोड़ देती हैं॥ २८९॥

नयनयुगलं व्यक्तं रूपं विलोकितुमक्षमं
पलितकलितो मूर्धा कम्पी श्रुती श्रुतिवर्जिते।
वपुषि जरसाश्लिष्टे नष्टं विचेष्टितमुत्तमं
मरणचकितो नाङ्गी धत्ते तथापि तपो हितम्॥ २९०॥

अर्थ—बुढ़ापे के आने से मनुष्य की आँखें स्पष्ट नहीं देख सकती, बाल श्वेत हो जाते हैं, शिर कँपने लगता है, कान किसी बात को नहीं सुनते, श्रेष्ठ काम करना छूट जाता है और मरण के दिन समीप आने लगते हैं, परन्तु यह प्राणी ऐसा मूर्ख है कि तब भी अपने हित-स्वरूप तप को नही करता॥ २९०॥

द्युतिगतिधृतिप्रज्ञालक्ष्मीपुरःसरयोषितः
सितकचवलिव्याजान्मर्त्यं निरीक्ष्य जराङ्गतम्।
प्रदधति रुषा तृष्णा नारी पुनर्न विनिर्गता
त्यजति हि न वा स्त्री प्रेयांसं कृतागसमप्यलम्॥ २९१॥

अर्थ—शिर के केश श्वेत हो जाने के कारण जरा रूपी अन्य स्त्री का अपने पुरुष पर आधिपत्य आया देख रोष के वश हो कांति, गति, धृति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि अन्य स्त्रियां तो उसे (पुरुष को) छोड़कर चली जाती हैं, परन्तु एक तृष्णा रूपी नारी नहीं जाती, सो ठीक ही है, अपराधी होने पर भी अपने प्यारे को कौन स्त्री छोड़ सकती है?

भावार्थ—बुढ़ापे के आने से मनुष्य की कांति आदि शक्तियाँ तो घट जाती हैं, परन्तु तृष्णा (हवस) नहीं मिटती वह उसकी और भी बढ़ती ही जाती है॥ २९१॥

परिणतिमतिस्पष्टां दृष्ट्वा तनोगुणनाशिनीं
झटिति तु नराः संसाराब्धेः समुत्तरणोद्यताः।
जिनपतिमतं श्रित्वा पूतं विमुच्य परिग्रहं
विदधति हितं कृत्यं सम्यक्तपश्चरणादिकम्॥ २९२॥

अर्थ—इसलिये जो लोग बुद्धिमान् हैं, शरीर की रात-दिन नष्ट होने वाली परिणति को जानने वाले हैं, वे संसार-समुद्र से पार होने के लिये जिनेंद्र, सर्वज्ञ, वीतराग भगवान् के परम पवित्र आगमन का आश्रय लेते हैं और समस्त परिग्रहों—सांसारिक ममताओं से रहित श्रेष्ठ तपश्चरणादिक हित कार्यों में लगते हैं॥ २९२॥

॥ १२ ॥

मृत्युनिरूपण

संसारे भ्रमतां पुरार्जितवशाद् दुःखं सुखं वाश्नुतां
चित्रं जीवितमङ्गिनां स्वपरतः संपद्यमानापदाम्।
दन्तान्तःपतितं मनोहररसं कालेन पक्वं फलं
स्थास्यत्यत्र कियच्चिरं तनुमतस्तीव्रक्षुधाचर्वितम्॥ २९३॥

अर्थ—पूर्वजन्म में उपार्जित पाप और पुण्य के द्वारा सुख और दुःख को भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करने वाले तथा स्व और पर से अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करने वाले प्राणियों का चित्र-विचित्र जीवन भूख से व्याकुल मनुष्य के दांतों के मध्य में आये हुए मनोहर रस के धारक और स्वयं अपने काल में पके हुए फल के समान कितने काल तक स्थिर रह सकता है, अर्थात् जिस प्रकार क्षुधा से पीड़ित मनुष्य के दांतों के नीचे मधुर पका हुआ फल अधिक समय तक नहीं रह सकता, वह उसे शीघ्र ही निगल जाता है, उसी प्रकार समय की मर्यादा से निश्चित मनुष्य का जीवन भी कब तक स्थिर रह सकता है? अर्थात् अवश्य ही किसी न किसी दिन उसका अंत हो जायगा॥ २९३॥

नित्यं व्याधिशताकुलस्य विधिनां संक्षिप्यमाणायुषो
नाश्चर्यं भववर्तिनः श्रमवतो यज्जायते पञ्चता।
किं नामाद्भुतमत्र काननतरोरत्याकुलात्पक्षिभि-
र्यत्प्रोद्यत्पवनप्रतापनिहतं पक्वं फलं भ्रश्यति॥ २९४॥

अर्थ—सर्वदा सैकड़ों, हजारों व्याधियों से व्याकुलित रहने वाला, दैव द्वारा निश्चित की गई आयु का, जन्म-स्थिति का धारक, परिश्रम से थका हुआ यह जीव यदि मर जाता है—इसके प्राण निश्चेष्ट होकर निकल जाते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं। क्योंकि पक्षियों से सर्वदा व्याप्त रहने वाले और आंधी से कँपाये गये वन के वृक्ष का यदि पका हुआ फल गिर जाये, डाली से अलग हो पृथ्वी पर पड़ जाय तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—जिस प्रकार वृक्ष का पका हुआ फल एक तो पकने पर स्वयं ही गिरने

वाला होता है और दूसरे यदि पक्षियों से हिलाया गया हो उनके आवागमन छेड़ छाड़ से ताड़ित हुआ हो बड़े जोर-शोर की आंधी (वात्या) के झोंकों से झकझोरा गया हो तो वह बहुत ही जल्दी गिर जाता है, उसके उस प्रकार से गिर जाने में कोई आश्चर्य नहीं मानता, उसी प्रकार एक तो यह प्राणी पकने पर दैव द्वारा निश्चित आयु के समाप्त होने पर स्वयं ही मर जाता है—प्राणों से वियुक्त होकर निचेष्ट हो जाता है और दूसरे फिर इसके पश्चात् सैकड़ों स्वजन्य, परजन्य सुख-दुःख लगे रहते हैं, हजारों लाखों व्याधियाँ लगी रहती हैं, उस पर भी यदि यह शीघ्र न मरे तो बड़ा ही आश्चर्य है और मर जाने में तो कोई आश्चर्य ही नहीं दिखाई देता॥ २९४॥

निर्धूतान्यबलोऽविचिन्त्यमहिमा प्रध्वस्तदुर्गक्रियो
विश्वव्यापिगतिः कृपाविरहितो दुर्बोधमन्त्रः शठः।
शस्त्रास्त्रोदकपावकारिपवनव्याध्यादिनानायुधो
गर्भादावपि हन्ति जन्तुमखिलं दुर्वारवीर्यो यमः॥ २९५॥

अर्थ—यह यम बड़ा ही बलवान् है, इसके सामने भले-भले योधाओं के दांत खट्टे हो जाते हैं, इसकी महिमा अपरंपार है, यह किलों, जंगलों आदि दुर्गम स्थानों तक में चला जाता है, इसकी गति अप्रतिहत है, यह किसी के रोके नहीं रुकता—जहां मन करता है, वहां ही बढ़ा चला जाता है, यह बड़ा ही निर्दय है, हजारों लाखों विनतियाँ करने पर भी नहीं मानता, अपने मन ही की-सी करता है, इसका मंत्र बड़ा ही दुर्बोध है, कोई भी यह पता नहीं पा सकता कि इसका क्या विचार है, यह जिस पर कुपित होता है, उसे शस्त्र, अस्त्र, जल, अग्नि, शत्रु, पवन, आधि, व्याधि आदि किसी न किसी अपने तीक्ष्ण हथियार से मार ही गिराता है, छोड़ता नहीं है अधिक क्या कहें? यह अपने शत्रु को गर्भ आदि गुप्त स्थानों तक में मार डालता है॥ २९५॥

प्राज्ञं मूर्खमनार्यमार्यमधनं द्रव्याधिपं दुःखितं
सौख्योपेतमनाममामनिहतं धर्मार्थिनं पापिनम्।
व्यावृत्तं व्यसनादराद् व्यसनिनं व्यासाकुलं दानिनं
शिष्टं दुष्टमनार्यमर्यमखिलं लोकं निहन्त्यन्तकः॥ २९६॥

अर्थ—यम इस संसार में किसी का भी मित्र नहीं है, वह पण्डित, मूर्ख, सज्जन, दुर्जन, भाग्यवान्, गरीब, सुखी, दुःखी निरोगी, रोगी, पुण्यात्मा, पापी, जितेन्द्रिय, विजितेन्द्रिय, दानी, लोभी, दुष्ट, शिष्ट, मित्र, शत्रु, आदि सब को समय पर निगल जाता है॥ २९६॥

देवाराधनमन्त्रतन्त्रहवनध्यानगृहेज्याजप-
स्थानत्यागधराप्रवेशगमनव्रज्याद्विजार्चादिभिः।

अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानङ्गीकृतो भक्षितुं
व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितुम्॥ २९७॥

अर्थ—जिस समय यमराज नाराज होते हैं, मनुष्य पर क्रोध करते हैं, उस समय भूखे बाघ के सामने पड़े हिरण के समान मनुष्यों का जीवन किसी प्रकार भी रक्षित नहीं रह सकता। चाहे मनुष्य बड़े से बड़े देवों का आराधन करे, चाहे सैकड़ों मंत्र, तंत्र सिद्ध कर डाले, चाहे होम, ध्यान, पूजा, जप, तप, आदि में खूब मन लगाये, चाहे स्थान छोड़ धरती में घुस जाये, चाहे दूर-देशान्त में चला जाये, चाहें दीक्षा ले ले और चाहें ब्राह्मणों की पूजा आदि नाना कार्य करे, परन्तु यम क्रुद्ध होने पर उसे कहीं किसी तरह नहीं छोड़ सकता॥ २९७॥

प्रारब्धो ग्रसितुं यमेन तनुमान् दुर्वारवीर्येण य-
स्तं त्रातुं भुवने न कोऽपि सकले शक्तो नरो वा सुरः।
नो चेद्देवनरेश्वरप्रभृतयः पृथ्व्यां सदा स्युर्जना
विज्ञायेति करोति शुद्धधिषणो धर्मे मतिं शाश्वते॥ २९८॥

अर्थ—जिस पुरुष को यम ग्रसना चाहता है, उसे इस संसार में क्या मनुष्य और क्या देव कोई भी नहीं बचा सकता। यदि इन क्षुद्र शक्तिधारियों में उससे बचाने की सामर्थ्य होती तो संसार में आज कितने ही देवेंद्र और नरेन्द्र आदि दृष्टि-गोचर होते, वे कभी भी न मरते, इसलिये जो विद्वान् हैं, वे सांसारिक कार्यों को अनित्य समझकर सदा अविनाशी धर्म में मन लगाते हैं॥ २९८॥

चन्द्रादित्यपुरन्दरक्षितिधर श्रीकण्ठसीर्यादयो
ये कीर्तिद्युतिकान्तिधीधनबलप्रख्यातपुण्योदयाः।
स्वे स्वे तेऽपि कृतान्तदन्तकलिताः काले व्रजन्ति क्षयं
किं चान्येषु कथा सुचारुमतयो धर्मे मतिं कुर्वताम्॥ २९९॥

अर्थ—देखो! इस संसार में सबसे अधिक कांति, कीर्ति, बुद्धि, सम्पत्ति, बल और पुण्य के धारक चंद्र, सूर्य, देवेंद्र, नरेंद्र नारायण और बलभद्र प्रभृति हैं, जब वे भी अपनी-अपनी आयु के अंत में यमराज की दाढ़ों के नीचे दबकर पिस जाते हैं, मर जाते हैं, तब अन्य सामान्य पुरुषों की तो बात ही क्या है? वे तो अवश्य ही मरेंगे इसलिये बुद्धिमानों को चाहिये कि वे धर्म में अपनी बुद्धि को दृढ़ करें॥ २९९॥

ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया
लोकालोकविलोकिकेवललसत्साम्राज्यलक्ष्मीधराः।
प्रक्षीणायुषि यान्ति तीर्थपतयस्तेऽप्यतदेहास्पदं
तत्रान्यस्य कथं भवेद्भवभृतःक्षीणायुषो जीवितम्॥ ३००॥

अर्थ—और भी जिनके कि चरण-कमल तीनों लोकों के ईश्वरों द्वारा सर्वदा पूजे जाते हैं, जिनकी कि आराधना में सर्वदा स्वर्गों के इंद्र, मनुष्यों के अधिपति, पाताल के अधीश्वर हाथ जोड़े रहते हैं, जिनका कि निरिंद्रिय असहाय ज्ञान लोक अलोक के समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानता है और जो समवशरण आदि चौंतीस अतिशयों-आश्चर्यकारी वस्तुओं को धारण करने वाले हैं, वे अर्हत्य परमेष्ठी जिनेंद्र भगवान् भी जब उनके आयु कर्म का अंत हो जाता है, तब शरीर का परित्याग कर मोक्ष-लाभ कर लेते हैं, आयु के अंत में उन्हें भी शरीर छोड़ना पड़ता है, तब अल्प-आयु के धारक अन्य सामान्य मनुष्यों को तो वह क्यों नहीं छोड़ना पड़ेगा? अर्थात् वे भी अवश्य मरेंगे॥ ३००॥

द्वात्रिंशन्मुकुटावतंसितशिरोभूभृत्सहस्रार्चिताः
षट्खण्डक्षितिमण्डना नृपतयः साम्राज्यलक्ष्मीधराः।
नीता येन विनाशमत्र विधिना सोऽन्यान् विमुञ्चेत्कथं
कल्पान्तश्वसनो गिरींश्चलयति स्थैर्यं तृणानां कृतः॥ ३०१॥

अर्थ—जिन पुरुषों की सर्वदा बत्तीस हजार मुकुटबंध राजा सेवा किया करते हैं—योग्य-अयोग्य सर्व प्रकार की आज्ञाओं को पालने के लिये तत्पर रहते हैं, जिनका कि साम्राज्य आर्य-अनार्य छहो खण्ड के बासियों पर एक-सा चलता है और जो चक्र के अधिपति होते हैं, उन चक्रवर्त्तियों को जब यह यम नहीं छोड़ता-उन्हें भी अपने बल से पछाड़ मारता है तब अन्य सामान्यों की तो बात की क्या है, क्योंकि जो कल्पांत काल की वायु बड़े से बड़े पहाड़ों तक को हिला मारती है, चल-विचल कर देती है, वह तृणों को न हिला देगी इसमें कोई संदेह नहीं है।

भावार्थ—चक्रवर्त्तियों तक को पछाड़ देने वाला यम सामान्य मनुष्य को अवश्य पछाड़ देगा इसमें कोई संदेह नहीं है॥ ३०१॥

यत्रादित्यशशांकमारुतघना नो सन्ति सन्त्यत्र ते
देशा यत्र न मृत्युरङ्गनजनो नो सोऽस्ति देशः क्वचित्।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तजनितां मुक्त्वा विमुक्तिक्षितिं
संचिन्त्येति विचक्षणाः पुरु तपः कुर्वन्तु तामीप्सवः॥ ३०२॥

अर्थ—संसार में वे देश मौजूद हैं, जहाँ पर कि सूर्य, चांद, पवन, जल आदि नहीं हैं—परंतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्र से उत्पन्न मोक्ष देश को छोड़कर ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहां पर यमराज का प्रवेश न होता हो, जहां के निवासी लोग मृत्यु से न ग्रसे जाते हों, इसलिये जो लोग उस मोक्ष-देश को पाना चाहते हैं, उन्हे चाहिये कि वे सम्यग्दर्शनादि पूर्वक महान् तप तपें॥ ३०२॥

येषां स्त्रीस्तनचक्रवाकयुगले पीतांशुराजत्तटे
निर्यत्कौस्तुभरत्नरश्मिसलिले आस्याम्बुजभ्राजिते।
श्रीवक्षःकमलाकरे गतभया क्रीडां चकारापरां
श्रीर्हि श्रीहरयोऽपि ते मृतिमिताः कुत्रापरेषां स्थितिः॥ ३०३॥

अर्थ—स्त्री के स्तन रूपी चक्रवाकों से युक्त, पीतांशु-पीतांबर रूपी मनोहर तट से भूषित, कौस्तुभ मणि की छटकती हुई किरण रूपी जल से व्याप्त, मुख रूपी कमल से अलंकृत जिनके श्रीवक्षःस्थल रूपी विशाल तालाब में साक्षात् लक्ष्मी ने क्रीड़ा की, जब वे श्रीकृष्ण सरीखे महापुरुष भी काल के गाल में फँस गये, तब अन्य मनुष्य सदा काल से कैसे जीवित रह सकते हैं? कभी नहीं॥ ३०३॥

भोक्ता यत्र वितृप्तिरन्तकविभुर्भोज्याः समस्ताङ्गिनः
कालेशः परिवेषकोऽश्रमतनुर्ग्रासा विशन्त्यक्रमैः।
वक्त्रे तस्य निशातदन्तकलिते तत्र स्थितिः कीदृशी
जीवानामिति मृत्युभीतमनसो जैनं तपः कुर्वते॥ ३०४॥

अर्थ—जिस संसार में कभी भी तृप्त न होने वाले तीक्ष्ण दंष्ट्राओं के धारक यमराज तो स्वयं भक्षक हैं, समस्त दीन प्राणी भक्ष्य हैं, कभी भी श्रांत न होने वाले काल प्रभु (आयु कर्म) आहर्ता हैं-जीवों को घेर-घेर कर यम के पास लाने वाले हैं और हैं और जहां एक साथ सैकड़ों-हजारों बेहिसाब ग्रास लिये जाते है, वहां मनुष्यों की सर्वदा एक-सी स्थिति बनी रहे यह बात कैसे हो सकती है। इसलिये जो इस प्रकार की मृत्यु से डरने वाले हैं, उन्हें चाहिये कि वे वीतरागी तप तपें।

भावार्थ—यदि कोई ऐसा पुरुष संसार में प्राणियों को खाने—मारने वाला होता जो कि दो, चार, दश, बीस, हजार, दो हजार, लाख, दो लाख, करोड़ आदि नियमित संख्या वाले जीवों को खाकर ही तृप्त हो जाता, खैर, न भी तृप्त होने वाला होता तो फिर कुछ दूर देश या परिमित स्थान में ही जाने वाला होता या निःसहाय-सहाय रहित होता, काल सरीखे प्रबल राजा की सहायता वाला न होता, अथवा एक साथ बेहिसाब न खाकर क्रम-क्रम से नंबर वार खाने वाला होता और या फिर मौथरी—कम पैनी ही दाढ़ वाला होता—तीक्ष्ण दंष्ट्रा का धारक न होता तब तो यह आशा की जा सकती थी कि शायद कोई जीव यमराज के तृप्त हो जाने से छिपकर बच जाने से सहायक के अभाव से, नंबर न आने से और या दाढ़ों से न चबाये जाने से बच सकता था, परंतु यहां तो ऐसा नहीं है समस्त विपरीत ही विपरीत बात है फिर कैसे बचना संभव हो सकता है इसलिये संसार से मुक्त होने के लिये मनुष्य को वीतराग जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट तप तपना चाहिये॥ ३०४॥

उद्धर्तुं धरणीं निशाकररवी क्षेप्तुं मरुन्मार्गतो
वातं स्तम्भयितुं पयोनिधिजलं पातुं गिरिं चूर्णितुम्।
शक्ता यत्र विशन्ति मृत्युवदने कान्यस्य तत्र स्थिति-
र्यस्मिन्माति गिरिर्बिले सह वनैः कात्र व्यवस्था ह्यणोः॥ ३०५॥

अर्थ—जो लोग इस संसार में पृथ्वी को पलट सकते हैं, सूर्य और चंद्रमा को आकाश से उतार सकते हैं, पवन को स्तब्ध कर रोक सकते हैं, समुद्र को पीकर सुखा सकते हैं तथा पहाड़ों तक को चूर्ण करने की समार्थ्य रखते हैं, वे लोग भी जब मृत्यु के मुँह में फंस जाते हैं और निःशक्त के समान नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, तब अन्य मनुष्य उसके मुँह में न जायेंगे, यह कैसे हो सकता है? क्योंकि जिस छिद्र में विशाल-२ जंगलों सहित पहाड़ घुस जाते हैं, उसमें क्या अणु (पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा) बाकी रह सकता है? वह तो अवश्य ही घुस जायगा।

भावार्थ—पहाड़ों के घुसने लायक विशाल बिलों में जिस प्रकार अणु का घुसना बहुत ही सरल है, उसी तरह वीर से वीर असंभव कार्यों को करने की सामर्थ्य रखने वाले पुरुषों के भक्षक यम के मुंह में क्षुद्र शक्ति वाले जीवों का प्रविष्ट होना बहुत सहज है॥ ३०५॥

सुग्रीवांगदनीलमारुतसुतपृष्टैः कृताराधनो,
रामो येन विनाशितस्त्रिभुवनप्रख्यातकीर्तिध्वजः।
मृत्योस्तस्य परेषु देहिषु कथा का निघ्नतो विद्यते,
कात्रास्था नयतो द्विपं हि शशको निर्यापकः स्त्रोतसः॥ ३०६॥

अर्थ—सुग्रीव, अंगद, नील, हनुमान् आदि महात्मा पुरुषों द्वारा सेवित, तीनों लोकों में प्रसिद्ध कीर्ति वाले रामचंद्र भी जिसने नष्ट कर दिये—आयु कर्म के अंत में शरीर से नाता छोड़ उन्हें भी चलना पड़ा, तब वह यम अन्य पुरुषों को अवश्य नष्ट कर देगा, इसमें कोई संदेह नहीं हैं। क्योंकि जो नदी का सोता (बाढ़ या बहाव) बड़े-२ हाथियों को बहा ले जाता है, वह क्या अत्यंत छोटे खरगोश (शशे) सरीखे जंतुओं को छोड़ दे सकता है? कभी नहीं।

भावार्थ—रामचंद्र सरीखों को नष्ट करने वाला यम सब जीवों को अवश्य ही नष्ट कर देगा॥ ३०६॥

अत्यन्तं कुरुतां रसायनविधिं वाक्यं प्रियं जल्पतु,
वार्धेः पारमियर्तु गच्छतु नभो देवाद्रिमारोहतु।
पातालं विशतु प्रसर्पतु दिशं देशान्तरं भ्राम्यतु
न प्राणी तदपि प्रहर्तुमनसा सन्त्यज्यते मृत्युना॥ ३०७॥

अर्थ—मृत्यु से बचने के लिये यह जीव चाहे रसायन का सेवन करे, चाहे प्यारे प्यारे मीठे वचन बोले, चाहे समुद्र के दूसरे तट पर चला जाये, चाहे आकाश में उड़ जाये, चाये सुमेरु पर्वत की चोटी पर जा बैठे, चाहे पाताल में घुस जाये, चाहे दिशाओं में दूर चला जाये, चाहे देशांतरों का आश्रय कर घूमने लगे, परन्तु वह उससे कहीं भी नहीं बच सकता अर्थात् जिस समय उसके आयु कर्म की अवधि पूरी हो जायगी, उस समय अवश्य ही वह मृत्यु के मुंह में फँस जायगा॥ ३०७॥

कार्यं यावदिदं करोमि विधिवत्तावत्करिष्याम्यद-
स्तत्कृत्वा पुनरेतदद्य कृतवानेतत्पराकारितम्।
इत्यात्मीयकुटुम्बपोषणपरः प्राणी क्रियाव्याकुलो
मृत्योरेति करग्रहं हतमतिः सन्त्यक्तधर्मक्रियः॥ ३०८॥

अर्थ—यह प्राणी जब से होश संभालता है तब से यह काम मैं आज करता हूं, इसे कल करूंगा, यह आज किया और यह पहिले मैंने कर डाला है, इत्यादि रीति से अपने कुटुंब के पोषण में लगा हुआ सैकड़ों-हजारों क्रियायों से व्याप्त रहता है और अचानक ही आयु के समाप्त होने से काल के गाल में जा फँसता है, परन्तु यह धर्म की तरफ कुछ भी ध्यान नहीं देता॥ ३०८॥

मान्धाता भरतः शिवो दशरथो लक्ष्मीधरो रावणः,
कर्णः कंसरिपुर्बलो भृगुपतिर्भीमः परेऽप्युन्नताः।
मृत्युं जेतुमलं न यं नृपतयः कस्तं परो जेष्यते
भग्नो यो न महातरुर्द्विपवरैस्तं किं शशो भंक्ष्यति॥ ३०९॥

अर्थ—जिस मृत्यु के प्रताप को मानधाता, भरत, महादेव, दशरथ, लक्ष्मण, रावण, कर्ण, कृष्णा, बलभद्र, भृगुपति, (परशुराम) और भीम आदि बड़े-बड़े पराक्रमी भी न सह सके—वे भी उसकी आज्ञा को भंग न कर सके, उन्हें भी उसी के वश होना पड़ा तो दूसरे लोगों की तो बात ही क्या है ? क्योंकि जो महावृक्ष बड़े-बड़े हाथियों से न टूट सका उसे क्या शशा का बच्चा कभी तोड़ सकता है—कभी नहीं॥ ३०९॥

सर्वं शुष्यति सान्द्रमेति निखिला पाथोनिधिं निम्नगा,
सर्वं म्लायति पुष्पमत्र मरुतः शम्पेव सर्वं चलम्।
सर्वं नश्यति कृत्रिमं च सकलो यद्वद् व्यपक्षीयते
सर्वस्तद्वदुपैति मृत्युवदनं देहीभवंस्तत्त्वतः॥ ३१०॥

अर्थ—संसार में जितने पदार्थ सांद्र हैं—गीले हैं, वे सब सूखने वाले हैं, जितनी नदियाँ हैं, वे सब समुद्र को जाने वाली हैं, जितने पुष्प हैं, सब म्लान होने वाले हैं,

जितने पदार्थ हैं, सब बिजली के समान चंचल हैं और जितनी कृत्रिम वस्तुएँ हैं, वे सब विनाश शील हैं, इसलिये जिस प्रकार ये सब बातें विनाशक हैं—नित्य नहीं, उसी प्रकार जितने प्राणी हैं—जन्म धारण करने वाले हैं, वे सब मरने वाले हैं—मृत्यु के मुंह में फंसने वाले हैं॥ ३१०॥

प्रख्यातद्युतिकान्तिकीर्तिधिषणाप्रज्ञाकलाभूतयो
देवा येन पुरन्दरप्रभृतयो नीताः क्षयं मृत्युना।
तस्यान्येषु जनेषु कात्र गणना हिंसात्मनो विद्यते
मत्तेभं हिनस्ति यः स हरिणं किं मुञ्चते केशरी॥ ३११॥

अर्थ—जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथियों को पछाड़ देने वाला सिंह दीन-हीन क्षुद्र हरिण को नहीं छोड़ सकता—उसे अवश्य ही मार डालता है, उसी प्रकार संसार में प्रसिद्ध से प्रसिद्ध प्रताप वाले, विशाल कांति, कीर्त्ति और बुद्धि के धारक, सर्वकला और शक्ति के भंडार इंद्र आदि देवों तक को नष्ट कर देने वाला निर्दयी यमराज क्षुद्र प्राणियों को नहीं छोड़ सकता—उन्हें अवश्य ही नष्ट कर देगा॥ ३११॥

श्रीह्रीकीर्तिरतिद्युतिप्रियतमाप्रज्ञाकलाभिः समं
यद् ग्रासीकुरुते नितान्तकठिनो मर्त्यं कृतान्तः शठः।
तस्मात्किं तदुपार्जनेन भविनां कृत्यं विबुद्धात्मनां
किन्तु श्रेयसि जीविते सति चले कार्या मतिस्तत्त्वतः॥ ३१२॥

अर्थ—यम ऐसा दुष्ट है कि यह केवल मनुष्य के शरीर को ही नष्ट नहीं करता, किंतु उसके साथ-साथ लक्ष्मी, लज्जा, कीर्ति, कांति, रति, (प्रेम) स्त्री, प्रज्ञा (चतुराई) और कला आदि समस्त गुणों को भी नष्ट कर देता है, इसलिये जो बुद्धिमान् हैं, अपनी आत्मा के स्वरूप को जानने वाले हैं, उन्हें चाहिये कि वे इस चंचल जीवन में जब तक कि वह है तब तक कभी भी किसी तरह से भी नष्ट न होने वाले मोक्ष-सुख को प्राप्त करने की चेष्टा करें और दुःख स्वरूप नष्ट होने वाले पदार्थों के फंदे में न पड़ें॥ ३१२॥

यो लोकैकशिरः शिखामणिसमं सर्वोपकारोद्यतं
राजच्छीलगुणाकरं नरवरं कृत्वा पुनर्निर्दयः।
धाता हन्ति निरर्गलो हतमतिः किं तत्क्रियायां फलं
प्रायो निर्दयचेतसां न भवति श्रेयोमतिर्भूतले॥ ३१३॥

अर्थ—यह दैव —(कर्म-भाग्य) पहले तो इस मनुष्य के साथ ऐसी सदयता सी दिखाता है कि इसे तीनों लोकों के शिर पर पैर रखने वाला, समस्त संसार के उपकार करने में लगा देने वाला और मुकुट के समान गुणों से दैदीप्यमान बना देता है

परंतु पश्चात् ऐसा निर्दयपना दिखाता है कि वह दुष्ट इस बेचारे के प्राण ही लेकर छोड़ता है, बिना कसूर के ही इसे वर्तमान शरीर से पृथक् कर देता है और अपने निरर्थक काम करने से अपनी जड़ बुद्धि का परिचय देता है। सो ठीक ही है जो पुरुष कठोर चित्त के होते हैं उनकी दूसरों के कल्याण करने वाली बुद्धि नहीं होती॥ ३१३॥

रम्याः किं न विभूतयोऽतिललिताः सच्चामरभ्राजिताः
किं वा पीनदृढोन्नतस्तनयुगास्त्रस्तैणदीर्घेक्षणाः।
किं वा सज्जनसंगतिर्न सुखदा चेतश्चमत्कारिणी
किं त्वत्रानिलधूतदीपकलिकाच्छायाचलं जीवितम्॥ ३१४॥

अर्थ—इस संसार में जो-जो पदार्थ इस समय दुःखदाई और हेय मालूम पड़ते हैं या जिनका शास्त्र में छोड़ने का उपदेश है, वे सब इसलिये हेय बतलाये गये हैं कि जीवों की पर्यायें सर्वदा बदलती रहती हैं—इनका जीवन क्षण भंगुर है, पवन से प्रेरित दीपक की लौ के समान अल्पकाल में नष्ट हो जाने वाला है, यदि ऐसा नहीं होता-सर्वदा सब पदार्थों की अवस्था एक जैसी ही बनी रहती तो शुभ्र छत्र और चमरों से शोभित, अति सुख देने वाली राजविभूति, पीन (स्थूल) स्तन वाली, भयभीत मृगी के समान चंचल नेत्रों की धारक स्त्री, और चित्त को प्रफुल्लित करने वाली सज्जनों की संगति क्यों न सर्वदा ग्राह्य होती—उसे छोड़ने का क्यों उपदेश दिया जाता और देते भी तो छोड़ कौन देता॥ ३१४॥

यद्येतास्तरलेक्षणा युवतयो न स्युर्गलद्यौवना
भूतिर्वा यदि भूभृतां भवति नो सौदामिनीसंनिभा।
वातोद्धूततरङ्गचञ्चलमिदं नो चेद्भवेज्जीवितं
को नामेह तदेव सौख्यविमुखः कुर्याज्जिनानां तपः॥ ३१५॥

अर्थ—यदि इस संसार में भीत मृगी के समान चंचल नेत्र वाली युवतियों का मनोहारी यौवन ढल जाने वाला-विनाशक न होता, बड़े से बड़े राजाओं को ऐश्वर्य बिजली के समान क्षण-क्षण में चलायमान न होता, और इस मनुष्य का जीवन भी पवन से कँपाये गये चंचल तरंग के समान क्षण स्थायी न होता अर्थात् ये तीनों पदार्थ सर्वदा एक से ही बने रहते तो कौन पुरुष प्रत्यक्ष सुख को छोड़ कर परोक्ष सुख को पाने की इच्छा से जिनेंद्र उपदिष्ट तप का आश्रय करता॥ ३१५॥

मांसासृग्रसलालसामयगणव्याधैः समाध्यासितां
नानापायवसुंधरारुहचितां जन्माटवीमाश्रितः।
धावन्नाकुलमानसो निपतितो दृष्ट्वा जराराक्षसीं
क्षुत्क्षामोद्धृतमृत्युपन्नगमुखे प्राणी कियत्प्राणिति॥ ३१६॥

अर्थ—मांस, मज्जा, रुधिर आदि धातुओं के लोलुपी (चाहने वाले या सुखाने वाले) नाना प्रकार के रोगरूपी व्याधों से वेष्टित, भांति-भांति के उपाय (विघ्न) रूपी वृक्षों से सघन इस जन्म रूपी विशाल जंगल में जरा (वृद्धावस्था) रूपी राक्षसी को देखकर व्याकुल मन से इधर-उधर भागने वाला यह जीव भूख से मुँह वाये हुए यमरूपी अजगर के मुँह में जा फंसता है और वहां शीघ्र ही अपनी वर्तमान काल की पर्याय का संवरण कर लेता है॥ ३१६॥

मृत्युव्याघ्रभयङ्करानननगतं भीतं जराव्याधत-
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदुःखतरुमत्संसारकान्तारगम्।
कः शक्नोति शरीरिणं त्रिभुवने पातुं नितान्तासुरं
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम्॥ ३१७॥

अर्थ—तीव्र-तीव्र व्याधि और नाना प्रकार के दुःख रूपी वृक्षों से सघन संसार रूपी वन में जरा (वृद्धावस्था) रूपी व्याधों से घेरा गया भयभीत यह जीव जिस समय भयंकर यमरूपी बाघ के मुँह में चला जाता है, उस समय इसे जन्म-मरण को नष्ट करने वाले जिनेंद्र भगवान् के पवित्र धर्म के सिवाय कोई नहीं बचा सकता।

भावार्थ—यदि कोई इस जीव को जन्म मरण के दुःख से बचाने वाला है तो वह जिनेंद्र भगवान का सच्चा धर्म है, अन्य नहीं, इसलिये इसको अवश्य ही धारना चाहिये॥ ३१७॥

एवं सर्वजगद्विलोक्य कलितं दुर्वारवीर्यात्मना
निस्त्रिंशेन समस्तसत्त्वसमितिप्रध्वंसिना मृत्युना।
सद्रत्नत्रयशातमार्गणगणं गृह्णन्ति यच्छित्तये
सन्तः शान्तिधियो जिनेश्वरतपः साम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः॥ ३१८॥

अर्थ—इस प्रकार जो मनुष्य सज्जन और शान्तात्मा हैं, वे यह जानकर कि यह समस्त जगत् अचिन्त्य शक्ति के धारक समस्त प्राणियों को नाश करने वाले मृत्युरूपी राक्षस से व्याप्त है, उसके नाश के लिये भगवान जिनेश्वर की तपरूपी साम्राज्य की शोभा से शेभित होते हैं सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय रूपी पैने बाणों को ग्रहण करते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि बाणों से उसका खोज खोना चाहते हैं॥ ३१८॥

॥ १३ ॥

सामान्य अनित्य का वर्णन

कार्याणां गतयो भुजङ्गकुटिलाः स्त्रीणां मनश्चञ्चलं
नैश्वर्यं स्थितिमन्तरङ्गचपलं नृणां चयो धावति।
संकल्पाः समदाङ्गनाक्षितरला मृत्युः परं निश्चितो
मत्वैवं मतिसत्तमा विदधतां धर्मे मतिं तत्त्वतः॥ ३१९॥

अर्थ—इस संसार में कर्मों की गति विचित्र है, सर्प के समान कुटिल है अर्थात् कभी तो दैव अनुकूल कार्य करने लगता है और कभी स्वप्न में भी ध्यान न किये गये, दुःखों को लाकर सामने पटक देता है, स्त्रियों का मन चंचल है, कभी तो वे निस्सार अपरिमित अनुराग (प्रेम) दिखाने लगती हैं और कभी वेहद रुष्ट हो जाती हैं, ऐश्वर्य धन-धान्यादि संपत्तियाँ पवन से प्रेरित तरंगों के समान चंचल हैं—आज हैं, कल नष्ट हो जाती हैं, मनुष्यों का समुदाय भागने वाला है, किसी स्वार्थ से सेवा करता है और उसके सध जाने पर दूर चला जाता है, संकल्प-विचार परंपरायें मद से मत्त युवती स्त्रियों के नेत्रों के समान क्षण विनाशक हैं—अभी किसी बात की चिंता हो रही है और थोड़ी देर ही बाद अन्य किसी बात की चिंता होने लगती है, परंतु केवल एक मृत्यु ही निश्चित है इसलिये जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, उन्हें चाहिए कि वे कभी भी नष्ट-भ्रष्ट न होने वाले सच्चे धर्म-आत्मस्वभाव में प्रीति करें-उसी में संलग्न हों॥ ३१९॥

श्रीर्विद्युच्चपला वपुर्विधुनितं नानाविधव्याधिभिः
सौख्यं दुःखकटाक्षितं तनुमतां सत्संगतिर्दुर्लभा।
मृत्युध्यासितमायुरत्र बहुभिः किं भाषितैस्तत्त्वतः
संसारोऽस्ति न किञ्चिदङ्गिसुखकृत्तस्मज्जना जाग्रत॥ ३२०॥

अर्थ—हे बुद्धिमान् मनुष्यो! देखो! इस संसार में दासी, दास, धन, धान्य आदि स्वरूप वाली लक्ष्मी बादल में चमकती हुई बिजली के समान चंचल है, मुंह दिखा कर क्षण भर में नष्ट हो जाने वाली है, जो तुम्हारा शरीर अभी नाना प्रकार के कार्य करने में चलता-फिरता दिखाई देता है, वह अनेक प्रकार की व्याधियों से अशक्त सामर्थ्यहीन हो जाने वाला है, क्षण भर में कोई न कोई व्याधि (रोग) इसको आकर घेर ले सकती है, इंद्रिय-जन्य सुख-दुःख मिश्रित हैं, अंत में विरस होने से दुःख के बराबर हैं, सज्जनों

की संगति मिलना बहुत ही कठिन है, वह बड़े भाग्य से किसी-किसी को मिलती है और यह जो तुम्हारी आयु है, जिसके कि कारण तुम श्वांस ले रहे हो, वह भी मृत्यु से आक्रांत है, अधिक समय तक नहीं रह सकता। इस तरह इस संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो सर्वदा चिरस्थायी और जीव को सुखावह हो इसलिये सोचो! समझो!! और उठो!!! अपने कर्तव्य को संभालो॥ ३२०॥

यद्येताः स्थिरयौवनाः शशिमुखीः पीनस्तनीर्भामिनीः
कुर्याद्यौवनकालमानमथवा धाता रतं जीवितम्।
चिन्तास्थैर्यमशौचमन्तविरसं सौख्यं वियोगं न तु
को नामेह विमुच्य चारुधिषणः कुर्यात्तपो दुश्चरम्॥ ३२१॥

अर्थ—इस संसार में युवती स्त्रियां, जीवन, इंद्रिय सुख आदि समस्त पदार्थ अनित्य हैं। यदि दैव चंद्रमा के समान मुख वाली पीन स्तनी स्त्रियों के यौवन को तो स्थिर कर देता, जीवन को कभी समाप्त न करता, नाना प्रकार की चिंताओं की स्थिरता का अभाव कर देता, इंद्रिय-सुखों का कभी नाश न करता और कभी भी इष्टवियोग न होने देता तो ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होता जो इन्हें छोड़कर दुश्चर तप तपता। परन्तु वास्तव में ये कोई भी नित्य नहीं हैं, इसीलिये हिताहित विवेकी लोग नित्य सुख की अभिलाषा से श्रेष्ठ तप तपते हैं॥ ३१२॥

कान्ताः किं न शशांककान्तिधवलाः सौधालयाः कस्यचित्
काञ्चीदामविराजितोरुजघना सेव्यान किं कामिनी।
किं वा श्रोत्ररसायनं सुखकरं श्रव्यं न गीतादिकं
विश्वं किं तु विलोक्य मारुतचलं सन्तस्तपः कुर्वते॥ ३२२॥

अर्थ—चंद्रमा की कांति के समान शुक्ल वर्ण वाले बड़े बड़े सौध (हवेली, घर) किस को मनोहर नहीं लगते—क्या सज्जन और क्या दुर्जन सब ही उनमें रहना चाहते हैं, सुंदर मेखला से वेष्टित जांघों वाली युवतियां किसको प्रिय नहीं होतीं, सब ही उनको सेवना चाहते हैं, श्रोत्रों को रसायन के समान मधुर लगने वाले गीत-वादित्र आदि पदार्थ किस को सुख नहीं पहुंचाते सब ही उनको सुनने से सुख का अनुभव करते हैं, परन्तु जब इन पदार्थों की अनित्यता मालूम पड़ती है—इस बात का निश्चय होता है कि ये कुछ काल बाद हमसे अलग हो जायेंगे सर्वदा ऐसे ही न रहेंगे तो इनको भोगने से सज्जन लोग घबड़ा जाते हैं। वे सोचते हैं कि जब एक दिन ये हमें छोड़ ही देंगे तो इन्हीं को हम पहिले से क्यों न छोड़ दें, क्योंकि यदि इन्होंने पहिले हमें छोड़ दिया, तब तो इस संसार में अनंत दुःख भोगने पड़ेंगे और हमने पहले इन्हें छोड़ दिया तो नित्य मोक्ष-सुख मिलेगा, इसलिये तप तपने लगते हैं॥ ३२२॥

कृष्टेष्वासविमुक्तमार्गणगतिस्थैर्यं जने यौवनं
कामान्क्रुद्धभुजङ्गकायकुटिलान्विद्युच्चलं जीवितम्।
अङ्गारानलतप्तसूतरसवद्दृष्ट्वाश्रियोऽप्यस्थिरा
निष्क्रम्यात्र सुबुद्धयो वरतपः कर्तुं वनान्तं गताः॥ ३२३॥

अर्थ—जिन लोगों ने जंगल में जा श्रेष्ठ तप तपा, वे लोग भी यही सोचकर वन में गये थे कि—भाई! आज तो हमारा यौवन-काल है जिससे कि हम मजे उड़ा रहे हैं, परन्तु वह शीघ्र ही चढ़े हुए बाण के समान वियुक्त हो जानने वाला है, क्षण विनाशक है, आज जो यथेष्ट भोग भोगने में आ रहे हैं वे क्रुद्ध हुए भुजंग के शरीर के समान टेढ़े हैं शीघ्र ही विपरीत हो जाने वाले हैं, लक्ष्मी भी अभी जो दृष्टिगोचार हो रही है जिसको कि हम अपनी समझते हैं वह अंगार से तपाये गये पारे के समान चंचल है और जो हमारा जीवन है वह भी बिजली की चमक के समान अस्थिर है, क्या मालूम कब नष्ट हो जाये, इसलिये तप तपना श्रेष्ठ है॥ ३२३॥

वपुर्व्यसनमस्यति प्रसभमन्तको जीवितं
धनं नृपसुतादयस्तनुमतां जरा यौवनम्।
वियोगदहनं सुखं समदकामिनीसंगजं
तथापि वत मोहिनो दुरितसंग्रहं कुर्वते॥ ३२४॥

अर्थ—देखो! इस संसार में राजयक्ष्मा आदि अनेक रोग शरीर को नष्ट करने वाले हैं, यमराज सरीखे बलवान् शत्रु प्राणों के नाशक हैं, भाई, बंधु, पुत्र, राजा आदि दायेदाय धन को छीनने वाले हैं, वृद्धावस्था यौवन की बैरिन हैं और युवतियों के संग से जायमान सुख वियोगरूपी अग्नि से खाक (भस्म) हो जाने वाला है, परन्तु यह प्राणी ऐसा मूढ है, मोह के नशे में चूर है, इन बातों को कुछ नहीं समझता और पाप का बोझ ही शिर पर लादा करता है॥ ३२४॥

अपायकलिता तनुर्जगति सापदः संपदो
विनश्वरमिदं सुखं विषयजं श्रियश्चञ्चलाः।
भवन्ति जरसाऽरसास्तरललोचना योषित-
स्तदप्ययमहो जनस्तपसि नो परे रज्यति॥ ३२५॥

अर्थ—संसार में शरीर अनेक विघ्नों से सहित हैं, सम्पत्तियां आपत्तियों से वेष्टित हैं, विषय-जन्य सुख विनश्वर हैं, लक्ष्मी चंचल है और यौवन के मद से मत्त स्त्रियाँ बुढ़ापे से विरस है तो भी यह प्राणी उन्हीं में अनुराग करता है, श्रेष्ठ तप की तरफ बिल्कुल ही ध्यान नहीं देता यह बड़े ही आश्चर्य की बात है॥ ३२५॥

भवे विहरतोऽभवन् भवभृतो न के बान्धवाः
स्वकर्मवशतो न केऽत्र शत्रवो भविष्यन्ति वा।
जनः किमिति मोहितो नवकुटुम्बकस्यापदि
विमुक्तजिनशासनः स्वहिततः सदा भ्रश्यते॥ ३२६॥

अर्थ—संसार में अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए इस जीव के कितने और कौन-कौन से स्वार्थ सिद्ध के लिये मित्र न हुए और कौन-कौन उस स्वार्थ के न सटने से सिद्ध न होने से शत्रु न हुए। यह प्राणी इसी तरह मोह के फंदे में फंसकर प्रतिदिन नवीन-नवीन कुटुम्ब की वृद्धि करता चलता है और उनके संबंध से आई हुई आपत्तियों को अपने शिर पर लादता रहता है जिससे कि वास्तविक हितकर जिन भगवान के शासन को भूलकर इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है॥ ३२६॥

दृढोन्नतकुचात्र या चपललोचना कामिनी
शशांकवदनाम्बुजा मदनपीडिता यौवने।
मनो हरति रूपतः सकलकामिनां वेगतो
न सैव जरसार्दिता भवति वल्लभा कस्यचित्॥ ३२७॥

अर्थ—जो स्त्रियाँ युवा-अवस्था में दृढ़ और उन्नत स्तन वाली रहती हैं, काम की बाधा से जिनके नेत्र सर्वदा चपल रहते हैं, मुख की सुन्दरता से जो कि चन्द्रमा के बिंब को लजाती हैं और जो अपने सुन्दर-सुगढ शरीर के संघटन से देखते ही कामियों के मन हरण का लेती हैं, वे ही जब वृद्धावस्था से पीड़ित हो जाती हैं, उस समय किसी के भी मन को हरण नहीं कर सकतीं उनकी तरफ कोई ताककर भी नहीं देखता॥ ३२७॥

इमा यदि भवन्ति नो गलितयौवना नीरुच-
स्तदा कमललोचनास्तरुणकामिनीः कोऽमुचत्।
विलासमदविभ्रमान् भ्रमति लुण्टयित्री जरा
यतो भुवि बुधस्ततो भवति निस्पृहस्तत्सुखे॥ ३२८॥

अर्थ—यदि इस संसार में स्त्रियां यौवनावस्था से कभी न गिरतीं—कांति-रहित न होतीं तो इन्हें कोई न छोड़ता, परन्तु उनके समस्त विलास, मद और विभ्रम आदि को लूटने वाली जरावस्था (बुढ़ापा) मौजूद है, समय पर वह अवश्य ही उन्हें उनसे रहित कर देती है, इसलिये विद्वान् लोग उनके सुख से सर्वदा विमुख ही रहते हैं और कभी भी उनसे अपना मेल नहीं बढ़ाते॥ ३२८॥

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता-
सुतालक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः।

मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वभविना-
महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान् सेवितुमनाः॥ ३२९॥

अर्थ—इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं, जिनको कि यह जीव अपना मानते हैं, वे सब मद से मत्त युवती स्त्री के कटाक्षों के समान चंचल हैं, देखो! क्या तो, सुन्दरता, और क्या स्थान, स्वजन, परजन, पुत्र, पुत्री, द्रव्य, स्त्री, शोभा, कांति, कीर्ति, रति, मति, प्रीति और धृति आदि सब ही एक से हैं, परंतु यह जीव ऐसा नासमझ है कि तो भी नहीं मानता उनको ही बार-बार सेवन करने की इच्छा करता है॥ ३२९॥

सहात्र स्त्री किञ्चित्सुतपरिजनैः प्रेम कुरुत
वशप्राप्तो भोगो भवति रतये किञ्चिदनया।
श्रियः किञ्चित्तुष्टिं विदधति परां सौख्यजनिकां
न किञ्चित्पुंसां हि कतिपयदिनैरेतदखिलम्॥ ३३०॥

अर्थ—संसार में स्त्री-परिजन आदि जो कुछ प्रेम करते हैं, अपने अधीन हुए इंद्रिय-भोग जो कुछ अनुराग पैदा करते हैं और निर्दोष लक्ष्मी भी जो कुछ सौख्यदायिनी तुष्टि करती है, वे सब थोड़े दिनों के ही हैं, कुछ दिनों के बाद वे अवश्य नष्ट हो जायंगे॥ ३३०॥

विजित्योर्वीं सर्वां सततमिह संसेव्य विषयान्
श्रियं प्राप्यानर्घ्यां तनयमवलोक्यापि परमम्।
निहत्यारातीनां भुवि वलयमत्यन्तपरमं
विमुक्तद्रव्यो हि मुषितवदयं याति मरणम्॥ ३३१॥

अर्थ—यह प्राणी संपूर्ण पृथ्वी को जीत कर अपने अधीन कर लेता है, नाना विषयों को सेवता है, निर्दोष विघ्न-रहित नाना प्रकार की लक्ष्मी कमा लेता है, प्रताप-शाली श्रेष्ठ पुत्र को पा लेता है और प्रचंड से प्रचंड शत्रुओं के समूह को भी तितर-वितर कर छिन्न-भिन्न कर डालता है, परंतु जब इसका मृत्यु-समय निकट आता है, उस समय यह लूटे गये के समान चुपचाप विना कुछ विभूति को लिये ही चलता बनता है, उस समय इसका कुछ भी वश नहीं चलती॥ ३३१॥

श्रियोपायाघ्रातास्तृणजलचरं जीवितमिदं
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिलं कामजसुखम्।
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवनधने
इति ज्ञात्वा संतः स्थिरतरधियः श्रेयसि रताः॥ ३३२॥

अर्थ—जो लोग सज्जन हैं, अपना हित समझने वाले हैं और स्थिर-बुद्धि हैं, वे यह विचार कर कि-ये सांसारिक विभूतियाँ अपाय नाश-सहित हैं, हमारा यह जीवन

तृण के ऊपर पड़ी हुई ओंस की बूंद के समान चंचल है, स्त्रियों का मन विचित्र है—क्षण-क्षण में पलटने वाला है, इंद्रिय-जन्य सुख सर्प की गति के समान कुटिल हैं, शरीर पल में नष्ट होने वाला है, यौवन और धन स्वभाव से ही चपल हैं-कल्याण को प्राप्त करने की इच्छा से तपादिक कार्य करने में स्थिर-चित्त होते हैं॥ ३३२॥

गलत्यायुर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं
जरा प्रत्यासन्नीभवति लभते व्याधिरुदयम्।
कुटुम्बस्नेहार्त्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो
मनो जन्मोच्छित्त्यै तदपि कुरुते नायमसुमान्॥ ३३३॥

अर्थ—यद्यपि इस जीव की आयु गलती जाती है, सौंदर्य आदि शरीर के गुण नष्ट होते जाते हैं, बुढापा दिन पर दिन समीप आने लगता है और नाना प्रकार की नई व्याधियाँ भी उत्पन्न होती चलती हैं, तो भी यह ऐसा निर्बुद्धि है कि कुटुंब के मोह में फंसा हुआ लोभ से आकृष्ट हो कर जन्म-मरण को नाश करने का उपाय नहीं करता, बल्कि उत्तरोत्तर उन्हीं में फँसता जाता है॥ ३३३॥

बुधा ब्रह्मोत्कृष्टं परमसुखकृद्वाञ्छितपदं
विवेकश्चेदस्ति प्रतिहतमलः स्वान्तवसतौ।
इदं लक्ष्मीभोगप्रभृति सकलं यस्य वशतो
न मोहग्रस्ते तन्मनसि विदुषां भावि सुखदम्॥ ३३४॥

अर्थ—अरे विद्वानों! यदि तुम्हारे अंतरंग में विवेक विद्यमान है तो इस बात को समझ लो कि परम सुख देने वाला, इष्ट पद परब्राह्म—परमात्मा है क्योंकि परब्रह्म में लीन होने पर जब मन से मोह नष्ट हो जाता है—मन निर्मोह हो जाता है, उस समय लक्ष्मी भोग आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब विद्वानों को सुखदायी नहीं जान पड़ते, उस समय उन्हें सब पदार्थ दुःखदायी निकलते हैं॥ ३३४॥

भवन्त्येता लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव सुखदा-
स्तरुण्यस्तारुण्ये विदधति मनःप्रीतिमतुलाम्।
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चलं व्याधिकलितं
बुधाः संचिन्त्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि रताः॥ ३३५॥

अर्थ—यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही सुखदायिनी होती है, तरुण स्त्रियां तारुण्य-यौवन में ही चित को अपरिमित प्रफुल्लित करती हैं, भोग अल्प समय तक ही सुख देते हैं, और शरीर भी जब तक कोई व्याधि नहीं आ सताती तब तक ही अच्छा (सुखकर) मालूम देता है, बाद में सब दुःख देने वाले हैं। इसलिये जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे अपने मन में अच्छी तरह सोच-समझ कर आत्मा को ध्यान में लगाते हैं॥ ३३५॥

न कान्ता कान्तान्ते विरहशिखिनो दीर्घनयना
न कान्ता भूपश्रीस्तडिदिव चला चान्तविरसा।
न कान्तं ग्रस्तान्तं भवति जरसा यौवनमतः
श्रयन्ते ते संतः स्थिरसुखमयीं मुक्तिवनिताम्॥ ३३६॥

अर्थ—लंबे-लंबे नेत्र वालीं स्त्रियां अंत समय में जब वे मर जातीं हैं, उस समय विरहाग्नि से पीड़ित मनुष्य को प्रिय नहीं मालूम होतीं वियुक्त हो जाने से वे महादु:खदायिनी हो जातीं हैं, लक्ष्मी भी तब तक ही प्रिय मालूम पड़ती है, जब तक वह बिजली के समान विनष्ट नहीं होती, नष्ट होने पर तो अपरिमित दु:ख देने वाली होती है और यही यौवन की भी दशा है कि जब तक बुढ़ापे से वह नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता तभी तक आनंद देता है, इसलिये जो हिताहित विवेकी हैं वे सर्वदा युवती ही रहने वाली (नित्य) मोक्ष रूपी लक्ष्मी को वरते हैं, उसी को पाने का उद्योग करते हैं॥ ३३६॥

वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेऽत्र सकलाः
समं यः संवृद्धा ननु विरसतां तेऽपि गमिताः।
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटी क्रमगता
न पश्यन्तोऽप्येवं विषयविरतिं यान्ति कृपणाः॥ ३३७॥

अर्थ—ये जीव ऐसे कृपण हैं—विषय-लोलुपी हैं कि संसार की विचित्र गति को देखते और सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं। ये यह नहीं विचारते कि देखो! जिन लोगों से हम उत्पन्न हुए हैं, जिनके खून से हमारा खून बना है, वे भी समस्त मृत्यु के अतिथि हो प्राण छोड़ गये और जिन पदार्थों के साथ-२ हम बढ़े हैं या जिनसे पले हैं वे भी समस्त इस समय धीरे-धीरे बिरस होते जा रहे हैं और इसी क्रम से हम भी धीरे-धीरे मृत्यु- दिन के समीप पहुंच रहे हैं, इसलिये अब तो इन विषयों को छोड़ दें इनसे ममता हटाकर कुछ आत्महित सिद्ध कर लें॥ ३३७॥

स यातो यात्येष स्फुटमयमहो यास्यति मृतिं
परेषामत्रैवं गणयति जनो नित्यमबुधः।
महामोहाघ्रातस्तनुधनकलत्रादिविभवे
न मृत्युं स्वासन्नं व्यपगतमतिः पश्यति पुनः॥ ३३८॥

अर्थ—मोह की तीव्रता से शरीर, धन, स्त्री आदि के प्रबल फंदे में पड़ा हुआ यह मूर्ख जीव यह तो विचार करता है कि अमुक नष्ट हो गया या नष्ट हो रहा है अथवा नष्ट हो जायगा परंतु अपने विषय में यह कभी नहीं सोचता कि हमारा क्या हो गया अथवा क्या हो रहा है, हम भी तो मृत्यु के समीप धीरे-धीरे पहुंच रहे हैं— हमारा भी शीघ्र ही नाश हो जायगा॥ ३३८॥

सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि गतमलं मुक्तिवसतौ
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमतं पूतचरितम्।
भजध्वं मा तृष्णां कतिपयदिनस्थायिनि धने
अतो नायं सन्तः कमपि मृतमन्वेति विभवः॥ ३३९॥

अर्थ—इसलिये हे सज्जनों! यदि तुम निराबाध नित्य आत्मिक मोक्ष सुख चाहते हो तो सर्वज्ञ, वीतराग, जिनेंद्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट परमहितकारी धर्म का आश्रय करो, अल्प दिन तक रहने वाले धन में तृष्णा मत करो, अधिक लालसा से उसी को पैदा करने में न लगे रहो, क्योंकि ये सांसारिक संपत्तियाँ किसी के साथ मरने पर नहीं जातीं ये यहीं की यहीं रह जाती हैं॥ ३३९॥

न संसारे किञ्चित्स्थिरमिह निजं वास्ति सकले
विमुच्यार्च्यं रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकम्।
अहो मोहार्त्तानां तदपि विरतिर्नास्ति भवत-
स्ततो मोक्षोपायाद्विमुखमनसां नात्र कुशलम्॥ ३४०॥

अर्थ—इस संसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूप रत्नत्रय के सिवाय इस जीव का कोई भी न तो निज है और न कोई वास्तव में स्थिर अविनाशी ही है, परंतु यह प्राणी ऐसा मोह से पीड़ित है—अज्ञान के नशे में चूर है कि तो भी इन अनित्य पदार्थों से विरक्त नहीं होता—उनको छोड़ने की कोशिश नहीं करता, इसलिये मोक्ष के उपाय सम्यग्दर्शन आदि से विमुख मनुष्यों का संसार में कल्याण नहीं हो सकता॥ ३४०॥

अनित्यं निस्त्राणं जननमरणव्याधिकलितं
जगन्मिथ्यात्वार्थैरहमहमिकालङ्कितमिदम्।
विचिन्त्येवं सन्तो विमलमनसो धर्ममतय-
स्तपः कर्तुं वृत्तास्तदपसृयते जैनमनघम्॥ ३४१॥

अर्थ—यह संसार अनित्य है, क्षण-क्षण में विनष्ट होने वाला है, सहायरहित है इसमें कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता, मरण आदि अनेक व्याधियों से भरा हुआ है, इसमें कोई मरता है, कोई जन्म लेता है और कोई व्याधियों से पीड़ित हो नाना दुःख भोगता है और यह मेरा है, यह मेरा नहीं है— इत्यादि ममता पूर्ण मिथ्या आवेशों से सहित है इसलिये जो निर्मल बुद्धि के धारक हैं, वे जैन धर्म का आश्रय लेकर तप करने में लगते हैं॥ ३४१॥

तडिल्लोलं तृष्णाप्रचयनिपुणं सौख्यमखिलं
तृषो वृद्धेस्तापो दहति स मनो वह्निवदलम्।
ततः खेदोऽत्यन्तं भवति भविनां चेतसि बुधा
निधानेदं पूते जिनपतिमते सन्ति निरताः॥ ३४२॥

अर्थ—सांसारिक समस्त सुख बादल में चमकती हुई बिजली के समान अनित्य हैं, तृष्णा की वृद्धि करने वाले हैं उसको भोगने से कभी तृप्ति नहीं होती, सर्वदा उनको प्राप्त करने की ही चिंता बनी रहती है, तृष्णा की वृद्धि से मन को बेहद ताप होता है, मन को ताप हो आत्मा में शांति का नाम-निशान नहीं रहता और शांति के नाम-निशान नहीं रहने से अत्यन्त दुःख भोगना पड़ता है, इसलिये जो विवेकशील पुरुष हैं, वे सर्वदा पवित्र सर्वज्ञ कथित धर्म में ही मन लगाते हैं॥ ३४२॥

॥ १४ ॥

दैवनिरूपण

यत्पाति हन्ति जनयति रजस्तमःसत्त्वगुणयुतं विश्वम्।
तद्धरिशङ्करविधिवद्विजयतु जगत्यां सदा कर्म॥ ३४३॥

अर्थ—जो रजोगुण, तमोगुण और सत्त्व गुण से परिपूर्ण जगत् की कृष्ण, महादेव और ब्रह्मा के समान रक्षा, नाश और उत्पत्ति करता है अर्थात् जिस प्रकार कृष्ण जगत् की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार रक्षा करते हैं, जिस प्रकार महादेव संहार करते हैं, उसी प्रकार संहार करते हैं और ब्रह्मा जिस प्रकार उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार उत्पन्न करते हैं, वह तीन स्वरूप को धारण करने वाला कर्म सदा संसार में जय को प्राप्त हो॥ ३४३॥

भवितव्यता विधाता कालो नियतिः पुराकृतं कर्म।
वेधा विधिस्वभावो भाग्यं दैवस्य नामानि॥ ३४४॥

अर्थ—भवितव्यता, विधाता, काल, नियति, पुराकृत, कर्म, वेधा, विधि, स्वभाव और भाग्य से सब दैव के ही दूसरे-दूसरे नाम हैं, अन्य के नहीं। अर्थात् जो लोग संसार में यह कहा करते हैं कि क्या किया जाय भवितव्यता ही ऐसी थी अथवा विधाता की इच्छा को कौन जान सकता है अथवा काल ही ऐसा था इत्यादि। वह सब दैव को ही उद्देश्य करके कहा करते हैं अन्य को नहीं। क्योंकि वास्तव में उनमें और दैव में कोई अंतर नहीं हैं॥ ३४४॥

यत्सौख्यदुःखजनकं प्राणभृता संचितं पुरा कर्म।
स्मरति पुनरिदानीं तद्दैवं मुनिभिराख्यातम्॥ ३४५॥

अर्थ—परिभ्रमण रूप इस संसार में घूमते हुए जीवों ने जो-२ अपने सुख या दुःख उत्पन्न करने वाले पूर्व में भले अथवा बुरे कर्म किये हैं उन्हीं को मुनि लोग वर्त्तमान काल में दैव कहते हैं।

भावार्थ—पूर्व में किये गये कर्म ही दैव नाम से कहे जाते हैं॥ ३४५॥

दुःखं सुखं च लभ्येद् यद्येन यतो यदा यथा यत्र।
दैवनियोगात्प्राप्यं तत्तेन ततस्तदा तथा तत्र॥ ३४६॥

अर्थ—जिस जीव ने जिस तरह से जिस समय जहाँ पर जितना दुःख वा सुख उठाया होगा, भोगा होगा, उतना ही उस जीव को उससे उसी समय वहीं पर उसी तरह उतना ही दुःख अथवा सुख भाग्य के वश से मिलेगा॥ ३४६॥

यत्कर्म पुरा विहितं यातं जीवस्य पाकमिह किञ्चित्।
न तदन्यथा विधातुं कथमपि शक्रोऽपि शक्नोति॥ ३४७॥

अर्थ—पूर्व काल में भला या बुरा कैसा भी कर्म जीव कर चुका है, उसके फल में वैपरीत्य यदि इंद्र भी चाहे तो भी किसी प्रकार नहीं कर सकता।

भावार्थ—जिस जीव ने जैसा कर्म किया है, उनको वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। उसके फल भोगते समय यदि इन्द्र भी यह चाहे कि हमारा यह परम मित्र है अथवा शत्रु है इसको दुःख की जगह सुख और सुख की जगह दुःख कर दें तो नहीं कर सकता॥ ३४७॥

धाता जनयति तावल्ललामभूतं नरं त्रिलोकस्य।
यदि पुनरपि गतबुद्धिर्नाशयति किमस्य तत्कृत्यम्॥ ३४८॥

अर्थ—दैव यदि इस पुरुष को तीनों लोकों में शिरोमणि बनाकर पुनः निर्बुद्धि होकर इसे नष्ट कर देता है, सबसे निकृष्ट अधम बना देता है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह उसका काम है कि अपने अधीन को ऊँचा और नीचा बनायें॥ ३४८॥

निहतं यस्य मयूखैर्न तमः संतिष्ठते दिगन्तेऽपि।
उपयाति सोऽपि नाशं नापदि किं तं विधिः स्पृशति॥ ३४९॥

अर्थ—सूर्य अपनी सहस्र किरणों से दशों दिशाओं का अंधकार नष्टकर उदयाचल पर विराजमान होता है, वह जिस समय पश्चिम समुद्र में जाकर डूब जाता है, उस समय क्या उसके साथ दैव नहीं रहता? अर्थात् अवश्य रहता है।

भावार्थ—छोटे से सूर्य द्वारा दशों दिशाओं के अंधकार का नाश होना भाग्य की कृपा नहीं तो और क्या है? और इतने बड़े प्रतापी का संध्या समय समुद्र में डूबना भी भाग्य की बात नहीं है तो और क्या है? अर्थात् जो कुछ सुख अथवा दुःख होता है, वह दैव से ही होता है॥ ३४९॥

विपरीते सति धातरि साधनमफल प्रजायते पुंसाम्।
दशशतकरोऽपि भानुर्निपतति गगनादनवलम्बः॥ ३५०॥

अर्थ—यदि मनुष्य का भाग्य टेढ़ा है—दैव की इच्छा मनुष्य की इच्छा के

प्रतिकूल है तो मनुष्य हजारों और लाखों प्रयत्न कर डाले, कभी भी वह अपने कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। देखो! सहस्र किरणों (हाथों) का धारक भी सूरज जिस समय उसकी अवधि पूरी हो जाती है, भाग्य टेढ़ा हो जाता है, सहायरहित के समान आकाश से गिर पड़ता है, उस समय उसकी हजार भी किरणें आकाश में ठहरने के लिये उसे सहायता नहीं देतीं, जिससे परवश हो उसे पश्चिम समुद्र में डूबना (अस्त होना) पड़ता है।

भावार्थ—जो सूरज सबेरे से लेकर सांय से पहले-पहले तक जिन अपनी किरणों से आकाश में निराधार खड़ा रहता है, वही जिस समय उसका काल आ जाता है, संध्या हो जाती है तो वेरोकटोक गिर पड़ता है, जिससे भाग्य की बलवत्ता स्पष्ट दिखायी पड़ती है॥ २५०॥

यत्कुर्वन्नपि नित्यं कृत्यं पुरुषो न वाञ्छितं लभते।
तत्रायशो विधातुर्मुनयो न वदन्ति देहभृतः॥ ३५१॥

अर्थ—जिस कार्य की सिद्धि के लिये मनुष्य रात-दिन परिश्रम करता है और फिर भी उसमें सफल प्रयत्न नहीं होता, उसमें मुनि लोग दैव का ही दोष देते हैं, मनुष्य का नहीं।

भावार्थ—मनुष्य का कर्तव्य अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये अविरत चेष्टा करना है और उसका फल मिलना न मिलना दैव के अधीन है, ऐसी अवस्था में जब मनुष्य तो अपना कर्तव्य कर चुका है और दैवफल नहीं दे रहा है, मनुष्य का दोष तो हो नहीं सकता है॥ ३५१॥

बान्धवमध्येऽपि जनो दुःखानि समेति पापपाकेन।
पुण्येन वैरिसदनं यातोऽपि न मुच्यते सौख्यैः॥ ३५२॥

अर्थ—इस जीव का जिस समय भाग्य सीधा होता है—पुण्य का उदय रहता है, उस समय इसे शत्रुओं के घरों में भी सुख ही सुख मिलते हैं, वहां भी इसके कोई न कोई मित्र निकल आते हैं और दुःख की जगह सुख पहुँचाने लगते हैं और जिस समय भाग्य टेढ़ा रहता है—पाप का उदय रहता है उस समय बंधु-बांधवों के मध्य में भी इसे नाना तकलीफें उठानी पड़ती हैं, वहां पर भी कोई इसका वैरी निकल आता है और इसे नाना तकलीफें देने लगता है॥ ३५२॥

पुरुषस्य भाग्यसमये पतितो वज्रोऽपि जायते कुसुमम्।
कुसुममपि भाग्यविरहे वज्रादपि निष्ठुरं भवति॥ ३५३॥

अर्थ—जिस समय पुरुष का भाग्य सीधा रहता है, उस समय इस के शिर पर पड़ा हुआ वज्र भी फूल हो जाता है, वह इसके लिए प्राणघातक न हो सुखदायक ही हो जाता है और जिस समय अशुभ भाग्य का उदय रहता है उस समय फूल भी इसके ऊपर गिरता हुआ व्रज हो जाता है—उसके समान प्राण लेकर ही छोड़ता है॥ ३५३॥

किं सुखदुःखनिमित्तं मनुजोऽयं खिद्यते गतमनस्कः।
परिणमति विधिविनिर्मितमसुभजां किं वितर्केण॥ ३५४॥

अर्थ—इस संसार में जो लोग सुख-दुःख के कारण रात-दिन नाना प्रकार की चिंतायें किया करते हैं—उनके चिंतवन से अपने आपको दुःखित किया करते हैं, वे भूलते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात को विचार कर कि सांसारिक समस्त सुख-दुःख दैवाधीन हैं, भाग्य के वश मिलते हैं, संतोष धारण करना चाहिये॥ ३५४॥

दिशि विदिशि वियति शिखरिणि संयति गहने वनेऽपि यातानाम्।
योजयति विधिरभीष्टं जन्मवतामभिमुखीभूतः॥ ३५५॥

अर्थ—जिस समय दैव इस जीव के प्रतिकूल रहता है, उस समय चाहें यह दिशाओं में हो, चाहें विदिशाओं में हो, चाहे आकाश में हो, चाहें पर्वत के शिखरों पर हो, चाहें गहन भयानक वन में हो और चाहें युद्ध में हो, सब जगह सब अवस्थाओं में इसके अभीष्ट की सिद्धि होती है॥ ३५५॥

यदनीतिमतां लक्ष्मीर्यदपथ्यनिषेविणां च कल्यत्वम्।
अनुमीयते विधातुः स्वेच्छाकारित्वमेतेन॥ ३५३॥

अर्थ—दैव बड़ा ही स्वेच्छाचारी है, यह अपने मन में जो बात आती है, उसे ही कर डालता है। देखें! न्यायसिद्ध तो यह बात है कि जो लोग नीति पर चलने वाले हैं, योग्य कार्य करते हैं, उन्हें ही लक्ष्मी वाला धनवान् करें और जो पथ्य से रहते हैं, नियमानुसार आहार-विहार करने वाले हैं, उन्हें ही नीरोग बनायें, परन्तु इसकी छटा विचित्र ही है, इसके मन में कुछ और ही बात रहा करती है, जो अनीति-सेवियों को-अन्याय मार्ग से प्रवर्त्तने वालों को तो धनवाला बनाता है और अपथ्यसेवियों विरुद्ध आहार-विहार करने वालों को नीरोग बनाता है जिससे स्पष्ट इस (दैव) का स्वेच्छाचारीपना मालूम पड़ता है॥ ३५६॥

जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति।
पुण्यविपाकान्मर्त्यो मत्वेति विमुच्यतां खेदः॥ ३५७॥

अर्थ—कोई मनुष्य तो समुद्र के अंदर जाकर भी रत्न नहीं पाता और कोई उसमें

विना जाये तट पर बैठा-बैठा ही रत्न पा लेता है, इसलिये यह सब महिमा पाप और पुण्य की जानकर मनुष्यों को खेद छोड़ देना चाहिये॥ ३५७॥

सुखमसुखं च विधत्ते जीवानां यत्र तत्र जातानाम्।
कर्मैव पुरा चरितं कस्तच्छक्नोति वारयितुम्॥ ३५८॥

अर्थ—संसार में उत्पन्न होते और मरते हुए समस्त जीवों को दुःख-सुख सब कुछ दैव ही प्रदान करता है अन्य कोई नहीं और उसकी सामर्थ्य को कोई भी नहीं रोक सकता॥ ३५८॥

द्वीपे चात्र समुद्रे धरणीधरमस्तके दिशामन्ते।
यातं कूपेति विधी रत्नं योजयति जन्मवताम्॥ ३४९॥

अर्थ—जिनका भाग्य सीधा है उनका द्वीप, समुद्र, पर्वतों के शिखिर, दिशाओं के अंत और कूएँ के तल में गिरा हुआ भी रत्न मिल जाता है और जिनका वह भाग्य टेढ़ा है, उनका हाथ पर रक्खा हुआ भी नष्ट हो जाता है॥ ३५९॥

विपदोऽपि पुण्यभाजां जायन्ते सम्पदोऽत्र जन्मवताम्।
पापविपाकाद्विपदो जायन्ते सम्पदोऽपि सदा॥ ३६०॥

अर्थ—पुण्य-विपाक से इस संसार में जीवों पर आई हुई विपत्तियाँ भी संपत्तियाँ हो जाती हैं और पाप के प्रभाव से संपत्तियाँ भी विपत्तियाँ बन जाती हैं॥ ३६०॥

चित्रयति यन्मयूरान् हरितयति शुकान् बकान् सितीकुरुते।
कर्मैव तत्करिष्यति सुखासुखं किं मनःखेदैः॥ ३६१॥

अर्थ—जिस दैव की कृपा से मयूर तो चित्र-विचित्र रंगबिरंगे उत्पन्न होते हैं, तोते हरे पंख वाले होते हैं और बगुले श्वेत होते हैं, वही दैव कुछ भी सुख अथवा दुःख है—उसको करेगा, व्यर्थ ही मन में खेद करने से क्या लाभ? इसलिये सब अवस्थाओं में मन प्रसन्न रखना ही श्रेष्ठ है॥ ३६१॥

अन्यकृत्यं मनुजश्चिन्तयति दिवानिशं विशुद्धधिया।
वेधा विदधात्यन्यत्स्वामी च न शक्यते धर्तुम्॥ ३६२॥

अर्थ—दैव की सामर्थ्य बड़ी विचित्र है, यह इस जीव द्वारा उत्पन्न होकर भी पाला-पोषा जाकर भी इसी के ऊपर स्वामित्व चलाता है, क्योंकि देखो! इस दैव को उत्पन्न करने वाला मनुष्य तो कुछ करना चाहता है और यह कुछ और ही कर पड़ता है। वास्तव में तो यह चाहिये था कि यह अपने उत्पादक जीव की आज्ञानुसार चलता

और उसके योग में योग मिलाता, परंतु करता यह है कि उसी को अपनी आज्ञा में चलाता है, जो जी में आता है, उसे ही इस जीव द्वारा कराता है॥ ३६२॥

द्वीपे जलनिधिमध्ये गहनवने वैरिणां समूहेऽपि।
रक्षति मर्त्यं सुकृतं पूर्वकृतं भृत्यवत्सततम्॥ ३६३॥

अर्थ—मनुष्य चाहे किसी द्वीप में चला जाये, चाहे समुद्र के मध्य में गिर पड़े, चाहे गहन सघन वन में जा निकले, और चाहे बैरियों के समूह में ही क्यों न किसी तरह फंस जाय। यदि उसका पूर्वोपार्जित पुण्य मौजूद है तो वहाँ उसका बाल भी बांका नहीं हो सकता, वहाँ पर भी भाग्य सेवक के समान इसकी सेवा करने में सर्वदा तत्पर रहता है॥ ३६३॥

नश्यतु यातु विदेशं प्रविशतु धरणीतलं खमुत्पततु।
विदिशं दिशं तु गच्छतु नो जीवस्त्यज्यते विधिना॥ ३६४॥

अर्थ—मनुष्य चाहे छिप जाय, चाहे देश कर छोड़ विदेश चला जाय, चाहे पाताल में घुस जाये, चाहे आकाश में उड़ जाय और चाहे दिशा और विदिशा में चला जाय, परन्तु भाग्य इसको कहीं भी नहीं छोड़ता, सर्वदा इसके साथ ही रहता है॥ ३६४॥

शुभमशुभं च मनुष्यैर्यत्कर्म पुरार्जितं विपाकमितम्।
तद्भोक्तव्यमवश्यं प्रतिषेद्धुं शक्यते केन॥ ३६५॥

अर्थ—मनुष्यों ने पूर्व में जैसा भी भला अथवा बुरा कार्य किया है, उनका उन्हें समय आने पर अवश्य ही फल भोगना पड़ेगा, इसको कोई नहीं रोक सकता॥ ३६५॥

धनधान्यकोशनिचयाः सर्वे जीवस्य सुखकृतः सन्ति।
भाग्येनेति विदित्वा विदुषा न विधीयते खेदः॥ ३६६॥

अर्थ—संसार में जितने भी धन, धान्य, खजाने आदि पदार्थ हैं, जिनको लोग सुखदायक कहते हैं, वे सब भाग्य के अनुकूल रहने पर ही सुखदायक हैं, उसके प्रतिकूल होने पर तो दुःखदायक हो जाते हैं, इसलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे सुख-दुःख को दैवाधीन समझकर कुछ भी खेद नहीं करते॥ ३६६॥

दैवायत्तं सर्वं जीवस्य सुखासुखं त्रिलोकेऽपि।
बुद्ध्वेति शुद्धधिषणाः कुर्वन्ति मनःक्षतिं नात्र॥ ३६७॥

अर्थ—तीनों लोक में इस जीव को जो कुछ भी सुख अथवा दुःख होते हैं, वे

दैव के प्रभाव से होते हैं, अन्य से नहीं, ऐसा समझकर जो शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष हैं, वे कभी भी अपने मन की शांति को भंग नहीं करते॥ ३६७॥

दातुं हर्तुं किञ्चित्सुखासुखं नेह कोऽपि शक्नोति।
त्यक्त्वा कर्म पुराकृतमिति मत्वा नाशुभं कृत्यम्॥ ३६८॥

अर्थ—पूर्व में किये गये कर्म (दैव) को छोड़कर न तो कोई इस जीव को सुख ही दे सकता है और न कोई इसके दुःख को ही मिटा सकता है, ऐसा विचार कर बुद्धिमानों को सर्वदा शुभ ही कार्य करना चाहिये, अशुभ नहीं॥ ३६८॥

नरवरसुरवरविद्याधरेषु लोके न दृश्यते कोऽपि।
शक्नोति यो निषेद्धुं भानोरिव कर्मणामुदयः॥ ३६९॥

अर्थ—जिस प्रकार सूरज के उदय को इस संसार में क्या मनुष्य, क्या देव और क्या विद्याधर कोई भी नहीं रोक सकता। उसका प्रकट होना अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार इस दैव (भाग्य) का उदय में आना—शुभाशुभ फल देना भी अवश्यम्भावी है, इसे भी कोई नहीं रोक सकता॥ ३६९॥

दयितजनेन वियोगं संयोगं खलजनेन जीवानाम्।
सुखदुःखं च समस्तं विधिर्निरङ्कुशः कुरुते॥ ३७०॥

अर्थ—संसार में जीवों का इष्ट के साथ वियोग अनिष्ट के साथ संयोग और सुख-दुःख की प्राप्ति करना आदि सब निर्भय रीति से प्रवर्तने वाले दैव के हाथ में है। दैव ही बिना किसी भय के इन सब बातों को करता है॥ ३७०॥

अशुभोदये जनानां नश्यति बुद्धिर्न विद्यते रक्षा।
सुहृदोऽपि सन्ति रिपवो विषमविषं जायते त्वमृतम्॥ ३७१॥

अर्थ—जिस समय इस जीव के अशुभ कर्म उदय में होता है—पूर्व में किये गये पाप कर्म के फल भोगने का समय आता है, उस समय इसकी बुद्धि तो नष्ट हो जाती है, रक्षा का कोई उपाय नहीं रहता, मित्र शत्रु हो जाते हैं और अमृत भी विष हो जाता है॥ ३७१॥

नश्यति हस्तादर्थं पुण्यविहीनस्य देहिनो लोके।
दूरादेत्य करस्थं भाग्ययुतो जायते रत्नम्॥ ३७२॥

अर्थ—जो पुरुष भाग्यहीन है—जिसको पूर्वोपार्जित पाप कर्म उदय में आ कर फल दे रहा है, उसके हाथ में आया हुआ भी धन नष्ट हो जाता है और जो पुण्यसहित

है—सौभाग्य वाला है, उसके दुष्प्राप्य और दूरवर्ती भी धन हाथ में आ जाता है॥ ३७२॥

कस्यापि कोऽपि कुरुते न सुखं दुःखं च दैवमपहाय।
विदधाति वृथा गर्वं खलोऽहमहितस्य हन्तेति॥ ३७३॥

अर्थ—वास्तव में देखा जाय तो दैव को छोड़कर कोई भी किसी का कुछ नहीं बिगाड़ता। जो कुछ भी किसी को दुःख अथवा सुख मिलते हैं, वे सब उसके भाग्य से मिलते हैं, परन्तु जो मूर्ख पुरुष हैं वे तब भी मैंने शत्रु को मार दिया अथवा मैंने इसका अमुक कार्य कर दिया आदि प्रकार से वृथा ही गर्व कर बैठते हैं॥ ३७३॥

गिरिपतिराजसानुमधिरोहतु यातु सुरेन्द्रमन्दिरं
विशतु समुद्रवारि धरणीतलमेकधिया प्रसर्पतु।
गगनतलं प्रयातु विदधातु सुगुप्तमनेकधायुधै-
स्तदपि न पूर्वकर्म सततं बत मुञ्चति देहधारिणम्॥ ३७४॥

अर्थ—ये जीव चाहे सुमेरु पर्वत की चोटी पर चढ़ जायें, चाहें इन्द्र के घर में घुस जायें, चाहें समुद्र के जल में पैठ जायें, चाहें पाताल लोक में प्रवेश कर जायें, चाहें आकाश में उड़ जायें, और चाहें नाना शस्त्रों अस्त्रों से अपनी खूब दृढ रक्षा कर लें, परन्तु इन्हें इनका पूर्व में किया गया अशुभ कर्म बिना फल दिये नहीं मान सकता—किसी भी अवस्था में इनको यह सुख-दुःख बिना दिये नहीं छोड़ सकता॥ ३७४॥

॥ १५ ॥

उदरनिरूपण

तावज्जल्पति सर्पति तिष्ठति माद्यति विलसति विभाति।
यावन्नरो न जठरं देहभृतां जायते रिक्तम्॥ ३७५॥

अर्थ—जब तक कि प्राणियों का पेट भरा रहता है, तब तक तो ये बोलते-चालते हैं, चलते-फिरते उठते-बैठते हैं, हर्षित होते हैं, आनंद मनाते हैं और शोभित होते हैं परन्तु ज्यों ही इनका उदर खाली हुआ, इन्हें भूख ने सताया, त्यों ही ये सब बातें भूल जाते हैं और चुपचाप पड़े रहते हैं॥ ३७५॥

यद्यकरिष्यद् वातो निक्षिप्तद्रव्यनिर्गमद्वारम्।
को नाम शक्यः कर्तुं जठरघटीपूरणं मर्त्यः॥ ३७६॥

अर्थ—उदर रूपी घड़े में पड़े हुए पदार्थों को निकालने वाला पवन जब मौजूद है तब किसकी सामर्थ्य है कि उसे कोई पूर्ण कर सके॥ ३७६॥

शक्येतापि समुद्रः पूरयितुं निम्नगाशतसहस्रैः।
नो शक्यते कदाचिज्जठरसमुद्रोऽन्नसलिलेन॥ ३७७॥

अर्थ—सैकड़ों और हजारों नदियों के समूह से चाहे एक बार समुद्र भर जाय, परन्तु उदर रूपी समुद्र कभी भी अन्न रूपी जल से नहीं भर सकता॥ ३७७॥

वैश्वानरो न तृप्यति नानाविधकाष्ठनिचयतो यद्वत्।
तद्वज्जठरहुताशो नो तृप्यति सर्वथाप्यशनैः॥ ३७८॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि में चाहे कितने भी लकड़ियों के गठ्ठर डाल दिये जायें, परन्तु वह कभी भी तृप्त नहीं होती, उलटी असंतुष्ट हो, अधिकाधिक अपनी तृष्णा ही बढ़ाती चलती है, उसी प्रकार यह उदर रूपी अग्नि भी चाहे इसमें कितना ही अन्न रूपी ईंधन झोंक दिया जाय, बढ़ती ही चली जाती है, कभी भी संतुष्ट नहीं होती॥ ३७८॥

यस्यां वस्तु समस्तं न्यस्तं नाशाय कल्पये सततम्।
दुःपूरोदरपिठरीं कस्तां शक्नोति पूरयितुम्॥ ३७९॥

अर्थ—जिस उदर रूपी पिठरी में रखी हुई समस्त वस्तु अल्प समय में ही नष्ट हो जाती है, उसको ऐसा कौन पुरुष है कि भरकर पूरी कर सके।

भावार्थ—यदि रखी हुई चीज ज्यों की त्यों बनी रहती और कभी नष्ट न होती, तब तो यह बात संभव थी कि वह उदर रूपी पिठरी कभी न कभी भर जाती, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, उसमें रखी गई चीज तो थोड़े समय बाद ही नष्ट हो जाती है, इसलिये उसका भरना बहुत कठिन है, बल्कि असंभव है॥ ३७९॥

तावन्नरः कुलीनो मानी शूरः प्रजायतेऽत्यर्थम्।
यावज्जठरपिशाचो वितनोति न पीडनं देहे॥ ३८०॥

अर्थ—जब तक शरीर में जठर (उदर) रूपी पिशाच पीड़ा नहीं देता, शरीर पर अपना अधिकार नहीं जमाता, भूख नहीं लगती तब तक तो मनुष्य कुलीन रहता है, मानीपना दिखाता है और वीर होने का भी दावा करता है, परन्तु ज्यों ही उदर पिशाच ने इस पर अपना अधिकार जमाया—क्षुधा सताने लगी, त्यों ही इसका कुलीनपना किनारा कर जाता है, मान अपनी पूँछ दबाकर भाग जाता है और वीरता काला मुँह कर जाती है, जिससे छोटे आदमी के पास भी यह दीन होकर माँगता फिरता है॥ ३८०॥

यदि भवति जठरपिठरी नो मानविनाशिका शरीरभृताम्।
कः कस्य तदा दीनं जल्पति मानापहारेण॥ ३८१॥

अर्थ—यदि इस संसार में प्राणियों की मान-मर्यादा को चूर-चूर कर देने वाली उदर रूपी पिठरी न होती तो कौन किसकी दीन होकर सेवा करता—कौन नहीं स्वतंत्र रहकर अपने जीवन को बिताता और निश्चित रहता।

भावार्थ—यह पेट ही एक ऐसा पदार्थ है जिसके कारण बड़े-बड़े मानियों के भी मान नष्ट हो जाते हैं॥ ३८१॥

गायति नृत्यति वल्गति धावति पुरतो नृपस्य वेगेन।
किं किं न करोति पुमानुदरग्रहपवनवशीभूतः॥ ३८२॥

अर्थ—जिस प्रकार लोक में भूत-पिशाच से ग्रसा गया आदमी गाता है, नाचता है, कूदता है और दौड़ता है, उसी प्रकार उदर रूपी पिशाच से ग्रसा गया—भूख से सताया गया मनुष्य भी राजाओं के सामने गाता है, नाचता है, कूदता है और दौड़ता है। अर्थात् संसार में जो लोग गाने, नाचने, कूदने और दौड़ने की आजीविका करते हैं और उनसे राजाओं को रिझाने का प्रयत्न करते हैं, वह पेट भरने के लिये ही करते हैं। यदि पेट न होता तो कोई कुछ भी न करता॥ ३८२॥

जीवान्निहन्त्यसत्यं जल्पति बहुधा परस्वमपहरति।
यदकृत्यं तदपि जनो जठरानिलतापितस्तनुते॥ ३८३॥

अर्थ—अस्तु! ऊपर बताये गये कार्य तो कुछ करने लायक भी हैं—उनसे किसी को कुछ पीड़ा तो नहीं होती। परंतु जो काम नहीं करने के लायक हैं—बिल्कुल करने अयोग्य हैं, उन कर्मों को भी यह जीव उदर के वशीभूत होकर कर पड़ता है। देखे! अनेक जीव जो दूसरे-दूसरे प्राणियों को मारते देखे जाते हैं, झूठ बोलते सुने जाते हैं और चोरी करते पकड़े जाते हैं, वे सब इस अधम पेट के लिये ही तो करते हैं, यदि पेट न होता तो वे किसलिये जान-बूझ कर भी पाप में प्रवृत्त होते॥ ३८३॥

द्युतिगतिमतिरतिलक्ष्मीलता लसन्ति तनुधारिणां तावत्।
यावज्जठरदवाग्निर्न ज्वलति शरीरकान्तारे॥ ३८४॥

अर्थ—जब तक प्राणियों के शरीर रूपी वन में उदराग्नि प्रवेश नहीं करती उसको समय-समय पर खाना मिलता चला जाता है, तब तक तो इनके शरीर की द्युति, गति, मति, (बुद्धि) रती और लक्ष्मी (शोभा) रूपी लतायें नहीं मुरझा पातीं और ज्यों ही वह उदराग्नि प्रविष्ट हुई त्यों ही द्युति (कांति) आदि समस्त पदार्थों को भस्म कर चट कर डालती है।

भावार्थ—उदर में यथासमय भोजन न पहुँचने से मनुष्य के शरीर की कांति उड़ जाती है, चलना फिरना बंद हो जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, प्रेम नष्ट होने लगता है और शरीर शोभा-रहित सरोग हो फीका पड़ जाता है॥ ३८४॥

संसारतरणदक्षो विषयविरक्तो जरार्दितोप्यसुमान्।
गर्वोद्ग्रीवं पश्यति सधनमुखं जठरनृपगदितः॥ ३८५॥

अर्थ—जो लोग संसार को पार करने में चतुर होते हैं-तप आदि द्वारा उसे पार करने की सामर्थ्य रखते हैं, सर्वदा विषयों से बहिर्भूत (विरक्त) रहते हैं, उनके सेवन में कभी भी अपनी इच्छा नहीं प्रगट करते और बुढ़ापे से पीड़ित रहते हैं—वृद्ध होते हैं वे लोग भी जिस समय उसे भरने के फंदे में पड़ते हैं—उन पर भी जिस समय उदर महाराज की आज्ञा चलती है, उस समय गर्व से ऊंचे हुए धनियों के मुँह को आशा भरी दृष्टि से देखते हैं—वे भी पेट भरने के लिये धनियों के पास जाते हैं और उनकी गर्व भरी डाँट-डपट सहते हैं॥ ३८५॥

कर्षति वदति लुनीते दीव्यति सीव्यति पुनाति वयते च।
विदधाति किं न कृत्यं जठरानलशांतये तनुमान्॥ ३८६॥

अर्थ—मनुष्य संसार में इस जठराग्नि को शांत करने के लिये क्या उपाय नहीं

करते—उनकी समझ में जो-२ बातें आती हैं, सब ही कर पड़ते हैं। देखो! उसी उदराग्नि की शांति के लिये तो ये खेत जोतते हैं, बीज बोते हैं, उसे काटते हैं, जुआ खेलते हैं, कपड़े सीते हैं, झाड़ू लगाते हैं और वस्त्र बुनते हैं, नहीं तो किसी को क्या गर्ज पड़ी है कि वह कठिन से कठिन परिश्रम साधय कर नाई के काम को करे, बदनाम हो जुआ खेले, दर्जी का पेशा खोले, भंगी महत्तर हो झाड़ू लगाये और जुलाहा बन कपड़े बुने॥ ३८६॥

लज्जामपहन्ति नृणां मानं नाशयति दैन्यमुपचिनोति।
वर्धयति दुःखमखिलं जठरशिखी वर्धितो देहे॥ ३८७॥

अर्थ—शरीर में जठराग्नि के बढ़ने से लज्जा नष्ट हो जाती है—मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है, मान का सर्वथा अभाव हो जाता है, दीनता साम्राज्य आ जाता है और समस्त दुःख बढ़ने लगते हैं।

भावार्थ—निर्लज्जता, मानराहित्य और दैन्य आदि समस्त दोष केवल इस पेट के होने से ही मनुष्य में आते हैं॥ ३८७॥

गुणकमलशशांकतनुर्गर्वग्रहनाशने महामन्त्रम्।
सुखकुमुदौघदिनेशो जठरशिखी बाधते किं न॥ ३८८॥

अर्थ—जठराग्नि गुण रूपी कमलों के लिये चंद्रमा है, गर्वरूपी ग्रह के नाश करने में महामंत्र का काम देती है और सुख रूपी कुमुदों को मुरझा देने में सूर्य की बराबरी करती है अर्थात् जिस प्रकार चंद्रमा के उदय होने से कमल नहीं खिलते, उसी प्रकार उदराग्नि पीड़ित मनुष्य के गुण नहीं प्रगट होते, जिस प्रकार पिशाच ग्रह दूर करने के लिये महामंत्र का उपयोग करते हैं और उससे वह दूर भी हो जाता है, उसी प्रकार क्षुधा के कारण गर्व भी दूर होकर नष्ट हो जाता है और जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर कुमुद (कुई फूल) मुरझा जाते हैं, उसी प्रकार इस उदराग्नि के प्रादुर्भाव से सुख मुरझा जाता है—दुःख ही दुःख मालूम होने लगता है॥ ३८८॥

शिथिलीभवति शरीरं दृष्टिर्भ्राम्यति विनाशमेति मतिः।
मूर्च्छा भवति जनानामुदरभुजङ्गेन दष्टानाम्॥ ३८९॥

अर्थ—जो उदर रूपी सर्प से डँसे जाते हैं-जिन्हें भूख सताती है और खाने को कुछ भी नहीं मिलता, उन लोगों के शरीर शिथिल हो जाते हैं, दृष्टि घूमने लगती है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मूर्च्छा सताने लगती है॥ ३८९॥

उत्तमकुलेऽपि जातः सेवां विदधाति नीचलोकस्य।
वदति च वाचां नीचामुदरेश्वरपीडितो मर्त्यः॥ ३९०॥

अर्थ—जिन लोगों पर उदर रूपी नृप की आज्ञा चलती है—जो लोग उसकी आज्ञा से आज्ञापित होते हैं, वे चाहे उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हैं, उन्हें नीच कुल वाले पुरुष की सेवा करनी पड़ती है और नीच से नीच अवक्तव्य वचन भी बोलने पड़ते हैं॥ ३९०॥

दासीभूय मनुष्यः परवेश्मसु नीचकर्म विदधाति।
चाटुशतानि च कुरुते जठरदरीपूरणाकुलितः॥ ३९१॥

अर्थ—लोग अपने और अपने कुटुंब के पेट भरने के लिये दूसरों की नौकरी करते हैं, घरों में जूठे बर्तन मांजना आदि नीच से नीच कार्य करते हैं और सैकड़ों चापलूसी के वचन कहने में भी नहीं शर्माते हैं॥ ३९१॥

क्रीणाति खलति याचति गणयति रचयति विचित्रशिल्पानि।
जठरपिठरीं न शक्तः पूरयितुं गतशुभस्तदपि॥ ३९२॥

अर्थ—जिन लोगों का पुण्य नष्ट हो गया है, जो पुण्यहीन हैं, वे व्यापार करते हैं, खुदाई करते हैं, भीख मांगते हैं, गिनती गिनते हैं और तरह तरह की कारीगरी करते हैं परन्तु तब भी वे अपना पेट नहीं भर पाते—उन्हें इतना द्रव्य नहीं मिलता कि उससे भोजन प्राप्त कर अपनी उदरपूर्ति कर सकें॥ ३९२॥

प्रविशति वारिधिमध्यं संग्रामभुवं च गाहते विषमम्।
लङ्घति सकलधरित्रीमुदरग्रहपीडितः प्राणी॥ ३९३॥

कर्माणि यानि लोके दुःखनिमित्तानि लज्जनीयानि।
सर्वाणि तानि कुरुते जठरनरेन्द्रस्य वशमितो जन्तुः॥ ३९४॥

अर्थ—उदर रूपी ग्रह पीड़ित लोग समुद्र के मध्य में जाते हैं, भयानक संग्राम में सम्मिलित होते हैं तथा समस्त पृथ्वी पर घूमते-फिरते हैं और भी कहां तक कहें उदर रूपी राजा के अधीन हुआ यह मनुष्य संसार में जितने भी नीचे से नीच दुःख देने वाले लज्जास्पद कार्य हैं, उन सबको करता है—उनके करने में तनिक भी आना-कानी नहीं करता॥ ३९३-३९४॥

अर्थः कामो धर्मो मोक्षः सर्वे भवन्ति पुरुषस्य।
तावद्यावत्पीडां जाठरवह्निर्न विदधति॥ ३९५॥

अर्थ—जब तक उदराग्नि नहीं सताती तब तक तो यह मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करता रहता है—उनको पालने में भली प्रकार सावधानी रखता है, परन्तु ज्यों ही इसे भूख सताने लगती है त्यों ही इन सबको भूल

जाता है और क्रियाभ्रष्ट हो जाता है॥ ३९५॥

एवं सर्वजनानां दुःखकरं जठरशिखिनमतिविषमम्।
सन्तोषजलैरमलैः शमयन्ति यतीश्वरा ये ते॥ ३९६॥

अर्थ—परन्तु इस प्रकार भी सांसारिक प्राणियों को अतिशय कष्ट देने वाली इस जठराग्नि को जो लोग मुनि हैं, वे सन्तोषरूपी जल शांत करते हैं, हाय हाय न कर भूख को सह लेते हैं और वास्तविक मुनि कहे जाते हैं॥ ३९६॥

ज्वलितेऽपि जठरहुतभुजि कृतकारितमोदितैर्नवाहारैः।
कुर्वन्ति जठरपूर्णं मुनिवृषभा ये नमस्तेभ्यः॥ ३९७॥

अर्थ—जो मुनिगण नाना प्रकार से कष्ट देने वाली जठराग्नि की बाधा होने पर भी कृत, कारित और अनुमोदित इन तीन प्रकार के आहार से उदर को नहीं भरते, उनके लिये हमारा नमस्कार है—वे ही वास्तव में नमस्कार किये जाने के योग्य हैं।

भावार्थ—क्षुधा की तीव्र वेदना होने पर भी जो मुनि न स्वयं भोजन बनाते हैं, न बनवाते हैं, न बनाते हुये ही अनुमोदन करते हैं, वे मुनि नमस्कार के योग्य हैं ॥ ३९७॥

तावत्कुरुते पापं जाठरवह्निर्न शाम्यते यावत्।
धृतिवारिणा शमित्वा तं यतयः पापतो विरताः॥ ३९८॥

अर्थ—जब तक इस जीव की जठराग्नि शांत नहीं होती, तब तक तो यह पाप करता रहता है और इसके शांत होने पर पाप-रहित हो जाता है, इसलिये मुनिगण इस दुष्ट जठराग्नि को धैर्यरूपी शीतल जल से बुझा कर पाप से सर्वथा रहित हो जाते हैं॥ ३९८॥

श्रीमदमितगतिसौख्यं परमं परिहरति मानमपहन्ति।
विरमति वृषतस्तनुमानुदरदरीपूरणाशक्तः॥ ३९९॥

अर्थ—जिन लोगों की उदर रूपी दरी (गुफा) संतोष रूपी जल से नहीं भरी गई है, जो लोग इसके भरने में ही रात-दिन आकुलित रहते हैं, वे अपरिमित लक्ष्मी वाले सुख को अपने से दूर हटाते हैं, मान-मर्यादा का नाश करते हैं और धर्म से हाथ धो बैठते हैं॥ ३९९॥

शुभसन्तोषवारिपरिषेकबलेन यतिः सुदुःसहं,
शमयति यः कृतान्तसमचेष्टितमुत्थितमौनलम्।
व्रजति सरोगशोकमदमत्सरदुःखवियोगवर्जितं,
विगलितमृत्युजननमपविघ्नमनर्घमनन्तमास्पदम्॥ ४००॥

अर्थ—जो यति यमराज के समान भयंकर दुःख देने वाले प्रज्वलित उदर की अग्नि के वेग को संतोष रूपी शीतल जल के प्रवाह से बुझा देता है—उसे अच्छी तरह से सह लेता है, वह अंत में ऐसे स्थान को पाता है, जहाँ पर कि रोग, शोक, मद, मत्सर, वियोग, आदि दुःखों अथवा दोषों का नाम और निशान तक नहीं है, जहां पर जन्म-मरण का सर्वथा अभाव है, जहां पर विघ्नों की दाल नहीं गलती और जो सर्वात्कृष्ट अनंत सुख का भंडार है—जबकि निवासियों को अनंतज्ञानादि जन्म सुख ही सुख है॥ ४००॥

॥ १६ ॥

जीवसंबोधन

सर्पत्स्वान्तप्रसूतप्रततमतमस्तोममस्तं समस्तं,
सावित्रीव प्रदीप्तिर्नयति वितनुते पुण्यमन्यद्धिनस्ति।
सूते संमोदमैत्रीद्युतिसुगतिमतिश्रीश्रिता कान्तिकीर्तिं,
किं किं वा नो विधत्ते जिनपतिपदयोर्मुक्तिकर्त्री च दृष्टिः॥ ४०१॥

अर्थ—जिस प्रकार सूरज की कांति (तेज) संसार के समस्त अंधकार को छिन्न-भिन्न कर प्रकाश कर देती है, उसी प्रकार जो मनरूपी घर में फैलते हुए अतिशय अज्ञानरूपी अधंकार को बात ही बात में नष्ट कर डालती है, जो पुण्य की वृद्धि कर पाप का नाश करती है, जो प्रमोद मैत्री, कांति, सुगति, मति, लक्ष्मी और कीर्ति को प्रकट करती है, वह जिनेंद्र भगवान् के चरणों में की गई अचल भक्ति जब मुक्ति तक दे सकती है, तब क्या-क्या नहीं कर सकती॥ ४०१॥

शुश्रूषामाश्रयध्वं, बुधजनपदवीं याहि, कोपं विमुञ्च,
ज्ञानाभ्यासं कुरुष्व, त्यज विषयरिपुं धर्ममित्रं भजात्मन्।
निस्त्रिंशत्वं जहीहि, व्यसनविमुखतामेहि, नीतिं विधेहि,
श्रेयश्चेदस्ति पूतं परमसुखमयं लब्धुमिच्छास्तदोषम्॥ ४०२॥

अर्थ—हे जीव! यदि तू नित्य सुख चाहता है तो सुदेवादि की शुश्रूषा का आश्रय ले, विद्वानों की संगति कर, क्रोध करना छोड़ दें, ज्ञान का अभ्यास करना सीख, इंद्रिय-विषयों को तिलांजलि दे दे, धर्म की शरण में जा, राक्षसपना-स्वार्थान्धता से दूसरों का पीडन करना छोड़ दे, व्यसनों से विमुख हो और नीति का सेवन कर॥ ४०२॥

तारुण्योद्रेकरम्यां दृढकठिनकुचां पद्मपत्रायताक्षीं,
स्थूलोपस्थां परस्त्रीं किमिति शशिमुखीं वीक्ष्य खेदं प्रयासि।
त्यक्त्वा सर्वान्यकृत्यं कुरु सुकृतमहो कान्तमूर्त्यङ्गनानां,
वाञ्छा चेत्ते हतात्मन्न हि सुकृतमृते वाञ्छितावाप्तिरस्ति॥ ४०३॥

अर्थ—हे दीन-हीन गरीब आत्माओं! यदि तुम्हें इस संसार में बढ़िया से बढ़िया और लक्ष्मी सरीखी औरतों को पाने की इच्छा है—यदि तुम अपने को उनको प्राप्त हो जाने से ही कृतार्थ समझते हो, जैसा कि दृढ कठिन स्तनों वाली कमलनयनी, स्थूल नितंबिनी, चंद्रवदनी पराई स्त्रियों को देखने की तुम्हारी लालसा से जाना जाता है तो तुम अन्य सब बातों को छोड़ दो और पाप करने से मुँह मोड़ सुकृत (धर्म) करना शुरू कर दो इसी में तुम्हारा कल्याण है, क्योंकि इस संसार में बिना पुण्य के कोई भी अभीष्ट कार्य सिद्ध नहीं होता॥ ४०३॥

लक्ष्मीं प्राप्याप्यनर्घ्यामखिलपरजनप्रीतिपुष्टिप्रदात्रीं,
कान्तां कान्ताङ्गयष्टिं विकसितवदनां चिन्तयस्यार्तचित्तः।
तस्याः पुत्रं पवित्रं प्रथितपृथुगुणं तस्या भार्यां च तस्याः,
पुत्रं तस्यापि कान्तामिति विहितमतिः खिद्यसे जीव मूढ!॥ ४०४॥

अर्थ—हे जीव! तू इस संसार में सर्वदा अपने आप ही दुःख उपार्जन कर खेद से खिन्न हुआ करता है। देख! पहिले तो तू धन के लिये ही तरसता-फिरता है, यदि किसी प्रकार वह प्राप्त भी हो जाय और उससे समस्त कुटुम्बी तथा अन्य लोग प्रीति भी करने लगें तो फिर आर्त्तचित्त हो कर मनोहर मूर्ति की धारक चंद्रमुखी पत्नी की चाह करने लगता है। वह भी यदि किसी प्रकार मिल जाय तो उससे फिर श्रेष्ठ गुण वाले सुख दाई पुत्र की अभिलाषा करता है और पुत्र की प्राप्ति होने पर उसके विवाह की, उसके विवाह होने पर उसके पुत्र की, उसके पुत्र होने पर उसके विवाह की और फिर उसके भी पुत्र की, इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छा करता चला जाता है जिससे भ्रष्ट बुद्धि हो अपना कुछ भी हित नहीं विचार सकता॥ ४०४॥

जन्मक्षेत्रेऽपवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे,
देहे व्याध्यादिसिन्धुप्रपतनजलधौ पापपानीयकुम्भे।
कुर्वाणो बन्धुबुद्धिं विविधमलभृते यासि रे जीव! नाशं,
सञ्चिन्त्यैवं शरीरे कुरु हतममतो धर्मकर्माणि नित्यम्॥ ४०५॥

अर्थ—रे हिताहित विचार रहित दुर्बुद्धि जीव! तू अपने अहित को करने वाले परम शत्रु स्वरूप शरीर में क्यों इतनी ममता करता है? क्यों तू इसके पीछे लग अपने कर्तव्य-पथ से च्युत होता है? देख! यह तेरा शरीर महा अपवित्र जन्म का स्थान है, बादल में चमकती हुई बिजली की चमक के समान अस्थिर है—क्षण विनाशी है, नाना दोष रूपी सर्पों के रहने का बिल-स्थान है, आधिव्याधि आदि नदियों के मिलने का समुद्र है, पाप रूपी पानी का भरा हुआ घड़ा है और विविध मलों का भण्डार है। इसमें

तेरी बंधु-बुद्धि करना महामूर्खता है इसलिये तुझे चाहिये कि तू इस शरीर से मोह-ममता हटाकर धर्मकार्य करे—शरीर को बंधु न समझ धर्म को ही बंधु समझे॥ ४०५॥

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंगसौख्ये
तद्वत्त्वं चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्याः।
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतभवजरामृत्युदुःखप्रपञ्चं,
सञ्चिन्त्यैवं विधित्स्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वम्॥

अर्थ—हे जीव! जिस तरह तू अपने मन को काम की व्यथा से व्यथित कामिनियों के संग-जन्य सुख में लगाता है—अन्य काम-काज छोड़ उसी में तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार यदि धार्मिक भक्ति से प्रेरित हो तू उस मन को जिनेंद्र, सर्वज्ञ प्रतिपादित मोक्ष मार्ग में लगाये, उसी को अपना ध्येय समझे तो निश्चय से ही जन्म, जरा मृत्यु आदि दुःखों से रहित हो, अनंत सुख स्वरूप को पायेगा, इसलिये अब तू समस्त झगड़ों को छोड़कर परम पवित्र मार्ग में ही चित्त को स्थिर कर॥ ४०६॥

सद्यः पातालमेति प्रविशति जलधिं गाहते देवगर्भं,
भुङ्क्ते भोगान्नराणाममरयुवतिभिः संगमं याचते च।
वाञ्छत्यैश्वर्यमर्यं रिपुसमितिहतेः कीर्तिकान्तां ततश्च,
धृत्वा त्वं जीव चित्तं स्थिरमतिचपलं स्वस्य कृत्यं कुरुष्व॥ ४०७॥

अर्थ—हे जीव! तेरा चित्त बड़ा ही चंचल है, यह क्षण भर भी एक रूप से स्थिर नहीं रहता। देख! कभी तो यह पाताल में जाता है, कभी समुद्र में घुसता है, कभी स्वर्ग का रास्ता नापता है, कभी मनुष्यों के भोग भोगता है, कभी देवांगनाओं का संग चाहता है, कभी धन पाने की इच्छा करता है और कभी शत्रुओं का नाशकर कीर्ति रूपी कांता को चाहता है, इसलिये तुझे चाहिये कि तू इस चंचल चित्त को एक जगह स्थिर रखे और उसे धर्म-कार्य में लगा अपना कर्तव्य साधे॥ ४०७॥

नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्राङ्गणे वर्तमानं,
सर्वे नश्यन्ति दोषा भवभयजनका रोधतो यस्य पुंसाम्।
जीवाजीवादितत्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य,
तत्त्वे चेतो विदध्याः स्ववशसुखप्रदं स्वं तदा त्वं प्रयासि॥ ४०८॥

अर्थ—और भी यह चित्त ऐसा चंचल है कि इसे तीनों लोक रूपी आंगन में घूमते हुए को कोई भी नहीं रोक सकता। यदि कदाचित् कोई इसे रोक ले तो उसके जन्म-मरण के समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं—वह फिर इस संसार में चक्कर लगाने-नाना दुःख पाने को नहीं आता। इसलिये हे जीव! तू इस चपल चित्त को रोक और उसे

जीव, अजीव आदि यथार्थ तत्त्वों के प्रकट करने वाले जैन शास्त्रों को विचारने में लगा, जिससे तुझे आत्माधीन स्वतंत्र सुख प्राप्त हो जाये॥ ४०८॥

मित्रत्वं याति शत्रुः कथमपि सुकृतं नापहर्तुं समर्थो,
जन्मन्येकत्र दुःखं जनयति भविनां शक्यते चापघातुम्।
नैवं भोगोऽथ वैरी मृतजननजरादुःखतो जीव! शश्वत्-
तस्मादेनं निहत्य प्रशमशितशरैर्मुक्तिभोगं भज त्वम्॥ ४०९॥

अर्थ—हे जीव! इस संसार में जैसा तेरा अहित ये विषय-भोग करते हैं, वैसा कोई भी नहीं करता। वे भोग तेरे महाशत्रु हैं। देहधारी शत्रुओं से बढ़कर हैं, क्योंकि जो देहधारी शत्रु हैं, वे तो कभी न कभी किसी न किसी कारण से मित्र हो सकते हैं, किसी के पुण्य को नहीं छान सकते, एक जन्म में ही दुःख दे सकते हैं और फिर चाहो तो उनका प्रतीकार भी हो सकता है—उनके द्वारा दिये गये दुःख किसी न किसी तरह दूर हट सकते हैं परन्तु ये विषय-भोग रूपी शत्रु ऐसे नहीं हैं—ये बड़े ही विलक्षण हैं। ये कभी भी किसी के मित्र (हितकारी) नहीं होते, भव-भव में जन्म, मरण-जरा से उत्पन्न हुए दुःखों को देखकर पुण्य को हर लेते हैं और किसी प्रकार भी नहीं रोके जा सकते—उनका दुःख-फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। इसलिये हे भाई! तू सोच!! समझ!!! और शांति रूपी तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से उस शत्रु को नष्ट कर मुक्ति रूपी अंगना के भोग को भज—उसी में चित्त को लगा॥ ४०९॥

रे जीव! त्वं विमुञ्च क्षणरुचिचपलानिन्द्रियार्थोपभोगा-
नेभिर्दुःखं न नीतः किमिह भववनेऽत्यन्तरौद्रे हतात्मन्!
तृष्णा चिते न तेभ्यो विरमति विमतेद्यापि पापात्मकेभ्यः,
संसारात्यन्तदुःखात्कथमपि न तदा मुग्ध! मुक्तिं प्रयासि॥ ४१०॥

अर्थ—हे हतात्मन्! तू अब भी इन बादलों में चमकती हुई बिजली के समान क्षण विनाशक इंद्रिय-भोगों को छोड़ दे। क्योंकि तुझे इन दुष्टों ने इस संसार रूपी गहन वन में भटकते हुए को क्या-क्या दुःख नहीं दिये हैं। संसार में बड़े से बड़े जो-जो दुःख हैं, वे सब इन्होंने मुझे दिये हैं, यदि अब भी तेरी इच्छा इन्हीं पापियों—पाप स्वरूपियों के साथ रहने की है—अब भी इन्हीं को भोगना चाहता है तो रे मूढ जीव! तू निश्चय समझ! तेरा अत्यन्त दुःख देने वाले इस संसार से कभी भी किसी तरह भी निस्तार नहीं हो सकता—सर्वदा इसी में पड़ा-पड़ा रहकर तू दुःख पाता रहेगा॥ ४१०॥

मत्तस्त्रीनेत्रलोलाद्विरम रतिसुखाद्योषितामन्तदुःखा-
त्प्राज्ञान् प्रेक्षातितिक्षामतिधृतिकरुणामित्रताश्रीगृहांश्च।

एतास्तारुण्यरम्या नहि तरलदृशो मोहयित्वा तरुण्यो,
दुःखात्पातुं समर्था नरकगतिमितानङ्गिनो जीव जातु॥ ४११॥

अर्थ—रे जीव! मत्त स्त्रियों के नेत्र के समान चंचल, अंत में दुःखदायी स्त्रियों के रति-सुख का त्याग कर दे, उसका अनुभव मत कर। देख! यौवन अवस्था से महामनोहर, चंचल नेत्र की धारण करने वाली ये युवतियाँ प्रेक्षा-तितिक्षा, बुद्धि, धीरता करुणा, मित्रता और लक्ष्मी के घर स्वरूप भी बुद्धिमानों को मोहने वाली हैं और नरक में गये हुए जीवों की दुःख से कभी रक्षा नहीं कर सकतीं॥ ४११॥

दृष्ट्वा लक्ष्मीं परेषां किमिति हतमते खेदमन्तः करोषि,
नैषा नैते न च त्वं कतिपयदिवसैर्गत्वरं येन सर्वम्।
तत्त्वं धर्मं विधेहि स्थिरविशदधिया जीव! मुक्त्वान्यवाञ्छाम्,
येन प्रध्वस्तबाधां विततसुखमयीं मुक्तिलक्ष्मीमुपैषि॥ ४१२॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धि जीव! तू दूसरों की बढ़ती हुई लक्ष्मी को देखकर क्यों भीतर ही भीतर घुला जाता है। अरे! तेरे मन को आनंदित करने वाली यह लक्ष्मी, ये परजन-लोग और तू ये समस्त पदार्थ गमनशील हैं, क्षणभर में नष्ट हो जाने वाले हैं, कुछ दिनों के बाद ये निश्चय से कुछ भी न रहेंगे, इसलिये स्थिर और शांतचित्त हो तू धर्म का सेवन कर, अन्य समस्त पदार्थों की इच्छा को छोड़, जिससे कि सर्वदा बाधाओं से रहित अनंत सुख के भण्डार मोक्ष-सुख को पाकर निश्चित हो जाये॥ ४१२॥

भोगा नश्यन्ति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोऽपि,
तज्जीवैतान् विमुञ्च व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्ध्या।
स्वातन्त्र्याद्येन याता विदधति मनस्तापमत्यन्तमुग्रं
तन्वन्त्येते तु मुक्ताः स्वयमसमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यम्॥ ४१३॥

अर्थ—ये इन्द्रिय-विषय किसी न किसी समय अवश्य ही स्वयमेव नष्ट हो जाने वाले हैं और इस तरह वियुक्त होने पर कुछ भी गुण नहीं प्राप्त कराते, इनसे कोई गुण प्राप्त नहीं होता, अतः हे जीव! तू इन भंयकर दुःख देने वालों को स्वयमेव जब तक कि नष्ट न हों उससे पहले ही छोड़ दे—तिलांजलि दे दे, क्योंकि यदि ये अपने आप तेरे छोड़ने से पहिले ही नष्ट हो गये तो तेरे मन में अत्यंत दुःख उपजायेंगे और जो कहीं तूने ही उन्हें पहले छोड़ दिया तो तुझे अनन्त सुख स्वरूप अपना वास्तविक स्वरूप मोक्ष प्राप्त करायेंगे॥ ४१३॥

धर्मे चित्तं निधेहि, श्रुतकथितविधिं जीव भक्त्या विधेहि,
सम्यक्स्वान्तं पुनीहि, व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि।

पापे बुद्धिं धुनीहि, प्रशमयमदमान् शिण्ढि पिण्ढि प्रमादं,
छिन्धि क्रोधं, विभिन्धि प्रचुरमदगिरींस्तेऽस्ति चेन्मुक्तिवाञ्छा॥ ४१४॥

अर्थ—हे जीव! यदि तुझे अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा है-यदि तू मुक्ति पाना चाहता है तो धर्म में बुद्धि को लगा, शास्त्रोंक्त विधि को मन से भक्ति पूर्वक कर, अपने अंत:करण को पवित्र रख, व्यसन रूप फूलों से फूले हुए काम रूपी वृक्ष को काट डाल, पाप कर्म से एक दम चित्त को हटाले, शांति, दांति और यम-नियम का सहारा ले, आलस्य को भगा दे, क्रोध को सर्वथा छेद डाल और अष्टमद रूपी पर्वतों को चूर-चूर कर दे। अन्यथा—ऐसा किये बिना समस्त निराबाध सुख को पाने की आशा दुराशा मात्र है, बिना ऐसा किये कभी भी वह मोक्षसुख नहीं मिल सकता॥ ४१४॥

बाधाव्याधावकीर्णे विपुलभववने भ्राम्यता सञ्चितानि,
दग्ध्वा कर्मेन्धनानि ज्वलितशिखिवदत्यन्तदुःखप्रदानि।
यद्दते नित्यसौख्यं व्यपगतविपदं जीव मोक्षं समीक्ष्य,
बाह्यान्तर्ग्रन्थमुक्ते तपसि जिनमते तत्र तोषं कुरुष्व॥ ४१५॥

अर्थ—हे जीव! तुमने व्याधि रूपी व्याधों से आकीर्ण इस संसार रूपी गहन वन में अनादि काल से भ्रमण करते हुए प्रज्वलित अग्नि के समान तीक्ष्ण दु:ख देने वाले जिन कर्मों को कमाया है—संचित किया है, उनको जलाने के लिये जो निराबाध, नित्य और आपत्ति रहित मोक्ष सुख को देने वाला है, ऐसे बाह्य और अंतरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहे गये तप में संतोष मान—उसी को धारण कर॥ ४१५॥

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो,
नान्यत्किञ्चिन्निजं मे तनुधनकरपभ्रातृभार्यासुखादि।
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे,
पर्यालोच्येति जीव! स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रयत्वम्॥ ४१६॥

अर्थ—यद्यपि मैं इस समय संसार में दु:ख भोग रहा हूँ, तथापि मेरी आत्मा एक अविनाशी सुख स्वरूप और ज्ञान दर्शन स्वरूप का धारक है। शरीर, धन, इन्द्रियां, भाई, स्त्री-सुख आदि पदार्थ कोई भी मेरे नहीं हैं, क्योंकि ये कर्मों से उत्पन्न विनाशक हैं, इस लिये मेरा इनमें मोह करना व्यर्थ है, ऐसा विचारकर हे जीव! तू परम हितकारी सत्यभूत मोक्षमार्ग का अवलंबन कर।

भावार्थ—मेरी आत्मा एक शाश्वत-नित्य है और समस्त पर पदार्थ अनित्य हैं, मैं अनादि काल से संसार में अज्ञानता वश दु:ख भोग रहा हूँ, परन्तु वास्तव में अनंत सुख

भोगी हूं, परपदार्थों के (कर्मों के) संयोग से उनमें ममता रखने से मैं अज्ञानी हो रहा हूँ, लेकिन मेरा स्वभाव तो अनंतज्ञान स्वरूप है, अज्ञान वश मैं परपदार्थों को निज समझता हूं, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से ये मेरे शरीर, धन, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र और नौकर आदि कोई भी नहीं हैं, सब अन्य हैं और संसार में जो-२ अस्थिर पदार्थ कर्मों की महत्ता से मुझे दुःखद दिखाई देते हैं सो उनको भी दुःखद मानना मेरी भारी भूल है। मेरा तो वास्तविक हित स्वरूप की प्राप्ति में ही है इसलिये वही प्राप्त करना योग्य है॥ ४१६॥

ये बुध्यन्तेऽत्र तत्त्वं न प्रकृतिचपलं तेऽपि शक्ता निरोद्धुं,
प्रोद्यत्कल्पान्तवातक्षुभितजलनिधिस्फीतवीचिस्यदं वा।
प्रागेवान्ये मनुष्यास्तरलतरमनोवृत्तयो दृष्टनष्टा-
स्तच्चेतश्चेदृगेतत्स्थिरपरमसुखं त्वं तदा किं न यासि॥ ४१७॥

अर्थ—हे जीव! जिस प्रकार कल्पांत काल में उठे हुए प्रबल पवन के वेग से प्रेरित समुद्र की लहरों को कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार यह मन ऐसा चंचल और प्रबल है कि इसके वेग को बड़े-२ तत्त्ववेत्ता भी नहीं रोक सकते, पूर्व काल में भी चंचल वृत्ति के धारक बहुत से मनुष्य नष्ट हुए देखे गये हैं, परन्तु ऐसे भी वेगशाली मन को जो तु धीरतापूर्वक शांत करेगा—एक जगह लगायेगा तो क्यों नहीं उस परम सुख वाले मुक्ति स्थान को पायेगा-अवश्य ही पायेगा॥ ४१७॥

रे पापिष्ठातिदुष्ट! व्यसनगतमते निन्द्यकर्मप्रसक्त
न्यायान्यायानभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गबुद्धे।
किं किं दुःखं न यातो विनयवशगतो येन जीवो विषह्यं
त्वं तेनैनो निवर्त्य प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि॥ ४१८॥

अर्थ—अरे सर्वदा पाप करने में ही लवलीन रहने वाले, इंद्रिय-विषयों के लोलुपी, नीच कर्म में लगे हुए, न्याय-अन्याय की पहिचान से रहित निर्दयी, श्रेष्ठ मार्ग से भ्रष्ट जीव! सहन शीलता से इस संसार में जीवों ने क्या-क्या दुःखों को नहीं भोगा है-न सहन किया है, इसलिये तू अब सर्वथा पाप-प्रवृत्तियों को तिलांजलि दे और मन को जैन शास्त्र के मनन में लगा, रात दिन उसी के ध्यान में रह॥ ४१८॥

लज्जाहीनात्मशत्रो कुमतगतमते त्यक्ततत्त्वप्रणीते,
धृष्टानुष्ठाननिष्ठ स्थिरमदनरते मुक्तिमार्गाप्रवृत्ते।
संसारे दुःखमुग्रं सुखरहितगताविन्द्रियैः प्रापितो यै-
स्तेषामद्यापि जीव! व्रजसि गतघृण! ध्वस्तबुद्धे! वशित्वम्॥ ४१९॥

अर्थ—रे निर्लज्ज, आत्मा के शत्रु, मिथ्यामतों के अवलंबन करने वाले और तत्त्वों के श्रद्धान से रहित, निंदित अनुष्ठानों के भक्त, मैथुन में दृढ़ रूप से प्रीति करने

वाले और मुक्ति-मार्ग से विमुख! जीव! जिन इंद्रियों ने दुःख स्वरूप इस संसार में तुझे नाना प्रकार के क्लेश दिये, जरा भी चैन न लेने दिया। वेशर्म! निर्बुद्धि! क्यों तू अब भी उन्हीं इंद्रियों के वश होता है? अरे अब तो उनका सर्वथा संबंध छोड़ दे॥ ४१९॥

सर्पव्याघ्रेभवैरिज्वलनविषयमग्राहशत्रुग्रहाद्यान्,
हित्वा दुष्टस्वरूपान् ददति तनुभृतां ये व्यथां सर्वतोऽपि।
तान् कोपादीन्निकृष्टानतिविषमरिपून्निर्जय त्वं प्रवीणान्
रे रे जीव! प्रलीनप्रशमगतिमते दग्धभग्नस्वशत्रोः॥ ४२०॥

अर्थ—अरे शांति सुख से विमुख भाई! सर्प, व्याघ्र, हस्ति, बैरी, अग्नि, यम, ग्राह और ग्रह आदि जिन पदार्थों को तू अपना वैरी—अहित कर समझता है, वे वास्तव में यदि विचारा जाय तो तेरे वैरी नहीं हैं—क्योंकि वे तेरे शुद्ध स्वरूप को नहीं बिगाड़ने वाले हैं, और जिनको तू अपना हितैषी समझता है। ऐसे क्रोध, मान, माया लोभ आदि तेरे वास्तव में कठोर शत्रु हैं, तुझे सब तरह से पीड़ा देने वाले हैं, निकृष्ट हैं, कठिनता से जीते जाने के लायक हैं और आत्मिक शुद्ध स्वरूप को नाश करने वाले हैं, इसलिये तू व्याघ्र आदि को छोड़कर क्रोध आदि शत्रुओं को वश में कर और समस्त प्रकार के शत्रुओं से रहित हो जा॥ ४२०॥

मैत्रीं सत्त्वेषु मोदं गुणवति करुणां क्लेशिते देहभाजि,
मध्यस्थत्वं प्रतीते जिनवचसि रतिं निग्रहं क्रोधयोधे।
अक्षार्थेभ्यो निवृत्तिं मृतिजननभवाद्भीतिमत्यन्तदुःखाद्,
रे जीव त्वं विधत्स्व च्युतनिखिलमले मोक्षसौख्येऽभिलाषम्॥४२१॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने कल्याण के लिये, सर्वदा समान रहने वाले मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिये प्राणिमात्र में मित्रता का भाव कर—जीवमात्र को अपना मित्र समझ, गुणवानों की इज्जत कर उन्हें अपने से बड़ा मान, हर्ष से उनका आदर-सत्कार कर, जो जीव दीन-दुःखी हैं, रोगादि से पीड़ित हैं, उनमें करुणा कर—यथाशक्ति दया दिखला उनके साथ सहानुभूति प्रगटकर, जो तेरे शत्रु हैं—विरुद्धता करने वाले हैं, उनके साथ तू शत्रुता मत कर—उनमें बदला लेने की अपेक्षा मध्यस्वभाव रख, जिनेंद्र भगवान् के वचनों का श्रद्धान कर, क्रोधरूपी योधा के निग्रह करने में लवलीन हो, इंद्रियों से-उनके विषय-भोगों से सर्वदा दूर रह, अत्यन्त दुःख देने वाले जन्म, मरण और बुढापे से भयभीत हो, और कर्ममल रहित पवित्र नित्य मोक्ष के सुख को प्राप्त करने में साभिलाष हो॥ ४२१॥

कर्मानिष्टं विधत्ते भवति परवशो लज्जते नो जनानां,
धर्माधर्मौ न वेत्ति त्यजति गुरुकुलं सेवते नीचलोकम्।

भूत्वा प्राज्ञः कुलीनः प्रथितपृथुगुणो माननीयो बुधोऽपि
ग्रस्तो येनात्र देही तुद मदनरिपुं जीव! तं दुःखदक्षम्॥ ४२२॥

अर्थ—हे जीव! तेरा सबसे प्रबल शत्रु एक काम है जिसके कारण तू विद्वान्, पंडित, कुलीन, गुणी और सम्माननीय होने पर भी अनिष्ट कार्य कर डालता है, पराधीन हो लोगों की तनिक भी लज्जा नहीं करता, धर्म, अधर्म के विचार रहित हो जाता है और गुरुजनों की संगति छोड़ नीचों की सोहबत करने लगता है, इसलिए हे भाई! तू सबसे प्रथम इसी काम को जीत, इसके वश मत हो॥ ४२२॥

रागाद्युक्तोऽपि देवोऽन्तस्तदितररजःग्रंथशक्तोपि साधु-
र्जीवध्वंसोऽपि धर्मस्तनुविभवसुखं स्थाष्णु मे सर्वदेति।
संसारापातहेतुं मतिगतिदुरितं कार्यते येन जीव
स्तं मोहं मर्दय त्वं यदि सुखमतुलं वाञ्छसि त्यक्तबाधम्॥ ४२३॥

अर्थ—यदि अतुल-अपरमित निराबाध नित्य सुख की वांछा करता है तो हे जीव! उस मोह रूपी प्रबल शत्रु का मर्दन कर जिसके वशीभूत हो तू रागद्वेष दोषों से दूषित को तो देव, अंतरंग और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रहों से सहित गुरु, जीवों का नाश करने के उपदेश देने वाले को धर्म और शरीरादि परपदार्थजन्य दुःख स्वरूप अनित्य सुख को सुख मानता है और जिसके कारण सर्वदा संसार-समुद्र में गोते लगाता फिरता है॥ ४२३॥

तीव्रत्रासप्रदायिप्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते
दुःखोर्वीजप्रपञ्चे भवगहनवनेनेकयोन्यद्रिरौद्रे।
भ्राम्यन्नाप्यापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणो दुष्कृतस्य,
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वञ्चितस्त्वं तदात्मन्!॥ ४२४॥

अर्थ—तीव्र त्रास को देने वाले जन्म, मरण, जरारूपी श्वापदों के समूह से व्यास, नानां दुःख रूपी वृक्षों से घनीभूत और अनेक योनि-रूप पहाड़ों से युक्त भयानक इस संसार रूपी वन में अनादि काल से घूमते हुए हे जीव! तूने किसी प्रकार दुष्कर्मों की शांति से इस मनुष्य-योनि को पाया है, इस पर यदि तू प्रमाद करेगा और धर्म ध्यान को स्थिरचित्त होकर न धारेगा तो मूढ आत्मन्! तू निश्चय से ठगा गया-तूने अपना सर्वस्व खो दिया॥ ४२४॥

ज्ञानं तत्त्वप्रबोधो जिनवचनरुचिर्दर्शनं धूतदोषं,
चारित्रं पापमुक्तं त्रयमिदमुदितं मुक्तिहेतुप्रधत्स्व।
मुक्त्वा संसारहेतुत्रितयमपि परं निन्द्यबोधाद्यवद्यं,
रे रे जीवात्मवैरिन्नमितगतिसुखे चेत्तवेच्छास्ति पूते॥ ४२५॥

अर्थ—और भी—हे अपने आप अपना अहित करने वाले मूर्ख जीव! यदि तुझे अपने आत्मिक अपरिमित सुख पाने की इच्छा है तो जिनेंद्र भगवान् के उपदिष्ट तत्त्वों में श्रद्धान करना, रूप लक्षण का धारण, सम्यग्दर्शन, वास्तविक तत्त्वों को बताने वाला सम्यग्ज्ञान और पापों से बचाने वाला सम्यक्चरित्र रूप रत्नत्रय धारण कर और उनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचरित्र का त्याग कर दे॥ ४२५॥

॥ १७ ॥

दुर्जन-निरूपण

पापं वर्धयते, चिनोति कुमतिं, कीर्त्यङ्गना नश्यति,
धर्मं ध्वंसयते, तनोति विपदं, संपत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हन्ति विनीतिमत्र कुरुते कोपं, धुनीते शमं,
किं वा दुर्जनसंगतिर्न कुरुते लोकद्वयध्वंसिनी॥ ४२६॥

अर्थ—जो लोग इस संसार में दुर्जनों की संगति करते हैं—उनका साथ पकड़ते हैं, उनकी बुद्धि बिगड़ जाती है, कीर्ति नष्ट हो दशों दिशाओं में बुराई ही बुराई फैल जाती है, धर्म नष्ट हो जाता है, पाप की वृद्धि होने लगती है, आपत्तियाँ आने लगती हैं, संपत्तियाँ दूर भाग जाती हैं, नीति-न्याय का नाम और निशान तक नहीं रहता, उद्धतता बढ़ने लगती है, क्रोध आने लगता है, शांति नष्ट हो जाती है और कहां तक कहें, उनके इस तरह इह लोक और परलोक दोनों ही लोक बिगड़ जाते हैं॥ ४२६॥

न व्याघ्रः क्षुधयातुरोऽपि, कुपितो नाशीविषः पन्नगो,
नारातिर्बलसत्त्वबुद्धिकलितो मत्तः करीन्द्रो न च।
तं शक्नोति न कर्तुमत्र नृपतिः कण्ठीरवो नोद्धुरो,
दोषं दुर्जनसंगतिर्वितनुते यं देहिनां निन्दिता॥ ४२७॥

अर्थ—इस जीव का जितना अहित दुर्जनों की संगति करती है, उतना और वैसा अहित इस संसार में कोई भी पदार्थ नहीं करता। देखो! न तो उतना अहित भूख-पीड़ित व्याघ्र ही करता है, न कुपित हुआ सर्प ही करता है और न उतना बल और पराक्रम से वेष्टित शत्रु, मदोन्मत हुआ हाथी, क्रुद्ध हुआ राजा और उत्कट सिंह ही करता है, क्योंकि ये उपर्युक्त सिंहादिक तो एक ही वर्तमान-भव में दुःख देते हैं और दुर्जनों की संगति तो पाप को बढ़ाने वाली होने से बहुत से भवों में दुःख देती है॥ ४२७॥

व्याधव्यालभुजङ्गसंगभयकृत्कक्षं वरं सेवितं,
कल्पान्तोद्गतभीमवीचिनिचितो वार्द्धिर्वरं गाहितः।
विश्वप्लोषकरोद्धतोज्ज्वलशिखो वह्निर्वरं चाश्रित-
स्त्रैलोक्योदरवर्तिदोषजनके नासाधुमध्ये स्थितम्॥ ४२८॥

अर्थ—व्याध, व्याल, सर्प आदि प्राण-नाशक जंतुओं से भरे हुए वन में निवास करना अच्छा, कल्पांतकाल में उठी हुई भयानक तरंगों से तरंगित समुद्र की धार में डूब जाना अच्छा, और समस्त संसार के भस्म करने में समर्थ प्रज्वलित आग की शिखा में भी जल जाना अच्छा परंतु तीनों लोक के बीच में होने वाले दोषों के उत्पादक दुर्जनों के संग में रहना अच्छा नहीं, अर्थात् वन, समुद्र और अग्नि में वस, गिर भुनकर मर जाना तो कुछ अच्छा भी है परंतु दुर्जनों की संगति में रहकर जीना बिलकुल भी अच्छा नहीं है॥ ४२८॥

वाक्यं जल्पति कोमलं सुखकरं कृत्यं करोत्यन्यथा,
वक्रत्वं न जहाति जातु मनसा सर्पो यथा दुष्टधीः।
नो भूतिं सहते परस्य न गुणं जानाति कोपाकुलो,
यस्तं लोकविनिन्दितं खलजनं कः सत्तमः सेवते॥ ४२९॥

अर्थ—यह दुर्जन मीठे-मीठे वचनों को कहता हुआ तो सुखकर मालूम पड़ता है, परंतु कार्य उससे (अपने कहे हुए से) सर्वथा विरुद्ध ही करता है, जिस प्रकार सर्प कभी सीधा नहीं चलता-सर्वदा टेढ़ा ही टेढ़ा चलता है, उसी प्रकार यह भी हमेशा अपने मन से टेढ़ा ही टेढ़ा चलता है-कुटिलता (कपट) को कभी नहीं छोड़ता, दूसरे की बढ़ती को देखकर मन ही मन जलभुन कर खाक हो जाता है और कारणवश क्रुद्ध होने पर गुणियों के गुण को, उपकारियों के उपकार को तनिक भी नहीं गिनता, सब को भूल जाता है तो बताओ! ऐसे दुर्जन को ऐसा कौन-सा श्रेष्ठ पुरुष है जो सेवेगा-उस की संगति करेगा अर्थात् कोई नहीं॥ ४२९॥

नीचोच्चादिविवेकनाशकुशलो बाधाकरो देहिना-
माशाभोगनिरासनो मलिनताच्छन्नात्मनां वल्लभः।
सद्दृष्टिप्रसरावरोधनपटुर्मित्रप्रतापाहतः
कृत्याकृत्यविदा प्रदोषसदृशो वर्ज्यः सदा दुर्जनः॥ ४३०॥

अर्थ—संसार में जिस प्रकार प्रदोषकाल ऊँच-नीच स्थान के ज्ञान न होने देने में कारण होता है, प्राणियों को शीतादि की बाधा से दुःख पहुंचाता है, दिशाओं के विस्तार का ज्ञान नहीं होने देता, चोर आदि मलिन आत्माओं को प्रिय लगता है, तेज से तेज आंखों वालों को भी कुछ नहीं देखने देता, मित्र-सूर्य के प्रताप से नष्ट होने वाला होता है और कार्याकार्य को जानने वालों से सर्वथा हेय होता है, उसी प्रकार दुर्जन मनुष्य भी ऊँच-नीच का विचार न करने में कुशल होता है, प्राणियों को नाना तरह से दुःख पहुँचाता है, बहुत दिनों से लगी हुई लोगों की आशा रूपी लता को मुरझा देता है, चोर, जुआरी, परस्त्रीलंपट आदि मलीन नीच पुरुषों को प्यारा होता है, सज्जनों की सज्जनता

को रोकने में चतुर होता है और मित्र की उन्नति से भी जलता है, इसलिये वह कृत्याकृत्य जानने वालों से सर्वदा हेय—त्यागने योग्य है॥ ४३०॥

ध्वान्तध्वंसपरः कलङ्कितततनुर्वृद्धिक्षयोत्पादकः,
पद्माशी कुमुदप्रकाशनिपुणो दोषाकरो यो जडः।
कामोद्वेगरसः समस्तभविनां लोके निशानाथवत्,
कस्तं नाम जनो महासुखकरं जानाति नो दुर्जनम्॥ ४३१॥

अर्थ—संसार में जिस प्रकार चंद्रमा को समस्त लोग जानते हैं, उसी प्रकार वैसे ही विशेषण (गुण) वाले दुर्जन को कौन नहीं जानता अर्थात् सब जानते हैं, क्योंकि जिस प्रकार चंद्रमा ध्वांत ध्वंस पर—अंधकार को नाश करने में पर-समर्थ है उसी प्रकार दुर्जन भी ध्वांतध्वंस पर-अज्ञान नाशक जन से पर-भिन्न है अर्थात् अज्ञान को बढ़ाने वाला है, चंद्रमा जैसा कलंकित तनु-कलंक चिह्न सहित शरीर वाला है, दुर्जन भी कलंक-दोष सहित शरीर वाला है, चंद्रमा जैसा वृद्धि क्षयोत्पादक-समुद्र की वृद्धि और हानि को करने वाला है अथवा अपनी कलाओं की शुक्ल और कृष्ण पक्ष में वृद्धि और हानि को करने वाला है, उसी प्रकार दुर्जन भी दूसरों की वृद्धि की-उन्नति की हानि को करने वाला है, चंद्रमा जैसा पद्माशी-पद्मों को मुरझा देने वाला है, वैसा दुर्जन भी पद्मा-लक्ष्मी का आशी उड़ा देने वाला है-धन का नाशक है, चंद्रमा जैसा कुमुदप्रकाशनिपुण-कुमुद-कुई पुष्पों के प्रकाश-प्रफुल्लित कर देने में निपुण-चतुर है, वैसे ही दुर्जन भी कु-कुत्सित मुद-हर्ष अर्थात् दुःख के प्रकाश कर देने में निपुण अथवा कु-पृथ्वी में मुद्-हर्ष के अप्रकाश न होने देने में निपुण है, चंद्रमा जैसा दोषाकर दोषा-रात्रि को कर-करने वाला है, वैसे ही दुर्जन भी दोषों का आकर-खजाना है, चंद्रमा जैसा जड़-शीत-ठंडा होता है उसी प्रकार दुर्जन भी जड़-मूर्ख है, चंद्रमा जैसा कामोद्वेगरस-काम के उद्वेग को करने वाला है, उसी प्रकार दुर्जन भी काम के उद्वेग में रस प्रीति को मानने वाला होता है और चंद्रमा जैसा महासुख कर—बड़े भारी सुख को करने वाला होता है, उसी प्रकार दुर्जन भी महा बड़े भारी असुख-दुःख को करने वाला होता है॥ ४३१॥

दुष्टो यो विदधाति दुःखमपरं पश्यन्सुखेनान्वितं,
दृष्ट्वा तस्य विभूतिमस्तधिषणो हेतुं बिना कुप्यति।
वाक्यं जल्पति किञ्चिदाकुलमना दुःखावहं यन्नृणां,
तस्माद् दुर्जनतो विशुद्धमतयः काण्डाद्यथा विभ्यति॥ ४३२॥

अर्थ—संसार में दुर्जन लोग दूसरे मनुष्य को सुखी नहीं देख सकते, वे उन्हें सुखी देख कर जल-भुनकर खाक हो जाते हैं और किसी न किसी प्रकार विपत्ति

डालकर उन्हें दुःखी बना देते हैं, दूसरों की बढ़ती हुई विभूति को देखकर तो उनके क्रोध का ठिकाना ही नहीं रहता, वे लोगों पर बिना ही किसी कारण के क्रोध कर बैठते हैं और ऐसे कड़वें वचनों को आकुलित मन हो कर कह देते हैं, जिससे दूसरे मनुष्यों को बड़ा ही दुःख होता है, इसलिये जो विशुद्ध बुद्धि के धारक हैं, वे जिस प्रकार दूसरों को दुःख पहुंचाने वाले और सननन सननन आदि भयावह शब्द को करने वाले बाण से डरते हैं, उसी प्रकार दुर्जन पुरुषों से डरते हैं॥ ४३२॥

यस्त्यक्त्वा गुणसंहतिं वितनुते गृह्णाति दोषान्परे,
दोषानेव करोति जातु न गुणं त्रेधा स्वयं दुष्टधीः।
युक्तायुक्तविचारणाविरहितो विध्वस्तधर्मक्रियो
लोकानन्दिगुणोऽपि कोपि न खलं शक्नोति संबोधितुम्॥ ४३३॥

अर्थ—दुष्ट पुरुष अन्य पुरुषों में दोषों का ही विस्तार करता है, दोषों का ही ग्रहण और दोषों का ही उत्पादन करता है, स्वयं न तो दूसरों में गुणों को पैदा करता है, न उनको विस्तारता है और न ग्रहण करता है एवं योग्य-अयोग्य का बिलकुल विचार नहीं रखता और धार्मिक क्रियाओं का नाश करने में सर्वथा उद्यत रहता है—वे उसे अच्छी ही नहीं लगतीं, इसलिये ऐसे दुर्जन पुरुष को यदि कोई सुमार्ग पर भी लाना चाहे—भले-बुरे की पहिचान कराने की कोशिश भी करे तो और की तो क्या बात, साक्षात् जिसके गुणों से समस्त लोक आनंदित होता है, वह भी पुरुष उसे नहीं समझा सकता।

भावार्थ—दुर्जन कदापि अच्छे मार्ग पर नहीं आ सकता॥ ४३३॥

दोषेषु स्वयमेव दुष्टधिषणो[१] यो वर्तमानः सदा,
तत्रान्यानपि मन्यते स्थितिवतस्त्रैलोक्यवर्त्यङ्गिनः।
कृत्यं निन्दितमातनोति वचनं यो दुःश्रवं जल्पति,
चापारोपितमार्गणादिव खलात्संतस्ततो विभ्यति॥ ४३४॥

अर्थ—दुर्जन पुरुषों की बुद्धि दुष्ट होती है, वह सर्वदा दोषों की तरफ ही दौड़ती हैं, वे जिस पुरुष की अथवा पदार्थ की संगति करते हैं, उसके दोष ही दोष ग्रहण करते हैं, गुण नहीं इसलिये स्वयं दोषी होने से अन्य गुणी मनुष्यों को भी दोषी ही समझते हैं, निंदित से निंदित कार्य कर पड़ते हैं और कटुक वचनों का प्रयोग करते हैं, इसलिये धनुष पर चढ़े हुए बाण से जिस प्रकार लोग डरते हैं, उसी प्रकार सज्जन लोग दुर्जन से डरते हैं॥ ४३४॥

---

१. 'दुष्टविषयो' ऐसा भी पाठ है।

योऽन्येषां भषणोद्यतः श्वशिशुवच्छिद्रेक्षणः सर्ववद-
ग्राह्यःपरमाणुवन्मुरजवद्वक्त्रद्वयेनान्वितः।
नानारूपसमन्वितः शरदवद्वक्रो भुजङ्गेशवत्
कस्यासौ न करोति दोषनिलयश्चित्तव्यथां दुर्जनः॥ ४३५॥

अर्थ—दुर्जन लोग पिल्ले (कुत्ते के बच्चों) के समान तो दूसरों को देखकर भोंकते हैं, सांप के समान छिन्द्रान्वेषी होते हैं, परमाणु के समान किसी के द्वारा पकड़े नहीं जा सकते, ढोलक के समान दो मुँह वाले होते हैं, शरद् ऋतु के समान नाना रूपों-प्रकारों से युक्त रहते हैं और भुजंग के समान कुटिल होते हैं, इसलिये समस्त दोषों के घर होने से हर एक मनुष्य के चित्त को पीड़ा पहुंचाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार बिना ही कारण के जिधर मनुष्य को देखते हैं, उसी तरफ भौंकने लगते हैं, उसी प्रकार दुर्जन भी जिस मनुष्य को देखते हैं उसी की तरफ चाहे वह गुणी हो या दोषी हो कुछ न कुछ कह निकलते हैं—उसके दोषों का बखान कर बैठते हैं, सांप जिस प्रकार इधर-उधर अन्य पदार्थों की खोज न कर छिद्र बिल को ही ढूँढता है, उसी प्रकार दुर्जन भी अन्य गुण आदि की तलाश न कर छिद्र-दोषों को ही ढूँढता है। जिस प्रकार परमाणु इंद्रियों से नहीं ग्रहण किया जाता, उसी प्रकार दुर्जन भी दूसरों द्वारा नहीं पकड़ा जाता—वह किसी के फंदे में नहीं फँसता, जिस प्रकार ढोलक दो मुँह वाला है-दोनों तरफ से बजता है, उसी प्रकार दुर्जन भी दो मुँह वाला-एक ही बात को दो तरफ से किसी से कुछ और किसी से कुछ कहने वाला होता है, शरद् ऋतु जिस प्रकार नाना रूप तरह के फल-फूल वाली होती है, दुर्जन भी उसी प्रकार तरह-तरह के रूप बदलने वाला होता है-कभी उसी का शत्रु बनता है और कभी उसी का मित्र हो जाता है, और भुजंग (काला नाग) जिस प्रकार वक्र टेढ़ा होता है, बड़ी कठिनता से वश में किया जाता है, उसी प्रकार दुर्जन भी वक्र कुटिल होता है, बड़ी मुश्किल से अपने पक्ष में किया जाता है इसलिये समस्त दोषों का प्रधान अड्डा होने से दुर्जन सब के चित्त को दुःखी बनाता है॥ ४३५॥

गाढं श्लिष्यति दूरतोऽपि कुरुतेऽभ्युत्थानमार्द्रेक्षणो
दत्तेऽर्द्धासनमातनोति मधुरं वाक्यं प्रसन्नाननः।
चित्तान्तर्गतवञ्चनो विनयवान्मिथ्यावधिर्दुष्टधी-
र्दुःखायामृतभर्मणा विषमयो मन्ये कृतो दुर्जनः॥ ४३६॥

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरों को दूर से ही देखकर अभ्युत्थान (आसन से उठकर सत्कार) करते हैं, पास आने पर उनका गाढ आलिंगन करते हैं, उन्हें अपने अधि-आसन पर बैठाते हैं और प्रसन्नमुख हो मीठे-मीठे वचन बोलते हैं, इस तरह विनयवान्

सरीखे मामूल होते हुए भी वे मन में कुछ और ही रखते हैं-उनकी सब तरह से इच्छा परिचितों को ठगने की ही रहती है, मिथ्या अवधि वाले होते हैं- अपने किये हुए वायदा का कुछ भी ख्याल नहीं रखते, वे उसका फौरन ही उल्लंघन कर देते हैं और दुष्ट बुद्धिवाले होते हैं इसलिये ऐसा मालूम पड़ता है कि लोगों को दुःख देने के लिये अमृत के सहारे विधाता ने दुष्ट को विष रूप बनाया है॥ ४३६॥

यद्वच्चन्दनसंभवोऽपि दहनो दाहात्मकः सर्वदा
संपन्नोऽपि समुद्रवारिणि यथा प्राणान्तको दुन्दुभिः।
दिव्याहारसमुद्भवोऽपि भवति व्याधिर्यथा बाधक-
स्तद्वद् दुःखकरः खलस्तनुमतां जातः कुलेऽप्युत्तमे॥ ४३७॥

अर्थ—जिस प्रकार चंदन के वृक्षों से भी उत्पन्न हुई अग्नि सर्वदा दाहक (जलाने वाली) ही होती है, समुद्र के जल से पैदा हुआ विष निश्चय से प्राणों का घातक होता है, और दिव्य (स्वर्गीय) मनोहर आहार से समुद्भव भी व्याधि (रोग) दुःखदायी ही होती है उसी प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न भी दुर्जन सर्वदा प्राणियों को दुःख देने ही वाला होता है॥

भावार्थ—जिस प्रकार शीतल चंदन से उत्पन्न अग्नि, प्राणदायक जल से पैदा विष, और दिव्य सुखदायी आहार से उत्पन्न व्याधि ठण्डे, प्राणदायक और सुखद नहीं होते निश्चय से ही वे अपना कुल से भिन्न गुण-जलाना, प्राणों का नाश करना और दुःख देना-दिखलाते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न दुर्जन भी किसी का हितकारी नहीं होता, वह भी निश्चय से जीवों को अपने कुलगुण को भूलकर स्वाभावानुसार दुःख ही पहुँचाता है॥ ४३७॥

लब्धं जन्म यतो यतो पृथुगुणा जीवन्ति यत्राश्रिता,
ये तत्रापि जने वने फलवति प्लोषं पुलिन्दा इव।
निस्त्रिंशा वितरन्ति धूतमतयः शश्वत्खलाः पापिन-
स्ते मुञ्चति कथं विचाररहिता जीवन्तमन्यं जनम्॥ ४३८॥

अर्थ—जिस प्रकार जंगली भील लोग जिस जंगल में पैदा होते हैं और जहां से नाना गुण प्राप्तकर फल फूलों से भूख को तृप्त करते हुए बढ़ते हैं-जीते हैं, उसी जंगल को दयारहित हो कर निर्बुद्धि पापी वे उसे जला डालते हैं और उसके जीवित जीवों को मार गिराते हैं, उसी प्रकार दुर्जन जिससे पैदा होता है, जिससे सैकड़ों बातें (हुनर-गुण) सीखता है और जिसके सहारे जीता है, उसी फल वाले उपकारी को दुष्ट बुद्धि हो कर राक्षस के समान दया रहित होता हुआ मार गिराता है-उसका भी अपकार कर बैठता है,

तब वह जिससे कोई सम्बन्ध नहीं, जिनका उस पर कोई उपकार नहीं, उनको कैसे छोड़ सकता है? उनका बिना अहित किये कैसे रह सकता है? अर्थात् उनको तो अवश्य ही दुःख पहुंचायेगा॥ ४३८॥

यः साधूदितमन्त्रगोचरमतिक्रान्तो द्विजिह्वाननः,
क्रुद्धो रक्तविलोचनोसिततमो मुञ्चत्यवाच्यं विषम्।
रौद्रो दृष्टिविषो विभीषितजनो रन्ध्रावलोकोद्यतः,
कस्तं दुर्जनपन्नगं कुटिलगं शक्नोति कर्तुं वशम्॥ ४३९॥

अर्थ—जो दुर्जन पुरुष साधुओं (सज्जनों) के कहे गये मंत्रों, वचनों, सलाहों को उल्लंघन करने वाले होते हैं, जो दो जीभ वाले-एक बात को दो तरह से कहने वाले मुख होते हैं, जो सर्वदा क्रुद्ध-क्रोधी, लाल-लाल आंखों वाले-पेट में काले मायावी रहते हैं, सर्वदा अवाच्य न कहने योग्य वचन रूप विष को उगलते-कहते रहते हैं, जिनकी दृष्टि चितवन में विष का सा असर और रौद्रता रहती है, जिस पर वे अपनी दृष्टि डालते हैं उसका फिर सर्वनाश ही कर छोड़ते हैं, जिनको देखकर लोग सर्वदा भय खाया करते हैं और जो रन्ध्र—दोषों को खोजने में ही लगे रहते हैं, ऐसे उन नाग के समान भयंकर दुर्जनों को संसार में ऐसा कौन पुरुष है जो वश कर सके अर्थात् जिस प्रकार सपेरे लोगों के मंत्र से न वशीभूत होने वाला, दो जिह्वा का धारक, कुपित, लाल आंखों से सहित, कृष्ण वर्ण काला भयानक विष को छोड़ने वाला, रौद्र, नेत्र में विषैला, लोगों को भयावह, और छिद्र बिल के ढूँढने में लगा हुआ, कुटिल सर्प किसी से भी नहीं पकड़ा जाता, उसी प्रकार उपर्युक्त दोषों से दूषित कुटिल दुर्जन भी किसी से वशीभूत अपने अधीन नहीं किया जा सकता॥ ४३९॥

नो निर्धूतविषः पिवन्नपि पयः संपद्यते पन्नगो,
निम्बागः कटुतां पयोमधुघटैः सिक्तोऽपि नो मुञ्चति।
नो सीरैरपि सर्वदा विलिखितं धान्यं ददात्यूषरं,
नैवं मुञ्चति वक्रतां खलजनः संसेवितोऽप्युत्तमः॥ ४४०॥

अर्थ—जिस प्रकार दूध को पीता हुआ भी सांप कभी भी अपने विषैलेपन को नहीं छोड़ सकता—वह जब उगलेगा, तब विष ही उगलेगा, जिस प्रकार दूध के अथवा मीठे जल के घड़ों से सींचा गया भी नीम-वृक्ष कभी मीठा नहीं हो सकता और जिस प्रकार सैकड़ों बार हलों से जोता गया भी ऊसर भूमि कभी धान्य नहीं पैदा कर सकती, उसी प्रकार उत्तम-उत्तम पुरुषों से सेवित भी दुर्जन कभी सज्जन नहीं हो सकता।

भावार्थ—सज्जनों की संगति में रहकर भी दुर्जन अपनी कुटिलता को किसी भी तरह नहीं छोड़ सकता॥ ४४०॥

वैरं यः कुरुते निमित्तरहितो मिथ्यावचो भाषते,
नीचोक्तं वचनं शृणोति सहते स्तौति स्वमन्यं जनम्।
नित्यं निन्दति गर्वितोऽभिभवति स्पर्धां तनोत्यूर्जिता-
मेवं दुर्जनमस्तशुद्धधिषणं सन्तो वदन्त्यागिनाम्॥ ४४१॥

अर्थ—जो पुरुष विना ही कारण के वैर कर निकलते हैं, झूठी झूठी बातें बनाकर कहते हैं, नीचों के कहे गये वचन सुनते हैं और उनको सहते हैं, अपने आप अपनी प्रशंसा गाते हैं, मानी होकर दूसरों की सर्वदा निंदा और तिरस्कार किया करते हैं, दूसरों से हमेशा स्पर्धा-शर्त ठाना करते हैं और विशुद्ध (पवित्र) बुद्धि से शून्य होते हैं, उन्हें सज्जन लोग दुर्जन कहते हैं।

भावार्थ—ऊपर कहे हुए लक्षण वाले पुरुष दुर्जन होते हैं॥ ४४१॥

भानोः शीतमतिग्मगोरहिमता शृंगात्पयोऽधेनुतः
पीयूषं विषतोऽमृताद्विषलता शुक्लत्वमङ्गारतः।
वह्नेर्वारि ततोऽनलः सुरसजं निम्बाद्भवेज्जातुचि-
न्नो वाक्यं महितं सतां हतमतेरुत्पद्यते दुर्जनात्॥ ४४२॥

अर्थ—एक बार को चाहे सूरज से ठंडी पैदा हो जाये, चंद्रमा गरमी उत्पन्न करने लगे, गाय के सींग से ही दूध निकल आये, विष से अमृत बन जाये, अमृत से विष वेल पैदा हो जाये, अंगार कोयला से सफेद होने लगे, अग्नि से जल बह निकले, जल से अग्नि पैदा हो जाये और नीम से मीठा-मीठा रस चू-निकले, परन्तु दुष्ट बुद्धि वाले दुर्जन मनुष्य से पूज्य श्रेष्ठ हितकारी वचन नहीं निकल सकते, वह जब बोलेगा तब दुःखदायी खराब ही वचन बोलेगा॥ ४४२॥

सत्या योनिरुजं वदन्ति यमिनो दम्भं शुचेर्धूर्ततां
लज्जालोर्जडतां पटोर्मुखरतां तेजस्विनो गर्वताम्।
शान्तस्याक्षमतामृजोरमतितां धर्मार्थिनो मूर्खता-
मित्येवं गुणिनां गुणास्त्रिभुवने नादूषिता दुर्जनैः॥ ४४३॥

अर्थ—संसार में सज्जनों के ऐसे कोई भी गुण नहीं हैं जो दुर्जनों ने न दूषित किये हों, उन्होंने उनके समस्त गुणों को अवश्य ही किसी न किसी कारण के बहाने से दुष्ट बतला दिया है, क्योंकि देखो! दुष्ट पुरुष संसार से विरक्त जो स्त्रियां अपना शील व्रत पालती हैं, अपने ब्रह्मचर्य को अंखडित रखने वाली हैं उन्हें तो योनि रोग वाली दोषी बतलाया है, जो संयमी हैं मन, वचन, काय को वश रखने वाले हैं, उन्हें कपटी कह दूषित ठहराता है, जो पवित्र हैं, शौच व्रत के धारक हैं, उनको धूर्त कह कर पुकारता है,

जो लज्जालु-लज्जाशील हैं, गुरुजनों की विनय कर लज्जा करते हैं, उन्हें जड़ मूर्ख कहता है, जो चतुर हैं सभा आदि में बोलने वाले हैं उन्हें वाचाल- वक्की कहकर बदनाम करता है, जो तेजस्वी-पराक्रमी हैं, उन्हें मानी बतलाता है, जो शांत हैं-अपराधी के अपराधों को शांत हो सहने वाले हैं उन्हें अक्षम-असमर्थ बतलाता है, जो ऋजु-सरल हैं, मायाचारी करना नहीं जानते उन्हें मूर्ख निर्बुद्धि-भोंदू कहता है और जो धर्मार्थी हैं धर्म का सेवन-ध्यान करते हैं, उन्हें बेवकूफ कहकर पुकारता है, इसलिये संसार में जितने भी गुण हैं, वे सब ही इस दुर्जन ने दुष्ट ठहरा दिये हैं॥ ४४३॥

प्रत्युत्थाति समेति नौति नमति प्रह्लादते सेवते
भुङ्क्ते भोजयते धिनोति वचनैर्गृह्णाति दत्ते पुनः।
अङ्गं श्लिष्यति सन्तनोति वदनं विस्फारितार्द्रेक्षणं
चित्तारोपितवक्रिमोनुकुरुते कृत्यं यदिष्टं खलः॥ ४४४॥

अर्थ—दुर्जन पुरुषों को कार्य करना अभीष्ट होता है, उसी के अनुसार अपने मन में कुटिलता को धरकर वे प्रत्युत्थान करते हैं, पास जाते हैं, स्तुति-प्रशंसा करते हैं, नमस्कार करते हैं, आनन्द प्रगट करते हैं, सेवा करते हैं, खाते हैं (भोजन करते हैं), खिलाते हैं (भोजन कराते हैं) वचनों से प्रसन्न करते हैं, लेन देन करते हैं, अंग स्पर्श करते हैं, प्रफुल्लित कर दिखाते हैं और आँखों में आँसू भी भर लाते हैं, परन्तु काम निकल जाने पर स्वार्थ के सिद्ध हो जाने पर, फिर वैसे के वैसे ही हो जाते हैं॥ ४४४॥

सर्वोद्वेगविचक्षणः प्रचुरमामुञ्चन्नवाच्यं विषं
प्राणाकर्षपदोषदेशकुटिलस्वान्तो द्विजिह्वान्वितः।
भीमभ्रान्तविलोचनोसमगतिः शश्वद्दयावर्जित-
श्छिद्रान्वेषणतत्परो भुजगवद्वर्ज्यो बुधैर्दुर्जनः॥ ४४५॥

अर्थ—संसार में जिस प्रकार लोग सर्प से सदा दूर ही रहते हैं और उसको कभी भी अपने पास नहीं रखते उसी प्रकार सज्जन विवेकी लोग भी सर्प के समान ही गुण वाले दुर्जन को कभी भी अपने पास नहीं फटकने देते और न स्वयं ही उनके पास जाते हैं क्योंकि सांप जैसे समस्त लोगों को भय उद्वेग कराने में समर्थ होता है, वैसा ही दुर्जन भी सब लोगों के चित्त में उद्वेग कराने वाला होता हैं, सांप जैसी भयंकर पीड़ा देता है, निंदनीय विष उगलता है दुर्जन भी उसी प्रकार निंदनीय वचन मुँह से निकालता है, घर में सांप का वास जिस प्रकार प्राणों को लेने वाला होता है, दुर्जन का भी उसी प्रकार पदस्थान-संग प्राणों का नाशक होता है, साँप जिस प्रकार अपदेश-खराब जगह चलाने वाला कुटिल होता है, दुर्जन भी उसी प्रकार अपदेश छल-कपट से कुटिल चित्त वाला होता है, सांप जिस प्रकार दो जिह्वा वाला होता है, दुर्जन भी उसी प्रकार दो जिह्वा-एक

ही बात को दो तरह से कहने वाला होता है, साँप जिस प्रकार भीम-भयंकर इधर-उधर घूमते हुए नेत्रों से संयुक्त रहता है, दुर्जन भी उसी प्रकार अपनी भयंकर-चितवन-नजर को इधर उधर घुमाता रहता है, सांप जिस प्रकार असमगति-टेढ़ा मेढ़ा चलता है दुर्जन भी उसी प्रकार असमगति विषम गमन वाला होता है किसी का हित तो किसी का अहित करता है, सांप जिस प्रकार सर्वदा दया-रहित-निर्दयी होता है, बाल, वृद्ध, युवा जिसको देखता है उसी को काट खाता है, उसी प्रकार दुर्जन भी दया-रहित होता है, शत्रु, मित्र, अपराधी, अनपराधी, दीन, दरिद्री सब ही को तंग करता है और सांप जिस प्रकार छिद्र-बिल के ढूंढ़ने में सर्वदा तत्पर रहता है, उसी प्रकार दुर्जन भी छिद्र-दोष को ढूंढने में सर्वदा तत्पर रहता है॥ ४४५॥

धर्माधर्मविचारणाविरहिताः सन्मार्गविद्वेषिणो,
निन्द्याचारविधौ समुद्यतधियः स्वार्थैकनिष्ठापराः।
दुःखोत्पादकवाक्यभाषणरताः सर्वाप्रशंसाकरा,
द्रष्टव्या सपरिग्रहव्रतिसमा विद्वज्जनैर्दुर्जनाः॥ ४४६॥

अर्थ—संसार में जिस प्रकार पाखंडी-धन, धान्य, दासी, दास आदि चेतन-अचेतन परिग्रहों से सहित तपस्वी होते हैं, उसी प्रकार के दुर्जन भी होते हैं, क्योंकि दोनों ही सर्वदा धर्म-अधर्म—पाप-पुण्य के विचार से शून्य होते हैं, श्रेष्ठ मार्ग से विद्वेष करने वाले होते हैं, निंदनीय आचरण करने में लगे रहते हैं, अपने स्वार्थ को सिद्ध करने वाले मतलबी होते हैं, दुःख को उत्पन्न करने वाले वचन बोलते हैं और सर्वदा सब की निंदा ही किया करते हैं॥ ४४६॥

मानं मार्दवतः क्रुधं प्रशमतो लोभं तु सन्तोषतो,
मायामार्जवतो जनीमवनतेर्जिह्वा जयान्मन्मथम्।
ध्वान्तं भास्करतोऽनलं सलिलतो मन्त्रात्समीराशनं,
नेतुं शांतिमलं कुतोऽपि न खलं मर्त्यो निमित्ताद् भुवि॥ ४४७॥

अर्थ—संसार में जितने भी मान आदि हानिकारक पदार्थ हैं, वे सब किसी न किसी कारण से शांत-नष्ट किये जा सकते हैं, परंतु एक दुर्जन ही ऐसा है जो किसी भी कारण से शांत-वश में नहीं किया जा सकता, क्योंकि देखो! मान को मार्दव-मृदुता-नरमाई से वश में कर सकते हैं-चाहें तो हम नम्रता कर मान को एक दम तिलांजलि दे सकते हैं, क्रोध को क्षमा से रोक सकते हैं, दूसरों से अपराध होने पर क्षमा धारण करने से अपने में क्रोध नहीं नहीं ला सकते, लोभ को संतोष से जीत सकते हैं, लोभ का वेग आने पर संतोष कर लेने से काम चल सकता है, माया-कुटिलता को ऋजुता-सरलता से अपने हाथ में कर सकते हैं-यदि हम सर्वदा अपने मन में, वचन में और काय में

समानता रखें तो माया हमसे दूर रह सकती है, स्त्री को अनुनय-विनय से प्रसन्न कर सकते हैं, जिह्वा-इंद्रिय को जीतने से काम को शांत कर सकते हैं-काम का वेग आने पर इंद्रिय वश में करने से वह रुक सकता है, अंधकार को प्रकाशक पदार्थ के संबंध से नष्ट कर सकते हैं, जहां पर अंधकार हो वहां पर यदि दीपक आदि का प्रकाश कर दिया जाय तो वह वहां से दूर हो सकता है, अग्नि को पानी से बुझा सकते हैं-यदि अग्नि प्रज्वलित हो जाये तो पानी डालकर वह शांत की जा सकती है और सर्प को मंत्र से वश-कीलकर शांत कर सकते हैं-कैसा भी भयंकर सर्प हो वह मंत्र के प्रभाव से अपने वश में कर शांत किया जा सकता है परंतु दुर्जन किसी भी प्रकार से वश में नहीं किया जा सकता है॥ ४४७॥

वीक्ष्यात्मीयगुणैर्मृणालधवलैर्यद्वर्धमानं जनं
राहुर्वा सितदीधितिं मुखकरैरानन्दयन्तं जगत्।
नो नीचः सहते निमित्तरहितो न्यक्कारबद्धस्पृहः
किञ्चिन्नात्र तदद्भुतं खलजने येन वृकेव स्थितिः॥ ४४८॥

अर्थ—संसार में जिस प्रकार राहु मृणालतंतु के समान शुक्ल गुणों-कलाओं से प्रतिदिन बढ़कर (वृद्धिंगत होकर) अपने मुख की किरणों से संसार को प्रफुल्लित करते हुए चंद्रमा को बिना ही कारण ग्रस लेता है-उसके गुणों की वृद्धि न देख कर उसे खाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार दुर्जन भी अपने निर्मल गुणों से बड़प्पन को प्राप्त होते हुए समस्त जगत् को आनंदित करने वाले उत्तम गुणी पुरुष को बिना ही किसी निमित्त के नीचा करने का प्रयत्न करता है-उसके गुणों में असूयाकर उसकी बुराई करने लगता है, सो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि दुर्जन की स्थिति भेड़िया के समान है अर्थात् भेड़िया जिस प्रकार टकटकी लगाकर घुन्नाता रहता है और अवसर पाते ही शिकार को चट कर लेता है, उसी प्रकार दुर्जन भी सदा ताक लगाये बैठा रहता है, जब उसको अवसर मिलता है उसी समय उसके गुणों को मलिन कर डालता है॥ ४४८॥

त्यक्त्वा मौक्तिकसंहतिं करटिनो गृह्णन्ति काकाः पलं
त्यक्त्वा चन्दनमाश्रयन्ति कुथितयोनिक्षतं मक्षिकाः।
हित्वान्नं विविधं मनोहररसं श्वानो मलं भुञ्जते
यद्वल्लान्ति गुणं विहाय सततं दोषं तथा दुर्जनाः॥ ४४९॥

अर्थ—देखो! जिस प्रकार काक हाथी के मोतियों को छोड़कर मांस को ही ग्रहण करते हैं, मक्खियां चंदन को छोड़कर निंदित घाव का ही आश्रय करती हैं और श्वान—कुत्ते नाना मनोहर रस वाले भोजनों को छोड़कर विष्ठा-मल को ही खाते हैं, उसी प्रकार दुर्जन भी सर्वदा गुणों को छोड़कर दोषों को ग्रहण करते हैं-उनको ही वे श्रेष्ठ समझ अपनाते हैं॥ ४४९॥

॥ १८ ॥

अथ सज्जननिरूपण

ये जल्पन्ति व्यसनविमुखां भारतीमस्तदोषां
ये श्रीनीतिद्युतिमतिधृतिप्रीतिशांतीर्ददन्ते।
येभ्यः कीर्त्तिर्विगलितमला जायते जन्मभाजां
शश्वत्सन्तः कलिलहतये ते नरेणात्र सेव्याः॥ ४५०॥

अर्थ—जिनकी निर्दोष-वाणी सर्वदा व्यसनों से-दुःखों से विमुखता कराने वाली होती है, जो विभूति, नीति, कांति, बुद्धि, लक्ष्मी, धृति (धैर्य), प्रीति और शांति को प्रदान करते हैं और जिनके संबंध से निर्मल कीर्ति का प्रादुर्भाव होता है, लोगों को पाप को दूर करने के लिए ऐसे सज्जन पुरुषों की सर्वदा सेवा करनी चाहिये।

भावार्थ—सज्जन पुरुष के उपदेश से दुःख दूर होते हैं, लक्ष्मी आदि की प्राप्ति होती है और मनुष्य की कीर्ति का विस्तार होता है, इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि वे सर्वदा उनकी सेवा करें-सर्वदा उनकी ही संगत में रहें॥ ४५०॥

नैतच्छ्यामा चकितहरिणीलोचना कीरनाशा
मृद्वालापा कमलवदना पक्वविम्बाधरोष्ठी।
मध्ये क्षामा विपुलजघना कामिनी कान्तरूपा
यन्निर्दोषं वितरति सुखं संगतिः सज्जनानाम्॥ ४५१॥

अर्थ—संसार में लोग सोलह वर्ष वाली (युवती) हरिणी के समान चंचल नेत्रों वाली, तोते की-सी नाक वाली, मीठे-मीठे कोमल वचनों को बोलने में चतुर, चंद्रवदनी, पके हुए बिंब समान लाल ओंठ वाली, कृशकटि की धारक, स्थूल नितंबिनी, सुन्दरी कामिनी स्त्री को जैसा आनंद प्रदान करने वाली मानते हैं, वैसा अन्य किसी भी पदार्थ को नहीं मानते, परन्तु आचार्य कहते हैं कि नहीं! सज्जनों की संगति जैसा सुख-आनन्द देती है, वैसा कोई भी नहीं देता, उपर्युक्त गुण वाली युवती स्त्री से जायमान सुख तो सदोष है-अन्त में दुःख देने वाला है, इसलिये हेय (त्यागने योग्य) है, और सज्जनों की संगति से उत्पन्न हुआ सुख सर्वदा निर्दोष है, गुण ही गुण प्रदान करने वाला है, इसलिये ग्राह्य है और सर्वोत्तम है॥ ४५१॥

यो नाक्षिप्य प्रवदति कथां नाभ्यसूयां विधत्ते
न स्तौति स्वं हसति न परं वक्ति नान्यस्य मर्म।
हन्ति क्रोधं स्थिरयति शमं प्रीतितो न व्ययीति
सन्तः सन्तं व्यपगतमदं तं सदा वर्णयन्ति॥ ४५२॥

अर्थ—जो पुरुष कभी भी दूसरों पर कटाक्ष—आक्षेप न कर वचन बोलता है, कभी किसी के गुणों में दोषों का आरोप नहीं करता, कभी अपनी प्रशंसा और दूसरों की बुराई नहीं करता, पराये गूढ़ अभिप्राय को कभी प्रगट नहीं करता, क्रोध को सर्वदा शांत किये रहता है और लोगों के अपराध क्षमाकर उनमें सर्वदा प्रीति स्थिर बनाये रखता है और कभी अहंकार नहीं करता, वही पुरुष वास्तव में सज्जनों की दृष्टि में सज्जन—श्रेष्ठ पुरुष कहलाता है॥ ४५२॥

धृत्वा धृत्वा ददति तरवः सप्रमाणं फलानि
प्रापं प्रापं भुवनभृतये वारि वार्दाः क्षिपन्ति।
हत्वा हत्वा वितरति हरिर्दन्तिनः संश्रितेभ्यो
भो साधूनां भवति भुवने कोऽप्यपूर्वोऽत्र पन्थाः॥ ४५३॥

अर्थ—संसार में साधु लोगों के उपकार करने का मार्ग ही दूसरी तरह का होता है—वे एक विलक्षण ही रीति से लोगों पर उपकार करते हैं। दृष्टांत के लिये देखो कि वृक्ष—बिना अपने खास मतलब के उद्दंडता-उन्नतता घमंड से रहित होकर नम्रता-नरमाई-अवनति पूर्वक फल देते हैं, मेघ समुद्र से जल भर-भरकर लोगों के घर पर पहुंचाते हैं-उनके हित के लिये अपने कठिन से कठिन परिश्रम को भी नहीं गिनते और सिंह आश्रितों-सेवकों, दीनों को जीव मार-मारकर देते हैं जो उनकी शरण में जाते हैं उनके पालने के लिये वे पाप करने से भी नहीं डरते।

भावार्थ—सज्जन लोग दूसरों के हित करने के लिये अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु दे देते हैं, कठिन से कठिन परिश्रम उठाते हैं और यहाँ तक कि समय आने पर पाप करने से भी नहीं डरते, परन्तु तब भी वे अपना उपकार नहीं जतलाते—लोगों पर अहसान घमंड नहीं करते—सर्वदा नम्र ही रहते हैं॥ ४५३॥

वार्धेश्चन्द्रः किमिह कुरुते नाकिमार्गस्थितोऽपि
वृद्धौ वृद्धिं श्रयति यदयं तस्य हानौ च हानिम्।
अज्ञातो वा भवति महतः कोऽप्यपूर्वस्वभावो
देहेनापि व्रजति तनुतां येन दृष्ट्वान्यदुःखम्॥ ४५४॥

अर्थ—देखो! आकाश में हजारों कोसों की दूरी पर रहने वाला चन्द्रमा समुद्र का

क्या उपकार कर देता है जो कि वह (समुद्र) उसकी (चन्द्रमा की) वृद्धि में कलाओं की वृद्धि होने पर शुक्ल पक्ष में तो बढ़ता है और उसकी हानि-घटती होने पर कृष्ण पक्ष में घटता है। अथवा सज्जनों का स्वभाव ही निराला होता है जो दूसरे के दुःखों को देखकर वे मन से ही नहीं, किन्तु शरीर से भी खिन्न (क्षीण) हो जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र स्वभाव से ही चन्द्रमा की वृद्धि में तो बढ़ता है और घटती में घटता है उसी प्रकार सज्जन लोग भी दूसरों की वृद्धि-विभूति की उन्नति में तो बढ़ते हैं, हर्ष मानते हैं और उनकी घटती-अवनति में घटते हैं-दुःख मानते हैं॥ ४५४॥

सत्यां वाचं वदति कुरुते नात्मशंसान्यनिन्दे
नो मात्सर्यं श्रयति तनुते नापकारं परेषाम्।
नो शप्तोऽपि व्रजसि विकृतिं नैति मन्युं कदाचित्
केनाप्येतन्निगदितमहो चेष्टितं सज्जनस्य॥ ४५५॥

अर्थ—सज्जन लोग सर्वदा सत्य वाणी बोलते हैं, अपनी प्रशंसा और दूसरे की निंदा नहीं करते, दूसरे लोगों में मात्सर्य नहीं रखते उनके गुणों को दोषी ठहराने का प्रयत्न नहीं करते। कभी किसी को कैसा भी मानसिक, वाचिक और कायिक दुःख नहीं देते, दूसरों द्वारा अपकृत होने पर भी कभी विकृत नहीं होते-उससे बदला लेने की कभी मन में ठान नहीं ठानते और कभी भी क्रोध या शोक को नहीं प्राप्त होते, सर्वदा प्रसन्न मुख ही बने रहते हैं इसलिये उनका एक विलक्षण ही चेष्टित-बर्ताव होता है॥ ४५५॥

नश्यत्तन्द्रो भुवनभवनोद्भूततत्त्वप्रदर्शी
सम्यग्मार्गप्रकटनपरो ध्वस्तदोषाकरश्रीः।
पुष्यत्पद्मो गलिततिमिरो दत्तमित्रप्रतापो
राजत्तेजा दिवससदृशः सज्जनो भाति लोके॥ ४५६॥

अर्थ—सज्जन लोग इस संसार में दिन के समान शोभित होते हैं—जिस प्रकार के गुण दिन में होते हैं, उसी प्रकार के उनमें (सज्जनों में) भी होते हैं, क्योंकि जिस प्रकार दिन नश्यत्तंद्र-नष्ट की है तंद्रा, निद्रा जिसने- ऐसा होता है, दूसरे लोगों के आलस और नीन्द को भगाने वाला होता है, उसी प्रकार सज्जन भी नष्ट हो गई है तंद्रा (आलस) जिसकी ऐसा होता है-सर्वदा निरालस रहता है, दिन जिस प्रकार भुवनभवनोद्-भूततत्त्वप्रदर्शी-संसार रूपी गृह के समस्त पदार्थों को दिखाने वाला होता है, उसी प्रकार सज्जन भी सांसारिक तत्त्व—यथार्थ पदार्थों का प्रदर्शी उपदेश देने वाला होता है, अपने उपदेश से लोगों को वास्तविक तत्त्व बतलाता है, दिन जिस प्रकार अच्छे मार्ग को दिखलाने में कारण होता है-उसमें लोग साफ-सुथरे और सीधे मार्ग को पा लेते हैं

उसी प्रकार सज्जन भी सच्चा-सीधा और श्रेष्ठ मार्ग संसार में जीवन बिताने का उपाय बतलाता है, सर्वदा अपनी कामनाओं को उसे बतलाने में ही रखता है, दिन जिस प्रकार ध्वस्त दोषाकर श्री-नष्ट की है दोषाकर चंद्रमा की श्री-शोभा जिसने ऐसा होता है-अपने प्रकाश में चन्द्रमा के तेज को फीका बना देता है उसी प्रकार सज्जन भी नष्ट है दोषाकर-(दोषों का आकर-खजाना) दुर्जन की श्री-कांति जिसने ऐसा है-अपनी सज्जनता से दुर्जनों की दुर्जनता को लजाने वाला है, दिन जिस प्रकार पुष्पत्पद्म-पद्म-कमलों को पुष्पत्-खिलाने-प्रफुल्लित करने वाला होता है-दिन के होने से कमल खिल उठते हैं, उसी प्रकार सज्जन भी पद्मा—लक्ष्मी को पुष्पत् पुष्ट करने वाला होता है उस के पास वह बढ़ निकलती है, दिन जिस प्रकार गलिततिमिर-तिमिर-अंधकार का नाश करने वाला है, सज्जन भी उसी प्रकार तिमिर-अज्ञान का नाश करने वाला है, दिन जिस प्रकार मित्र-सूर्य के प्रताप को प्रकट करने वाला है, सज्जन भी उसी प्रकार मित्र-हित-संबंधी के प्रताप ऐश्वर्य को प्रकट करने वाला है और दिन जिस प्रकार राजत्तेजा-तेज प्रकाश से शोभित रहता है, उसी प्रकार सज्जन भी तेज प्रताप प्रभाव से शोभित रहता है॥ ४५६॥

ये कारुण्यं विदधति जने सापकारेऽनपेक्षा
मान्याचारा जगति विरला मण्डनं ते धरित्र्याः।
ये कुर्वन्ति ध्रुवमुपकृतिं स्वस्य कृत्यप्रसिद्धयै
मर्त्याः सन्ति प्रतिगृहममी काश्यपीभारभूताः॥ ४५७॥

अर्थ—जो पुरुष अपने अपकार करने वाले मनुष्यों पर दया दिखलाते हैं-उनको मूर्ख-अज्ञानी समझकर क्षमा करते हैं और उनसे बदला लेने की कभी भी इच्छा नहीं करते, वे पृथ्वी के भूषण स्वरूप सज्जन पुरुष विरले हैं—कहीं-कहीं पर बड़े भाग्य से मिलते हैं, परंतु जो अपने काम के सिद्ध हो जाने के लिये तो उपकार करते हैं और उसके बिगड़ जाने पर अपकार कर बैठते हैं, ऐसे पृथ्वी के बोझ स्वरूप लोग घर घर में विद्यमान हैं।

भावार्थ—अपने उपकारी का उपकार और अपकारी का अपकार करने वाले लोग तो बहुत से हैं-जहाँ देखो वहीं मिलते हैं, परंतु जो अपकारी का अपकार नहीं करते, उल्टा उसका उपकार ही करते हैं, ऐसे लोग बहुत ही कम हैं, किसी-किसी जगह देखने में आते हैं॥ ४५७॥

सम्यग्धर्मव्यवसितपरः पापविध्वंसदक्षो
मित्रामित्रस्थिरसममनाः सौख्यदुःखैकचेताः।
ज्ञानाभ्यासात्प्रशमितमदक्रोधलोभप्रपञ्चः
सद्वृत्ताढ्यो मुनिरिव जनः सज्जनो राजतेऽत्र॥ ४५८॥

अर्थ—संसार में जैसी जो शोभा सम्यक्चरित्र के धारक श्रेष्ठ मुनि की होती है वैसी ही और वही श्रेष्ठ आचरण के आचरने वाले सज्जन की भी होती है, क्योंकि ये दोनों ही समानता धर्म के धारण करने में तत्पर रहते हैं, पाप के विध्वंस करने में चतुर-निपुण होते हैं, शत्रु और मित्र में समान भाव रखते हैं, सुख-दुःख को एक-सा समझते हैं एवं ज्ञान के अभ्यास से क्रोध, मान, माया और लोभ को सर्वदा शांत-वशीभूत किये रहते हैं॥ ४५८॥

यः प्रोत्तुङ्गः परमगरिमा स्थैर्यवान्वा नगेन्द्रः
पद्मानन्दी विहतजडिमो भानुवद् धूतदोषः।
शीतः सोमोऽमृतमयवपुश्चन्द्रवद् ध्वान्तघाती
पूज्याचारो जगति सुजनो भात्यसौ ख्यातकीर्तिः॥ ४५९॥

अर्थ—जो पुरुष पर्वत के समान तो उन्नत, स्थिर और गुरु होते हैं, सूर्य के समान पद्मानंदी, बिहतजडिम और धूतदोष होते हैं, चंद्रमा के समान सोम-शांत, अमृतमय शरीर वाले और ध्वांत-नाशक होते हैं, वे श्रेष्ठ आचरण वाले पुरुष सज्जन कहलाते हैं और उनकी ही कीर्ति दशों दिशाओं में विस्तृत होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार पर्वत उन्नत ऊँचे स्थिर अचल और गुरु-बड़े भारी रहते हैं उसी प्रकार सज्जन भी उन्नत ऊँचे किसी भी दुर्ज्जन आदि द्वारा उल्लंघन न किये जाने वाले, स्थिर-अचल-किसी भी कार्य से विचलित न होने वाले और गुरु-गौरव सहित होते हैं, सूरज जिस प्रकार पद्मानन्दी पद्मों-कमलों को आनंदित करने वाला, विहतजडिम ठंडी को नष्ट करने वाला और धूतदोष-दोषा-रात्रि को दूर करने वाला होता है, उसी प्रकार सज्जन भी पद्मा-लक्ष्मी को—ऐश्वर्य को आनंदित करने वाले जडिमा-मूर्खता के नाशक और दोषों को नाश करने वाले होते हैं और जिस प्रकार चन्द्रमा सोम-शांत अमृतमय प्रिय शरीर वाला, ध्वांत-अंधकार का नाशक होता है, उसी प्रकार सज्जन भी शांत, अमृत के समान जीवों को हितकर शरीर वाले और अज्ञान के नाश-कारक होते हैं, इसलिये उनकी कीर्ति सर्वत्र फैलती है॥ ५४९॥

तृष्णां चित्ते शमयति मदं ज्ञानमाविष्करोति
नीतिं सूते हरति विपदं सम्पदं सञ्चिनोति।
पुंसां लोकद्वितयशुभदा संगतिः सज्जनानां
किं वा कुर्यान्न फलममलं दुःखनिर्नाशदक्षा॥ ४६०॥

अर्थ—सज्जनों की संगति करने से चित्त की तृष्णा-डाह बुझ जाती है, मद नष्ट हो जाता है, ज्ञान की वृद्धि होती है, नीति-न्याय का आचारण करना आने लगता है, विपत्ति दूर भाग जाती है, संपत्ति एकत्र हो-होकर आश्रय करने लगती है और दोनों

लोकों में शुभ फल प्राप्त होता है, इसलिये बहुत कहने से क्या! समस्त दुःखों को नाश करने में समर्थ सज्जनों की संगति से क्या-क्या उत्तम फल नहीं प्राप्त होते अर्थात् सब ही होते हैं॥ ४६०॥

चित्ताह्लादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि
प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि।
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमदं सार्थकं मुक्तबाधं
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः॥ ४६१॥

अर्थ—जो पुरुष चित्त को प्रसन्न करने वाले, व्यसनों के विरुद्ध, शोक-संताप के नाशक बुद्धि को बढ़ाने वाले, सुनने में प्रिय-मीठे, न्याय्य मार्ग के अनुसरण करने वाले, सच्चे, हितकारक, अर्थ वाले, बाधा-रहित, निर्मद और निर्दोष वचन बोलने वाले होते हैं, उन्हें विद्वान् लोग सज्जन कहते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य सज्जन बनना चाहें, उन्हें चाहिये उपर्युक्त गुण वाले वचन बोलें॥ ४६१॥

कोपो विद्युत्स्फुरिततरलो ग्रावरेखेव मैत्री
मेरुस्थैर्यं चरितमचलः सर्वजन्तूपचारः।
बुद्धिर्धर्मग्रहणचतुरा वाक्यमस्तोपपातं
किम्पर्याप्तं न सुजनगुणैरेभिरेवात्र लोके॥ ४६२॥

अर्थ—सज्जनों के गुण बड़े ही विलक्षण होते हैं, उनका क्रोध तो बादल में चमकती हुई बिजली के समान क्षणस्थाई होता है, मित्रता पत्थर पर की हुई लीक (लाइन) के समान अविनाशी होती है, चरित्र सुमेरु पर्वत के समान निश्चल होता है, उपकार समस्त शत्रु-मित्रों में अचल होता है, बुद्धि धर्म को ग्रहण करने में चतुर रहती है और वाक्य दूसरों को सुखी करने वाले होते हैं, किसी का भी अपघात करने वाले नहीं होते, इसलिये उनके इन गुणों ने समस्त संसार को व्याप्त कर रखा है—अर्थात् सज्जनों के उपर्युक्त गुण सरीखे संसार में कोई भी पदार्थ नही हैं॥ ४६२॥

जातु स्थैर्याद्विचलति गिरिः शीततां याति वह्नि-
र्यादोनाथः स्थितिविरहितो मारुतः स्तम्भमेति।
तीव्रश्चन्द्रो भवति दिनपो जायते चाप्रतापः
कल्पान्तेऽपि व्रजति विकृतिं सज्जनो न स्वभावात्॥ ४६३॥

अर्थ—चाहे पर्वत अपने स्थैर्य (स्थिरता) से डिग जायें, अग्नि ठंडी हो जल निकले, समुद्र अपनी मर्यादा उल्लंघन कर दे, पवन अपना बहना (चलना) छोड़ स्तब्ध

हो जाये, चंद्रमा गरम हो कर तप निकले और सूरज भी प्रतापहीन हो जाये, परंतु जो सज्जन हैं वे कभी भी चाहें कल्प काल ही क्यों न आकर उपस्थित हो जाये अपने स्वभाव से नहीं विचलित होते-वे प्राण जाने पर भी अपना हितकर स्वभाव छोड़कर कभी अहित-कर नहीं बनते॥ ४६३॥

वृत्तत्यागं विदधति नये नान्यदोषं वहन्ते
नो याचन्ते सुहृदमधनं नाशतो नापि दीनम्।
नो सेवन्ते विगतचरितं कुर्वते नाभिभूतिं
नो लङ्घन्ते क्रममममलिनं सज्जनास्ते भवन्ति॥ ४६४॥

अर्थ—सज्जन लोगों की महिमा ही निराली होती है। वे न तो कभी अपने चरित्र से (क्षमा, दया आदि से) चलित होते हैं, न कभी दूसरों के दोषों को ग्रहण करते हैं, न प्राण जाने पर भी कभी निर्धन, दीन, हीन मित्र से याचना करते हैं, न कभी दूषित चरित्र वाले व्यसनी की सेवा करते हैं, न कभी किसी का तिरस्कार करते हैं और न कभी न्याय, नीति-मार्ग का उल्लंघन करते हैं। ये सर्वदा अपने चरित्र में अचल, दूसरों के दोषों से रहित, मित्र से याचना न करने वाले, श्रेष्ठ सुचरित्र मनुष्य के सेवी, दूसरों के यथार्थ प्रशंसक और नीति मार्ग के अनुयायी होते हैं॥ ४६४॥

मातृस्वामिस्वजनजनकभ्रातृभार्याजनाद्या
दातुं शक्तास्तदिह न फलं सज्जना यद्दन्ते।
काचित्तेषां वचनरचना येन सा ध्वस्तदोषां
यां शृण्वन्तः शमितकलुषा निर्वृतिं यान्ति सत्त्वाः॥ ४६५॥

अर्थ—संसार में जिस फल को सज्जन लोग मनुष्यों के लिये देते हैं, जो हित इस जीवन का सज्जन करते हैं, उसे न तो माता-पिता ही कर सकते हैं, और न उसे स्वामी, कुटुंबी, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र आदि संबंधी ही कर सकते हैं, क्योंकि सज्जनों की निर्दोष वचन-रचना में एक विलक्षण ही ओज भरा रहता है, जिसके कारण मनुष्य दोषों का सर्वथा नाश कर पापों से रहित हो मोक्ष कर स्थान को पा लेते हैं।

भावार्थ—मनुष्य इस जन्म में माता-पिता आदि की सहायता से चाहे बिल्कुल भी दुःख भोग न पायें, सर्वदा इंद्रिय-सुखों में ही आसक्त बने रहें, परंतु दूसरे जन्म में मरने पर उन्हें अवश्य ही दुःख भोगना पड़ता है, लेकिन सज्जनों की सहायता से यह बात नहीं होती। उनके वचनों के अनुसार चलने से मनुष्य नित्य निराबाध मोक्ष-सुख को पा लेते हैं, जिससे उन्हें कभी भी दुःख का सामना नहीं करना पड़ता, इसलिये सज्जन लोग सबसे अधिक हितकारी हैं॥ ४६५॥

नित्यच्छायाः फलभरनताः प्रीणितप्राणिसार्थाः
क्षिप्त्वा प्रेक्षामुपकृतिकृतो दत्तसत्त्वावकाशाः।

शश्वत्तुङ्गा विपुलसुमनोभ्राजिनोऽलङ्घनीयाः
प्रीतिं चान्तः स्थिरतरधियो वृक्षवद्वर्धयन्ति॥ ४६६॥

अर्थ—सज्जन लोग, मनुष्यों के हृदय में वृक्ष की-सी प्रीति उत्पन्न करते हैं, जो हर्ष लोगों को वृक्ष देते हैं, वही हर्ष-सुख उन्हें सज्जन देते हैं, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष नित्य-सर्वदा-छाया-परछाईं से युक्त और फलों के भार से नम्र रहते हैं, उसी प्रकार सज्जन भी नित्य छाया-आश्रय और उत्तम फल से नम्र होते हैं-जो उनकी छाया-शरण में आता है, उसे वे उसकी इच्छा पूरी कर के फल देते हैं, वृक्ष जिस प्रकार प्राणियों के समूह को आनंदित करने वाले होते हैं, सज्जन भी उसी प्रकार उन्हें आनंदित-संतुष्ट करने वाले होते हैं, वृक्ष जिस प्रकार बिना किसी स्वार्थ के उपकारी-अपकारी सबका उपकार करने वाले होते हैं-सबको अपना फल देते हैं, उसी प्रकार सज्जन भी बिना अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि के सबका उपकार करते हैं, वृक्ष जिस प्रकार प्राणियों को अवकाश-स्थान दान देने वाले होते हैं, सज्जन भी उसी प्रकार प्राणियों को अवकाश-शरणदान देने वाले होते हैं, वृक्ष जिस प्रकार सर्वदा ऊँचे रहते हैं, सज्जन भी उसी प्रकार ऊँचे श्रेष्ठ रहते हैं, वृक्ष जिस प्रकार बहुत से सुमन-फूलों से शोभित रहते हैं, सज्जन भी उसी प्रकार सर्वोत्तम मन से शोभित रहते हैं और वृक्ष जिस प्रकार अलंघनीय-किसी से भी लंघित न होने वाले होते हैं, सज्जन भी उसी प्रकार अलंघनीय-दुर्जनों द्वारा अनतिक्रमणीय रहते हैं॥ ४६६॥

मुक्त्वा स्वार्थं सकृपहृदयाः कुर्वते ये परार्थं
ये निर्व्याजां विजितकलुषां तन्वते धर्मबुद्धिम्।
ये निर्गर्वा विदधति हितं गृह्णते नापवादं
ते पुँन्नागा जगति विरलाः पुण्यवन्तो भवन्ति॥ ४६७॥

अर्थ—जो लोग अपने स्वार्थ को तिलांजलि देकर करुणा सहित हृदय से दूसरों का उपकार करते हैं, जिनकी बिना किसी छल-कपट के पापरहित बुद्धि सर्वदा धर्म की तरफ झुकी रहती है, जो सर्वदा गर्वरहित हो दूसरों का हित-उपकार करते रहते हैं और जो सर्वदा प्रशंसा के ही कार्य करते हैं, कभी किसी के दोष या निंदा को नहीं ग्रहण करते, वे पुण्यशाली सज्जन पुरुष इस संसार में विरले ही हैं—अर्थात् कोई-कोई हैं।

भावार्थ—निर्दोष धर्म-बुद्धि से निस्वार्थ परोपकार कर जो लोग गर्व नहीं करते—यह नहीं कहते कि यह हमने किया है या हमारे बिना हो ही नहीं सकता था, वे सर्वदा प्रशंसा के ही भाजन होने वाले-अपवाद से रहित पुरुष संसार में बहुत थोड़े हैं॥ ४६७॥

हन्ति ध्वान्तं हरयति रजः सत्त्वमाविष्करोति
प्रज्ञां सूते वितरति सुखं न्यायवृत्तिं तनोति।

धर्मे बुद्धिं रचयिततरां पापबुद्धिं धुनीते
पुंसां नो वा किमिह कुरुते संगतिः सज्जनानाम्॥ ४६८॥

अर्थ—संसार में सज्जनों की संगति अज्ञान का नाश करती है, पाप को दूर भगाती है, सद्गुण का प्रकाश करती है, अच्छी बुद्धि देती है, सुख का सामना कराती है, न्याय-युक्त व्यवहार करना सिखलाती है, धर्म में बुद्धि को दृढ़ करती है, पाप-बुद्धि का ह्रास करती है और बहुत कहने से क्या? संसार में जो अच्छे से अच्छा पदार्थ है, उस सबको सुलभ कर देती है।

भावार्थ—सज्जनों की संगति से सर्वोत्तम गुण प्राप्त होते हैं॥ ४६८॥

अस्यत्युच्चैः शकलितवपुश्चन्दनो नात्मगन्धं
नेक्षुर्यन्त्रैरपि मधुरतां पीड्यमानो जहाति।
यद्वत्स्वर्णं न चलति हिताच्छिन्नघृष्टोपतप्तं
तद्वत्साधुः कुजननिहतोऽप्यन्यथात्वं न याति॥ ४६९॥

अर्थ—जिस प्रकार चंदन खंडखंड कर देने पर भी अपनी उत्कट सुगंधि से रहित नहीं होता-वह उसे तब भी नहीं संकोचता, जिस प्रकार यंत्रों-कोलुओं से पीड़ा-पेरा गया भी इक्षु-गन्ना अपनी मधुरता को नहीं छोड़ता-वह ज्यों का त्यों मीठा बना रहता है, और जिस प्रकार ठोका-पीटा, तपाया गया सुवर्ण अपनी कांति या मूल्य से विचलित नहीं होता-उल्टा और अधिक चमक-दमक निकलता है, उसी प्रकार सज्जन भी दुर्जनों द्वारा नाना तरह से दुःखित किया गया भी कभी अपने हितकर स्वभाव से विचलित नहीं होता, वह ज्यों का त्यों हितकर-उपकारी ही बना रहता है॥ ४६९॥

यद्वद्भानुर्वितरति करैर्मोदमम्भोरुहाणां
शीतज्योतिः सरिदधिपतिं लब्धवृद्धिं विधत्ते।
वार्दो लोकानुदकविसरैस्तर्पयत्यस्तहेतु-
स्तद्वद्दोषं रचयति गुणैः सज्जनः प्राणभाजाम्॥ ४७०॥

अर्थ—जिस प्रकार बिना किसी प्रयोजन के सूर्य अपनी किरणों द्वारा कमलों को हर्ष प्रदान करता है—वह उन्हें प्रफुल्लित बनाता है, चंद्रमा अपने उदय से समुद्रों को हर्षित-उद्वेलित करता है और मेघ अपने जल की वर्षा से लोगों को तृप्त करता है, उसी प्रकार सज्जन भी बिना किसी स्वार्थ के लोगों के दोषों कों गुण बनाते हैं॥ ४७०॥

देवा धौतक्रमसरसिजाः सौख्यदाः स्वर्गलोके
पृथ्वीपालाः प्रददति धनं कालतः सेव्यमानाः।
कीर्तिप्रीतिप्रशमपटुतापूज्यतातत्त्वबोधाः
सम्पद्यन्ते झटिति कृतिनश्चैव पुंसः श्रितस्य॥ ४७१॥

अर्थ—लोगों को जितना हित प्रदान सज्जन करते हैं, उतना न तो देवता ही करते हैं और न राजा लोग ही करते हैं, क्योंकि देवतागण तो यदि उनकी रातदिन सेवा की जाये-उनके चरण-कमल धोये जाये तो पारलौकिक सुख प्रदान करते हैं और राजा लोग आज्ञा पालने पर तथा बहुत कुछ सेवा-शुश्रूषा करने पर कुछ धन दे देते हैं, परंतु सज्जन लोग तो बिना ही अपनी सेवा-शुश्रूषा कराये मनुष्यों को अपने समीप आने मात्र से कीर्ति, प्रीति, शांति, चतुरता, पूज्यता और तत्त्वज्ञता दे देते हैं अर्थात् देवता और राजाओं की सेवा करने से तो केवल पारलौकिक सुख और धन मिलता है, परंतु सज्जनों की संगति करने से कीर्ति-प्रीति आदि दोनों लोकों में सुखदायक अनेक गुण मिलते हैं, इसलिये वे सर्वोत्तम हैं॥ ४७१॥

यद्वद्वाचः प्रकृतसुभगाः सज्जनानां प्रसूताः
शोकक्रोधप्रभृतिजवपुस्तापविध्वंसदक्षाः।
पुंसां सौख्यं विदधतितरां शीतलाः सर्वकालं
तद्वच्छीतद्युतिरुचिलवा नामृतस्यन्दिनोऽपि॥ ४७२॥

अर्थ—अमृत को वर्षाने वाली भी चंद्रमा की किरणें जिस ताप को नष्ट नहीं कर सकतीं उस ताप को स्वभाव से ही मन को हरण करने वाले सज्जनों के प्रिय वचन नष्ट कर देते हैं, क्योंकि चंद्रमा की किरणें तो केवल शारीरिक सूर्य आदि के निमित्त से जायमान किसी विशेष समय के ताप—उष्णता को ही दूर करती हैं, परंतु सज्जनों की वाणी तो शोक, क्रोध, मान आदि से उत्पन्न सर्वदा के मानसिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार के ताप को दूर करती है, इसलिये चंद्रमा से भी अधिक सज्जन संसार में सुखदायक हैं॥ ४७२॥

आक्रुष्टोऽपि व्रजति न रुषं भाषते नापभाष्यं
नोत्कृष्टोऽपि प्रवहति मदं शौर्यधैर्यादिधर्मैः।
यो यातोऽपि व्यसनमनिशं कातरत्वं न याति
सन्तः प्राहुस्तमिह सुजनं तत्त्वबुद्ध्या विवेच्य॥ ४७३॥

अर्थ—अंत में सार यह है कि जो सताया गया भी—दुर्जनों द्वारा पीड़ित हुआ भी कभी क्रोध नहीं करता, मुंह से अपशब्द नहीं निकालता शौर्य, धैर्य आदि गुणों में उत्कृष्ट-महान् होकर भी कभी मद नहीं करता-अपने से दीन-हीन गरीबों की अवहेलना नहीं करता और रात-दिन व्यसनों, दुःखों, विपत्तियों से युक्त होकर भी कभी कातर-कायर नहीं होता, वह सज्जन पुरुष है और ऐसे पुरुष को ही तत्त्वबुद्धि से विवेचना करके विद्वानों ने श्रेष्ठ माना है।

भावार्थ—अपकारी का अपकार न कर उपकार करने वाले निरभिमानी धीर पुरुष को सज्जन कहते हैं॥ ४७३॥

॥ १९ ॥

अथ दाननिरूपण

तुष्टिश्रद्धाविनयभजनालुब्धताक्षान्तिसत्त्व-
प्राणत्राणव्यवसितगुणज्ञानकालज्ञताढ्यः।
दानासक्तिर्जननमृतिभिश्चास्तिकोऽमत्सरेर्ष्यो
दक्षात्मा यो भवति स नरो दातृमुख्यो जिनोक्तः॥ ४७४॥

अर्थ—जो दानी पुरुष तुष्टि, श्रद्धा, विनय, भक्ति, अलुब्धता (निर्लोभीपना) क्षमा, दया, गुणज्ञता और कालज्ञता से युक्त होता है, जन्म-मरण से डरने वाला, मात्सर्य और ईर्ष्या से रहित होता है एवं पूर्वापर विचार से संयुक्त दक्ष होता है, वही श्रेष्ठ दाता गिना जाता है।

भावार्थ—जो पुरुष संतोष आदि गुणों से मंडित होता हुआ गुणों में भक्ति होने से काल के अनुसार यथेष्ट वस्तु प्रदान करता है, वह श्रेष्ठ दाता गिना जाता है॥ ४७४॥

कालेऽन्नस्य क्षुधमवहितो दित्समानो विधृत्य
नो भोक्तव्यं प्रथममतिथेर्यः सदा तिष्ठतीति।
तस्याप्राप्तावपि गतमलं पुण्यराशिं श्रयन्तं
तं दातारं जिनपतिमते मुख्यमाहुर्जिनेन्द्राः॥ ४७५॥

अर्थ—जिस समय मुनि लोग आहार के लिये जाते हैं, उस समय तक जो पुरुष भूख रहकर भी इस विचार से कदाचित् कोई अतिथि (जिनकी आहार के लिये आने की कोई तिथि-नियम नहीं) मुनि न आ जाय उनसे पहले आहार कर लेना ठीक नहीं, भोजन नहीं करता वह दान देने में भक्ति वाला पुरुष दाताओं में श्रेष्ठ गिना जाता है और उसे ही-चाहे वह अतिथि को भोजन करा सके चाहे न करा सके, असीम पुण्य का बंध होता है॥ ४७५॥

सर्वाभीष्टा बुधजननुता धर्मकामार्थमोक्षाः
सत्सौख्यानां वितरणपरा दुःखविध्वंसदक्षाः।
लब्धुं शक्या जगति न यतो जीवितव्यं विनैव
तद्दानेन ध्रुवमसुभृतां किं न दत्तं ततोऽत्र॥ ४७६॥

अर्थ—संसार में जो लोग जीवों को अभय-प्राण-दान देते हैं, वे उनका बड़ा ही उपकार करते हैं-उनके बराबर उनका कोई भी हितकर नहीं हो सकता, क्योंकि सबसे उत्कृष्ट, विद्वानों द्वारा प्रशंसित जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं, जिनके द्वारा उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सुखों की प्राप्ति और दुखों का नाश होता है, वे उसी जीवन-प्राण के होने पर ही सिद्ध हो सकते हैं, बिना प्राण सहित रहे कोई भी पुरुषार्थ नहीं सध सकता, इसलिये जिसने प्राणों को दे दिया-मरते हुए को बचा लिया उसने उसे सब कुछ दे दिया।

भावार्थ—संसार में लोग जीवों का नाना तरह से उपकार करते हैं, कोई तो किसी को धन देता है, कोई किसी को अन्न देता है और कोई किसी को कुछ अन्य चीज दे देता है, इसलिये वे उपकारी हैं सही परंतु जो प्राणों को देता है-जीवों की रक्षा करता है, वह सबसे अधिक उपकारी है, क्योंकि प्राण ही सबके आदि कारण हैं। इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि सर्वदा जीवों की रक्षा करें-अहिंसा पालें॥ ४७६॥

कृत्याकृत्ये कलयति यतः कामकोपौ लुनीते
धर्मे श्रद्धां रचयति परां पापबुद्धिं धुनीते।
अक्षार्थेभ्यो विरमति रजो हन्ति चित्तं पुनीते
तद्दातव्यं भवति विदुषा शास्त्रमत्र व्रतिभ्यः॥ ४७७॥

अर्थ—शास्त्र-दान को देने से मुनियों का बड़ा हित होता है, क्योंकि शास्त्र के स्वाध्याय-पठन-पाठ से उन्हें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य (करने लायक या न करने लायक) का ज्ञान होता है, काम और क्रोध का जीतना आता है, श्रेष्ठ धर्म में श्रद्धा होती है पाप-बुद्धि नष्ट हो जाती है, इंद्रिय-विषयों के सेवन से विरक्ति हो निकलती है-चित्त ऊब उठता है, पाप नष्ट हो जाते हैं और चित्त पवित्र हो जाता है, इसलिये मनुष्यों को व्रतियों के लिये अवश्य ही शास्त्र प्रदान करने चाहिये।

भावार्थ—शास्त्र को पढ़ने से इस जीव का बहुत ही हित होता है, इसलिये उसका दान करना बड़ा ही पुण्य देने वाला है॥ ४७७॥

भार्याभ्रातृस्वजनतनयान् यन्निमित्तं त्यजन्ति
प्रज्ञासत्त्वव्रतसमितयो यद्विना यान्ति नाशम्।
क्षुद्दुःखेन ग्लपितवपुषो भुञ्जते च त्वभक्ष्यं
तद्दातव्यं भवति विदुषा संयतायान्नशुद्धम्॥ ४७८॥

अर्थ—लोग जिस के कारण माँ, बाप, भाई, बहिन और कुटुंबियों को छोड़ देते हैं, जिसके होने से बुद्धि, बल, व्रत, समिति आदि विलीन हो जाते हैं और जिसके

सबब से लोग अभक्ष्य पदार्थों को भी खाने लगते हैं उस क्षुधा (भूख) को दूर करने के लिये विद्वानों को संयमी पुरुषों के लिये अवश्य ही शुद्ध अन्न देना चाहिये।

भावार्थ—क्षुधा का वेग बड़ा ही प्रबल होता है, उसको कुटुंबियों का मोह रोक नहीं सकता, बुद्धि बल आदि की भेड़ें उसे बंद नहीं कर सकतीं और अभक्ष्य के खाने से उत्पन्न होने वाले पाप का भय भी उसे टस से मस नहीं कर सकता, वह सर्वदा-जब तक उसे अन्न नहीं मिलता, सताया ही करता है, उससे शरीर कृश ही होता रहता है इसलिये उसको दूर करने के लिये विद्वानों को चाहिये कि वे मुनियों के लिये शुद्ध भोजन अवश्य प्रदान करें, नहीं तो क्षुधा के प्राबल्य से तप आदि के भंग होने का डर है॥ ४७८॥

सम्यग्विद्याशमदमतपोध्यानमौनव्रताढ्यं
श्रेयोहेतुर्गतरुजि तनौ जायते येन सर्वम्।
तत्साधूनां व्यथितवपुषां तीव्ररोगप्रपञ्चै-
स्तद्रक्षार्थं वितरत जनाः प्रासुकान्यौषधानि॥ ४७१॥

अर्थ—मुनियों के शास्त्र स्वाध्याय, शम, दम, तप, ध्यान, मौन, और व्रत आदि समस्त कर्म तब ही निर्विघ्न निरतिचार समीचीन रीति से पल सकते हैं, जबकि शरीर बाधारहित-नीरोग रहता है और नाना व्याधियों से शरीर के पीड़ित रहने पर तो ये कुछ भी नहीं पल सकते, इसलिये उन रोगों की शांति के लिये विद्वानों को चाहिये कि अवश्य ही प्रासुक औषधियाँ रोगी मुनियों के लिये वितरण करें।

भावार्थ—किसी शुभ-अशुभ कार्य का करना, कराना और किये हुये की अनुमोदना करना बराबर ही गिना जाता है अर्थात् जो शुभ, अशुभ फल किसी कार्य के करने से होता है, वही उसके कराने और प्रशंसा करने से होता है, इसलिये स्वाध्याय, आदि शुभ कार्यों को करा देने का-उनके निर्विघ्न पलते रहने की योजना कर देने का भी वही फल होता है, जोकि उनके करने-साधने से होता है और वह योजना यही है कि मुनियों के किसी भी दैनिक कार्य में शरीर आदि के रोगी हो जाने से बाधा न आ पड़े, यदि कोई आ भी जाय तो उसे औषधि आदि द्वारा अवश्य दूर कर दें॥ ४७९॥

सावद्यत्वान्महदपि फलं नो विधातुं समर्थं
कन्यास्वर्णद्विपहयधरागोमहिष्यादिदानम्।
त्यक्त्वा दद्याज्जिनमतदयाभेषजाहारदानं
भूत्वाप्यल्पं विपुलफलदं दोषमुक्तं वियुक्तम्॥ ४८०॥

अर्थ—संसार में निर्दोष शास्त्र, प्राण, औषधि और आहार का अल्प भी दान देना

जितना हितकर है, उतना किसी भी कन्या, सुवर्ण, हस्ती, अश्व, पृथ्वी, गाय, भैंस आदि अन्य पदार्थ का महादान देना नहीं। क्योंकि कन्या आदि पदार्थ तो सावद्य-सदोष हैं, और जिन शास्त्र आदि निर्दोष हैं।

भावार्थ—निर्दोष पाप-रहित पदार्थों का अपरिमित दान भी जितना फल नहीं दे सकता, जितना कि निर्दोष-पाप रहित पदार्थों का अल्प ही दान फल देता है, इसलिये समस्त प्रकार के दानों को छोड़कर इन चार प्रकार के दानों का ही करना श्रेष्ठ है॥ ४८०॥

नीतिश्रीतिश्रुतिमतिधृतिज्योतिभक्तिप्रतीति-
प्रीतिज्ञातिस्मृतिरतियतिख्यातिशक्तिप्रगीतीः।
यस्माद्देही जगति लभते नो विना भोजनेन
तस्माद् दानं स्युरिह ददता ताः समस्ताः प्रशस्ताः॥ ४८१॥

अर्थ—जो पुरुष इस संसार में आहार दान देता है-अतिथियों को आहार करा कर उनकी क्षुधा दूर करता है, वह पुरुष नीति, लक्ष्मी विद्या, बुद्धि, धैर्य, तेज, भक्ति, प्रतीति, प्रीति, ज्ञाति, (ज्ञान) स्मृति, रति, यति, (नियमन करने की शक्ति) कीर्ति और शक्ति आदि समस्त वस्तुओं को देता है, क्योंकि ये नीति आदि समस्त बातें जब ही मनुष्य में आती हैं जब कि उसका उदर भरा रहता है, क्षुधा से पीड़ित नहीं होता और भूख रहने पर ये कोई भी नहीं रहतीं। इसलिये अवश्य आहार दान देना चाहिये॥ ४८१॥

दर्पोद्रेकव्यसनमथनक्रोधयुद्धप्रबाधा
पापारम्भक्षतिहतधियां जायते यन्निमित्तम्।
यत्संगृह्य श्रयति विषयान् दुःखितं यत्स्वयं स्याद्
यद् दुःखाढ्यं प्रभवति न तच्छ्लाघ्यतेऽत्र प्रदेयम्॥ ४८२॥

अर्थ—जिस पदार्थ के संबंध से पाप और आरंभ रहित मुनियों को घमंड हो जाये, दुःख की उत्पत्ति हो जाये, काम की बाधा होने लगे, क्रोध हो निकले, लडाई झगड़े की बाधा खड़ी हो जाये, इंद्रियों के विषय-सेवन की ओर प्रवृत्ति बढ़ जाये और जो स्वयं दुःखित हो ऐसे दुःख-परिपूर्ण पदार्थ को मुनियों के लिये कभी न देना चाहिये॥ ४८२॥

साधू रत्नत्रितयनिरतो जायते निर्जिताक्षो
धर्मं धत्ते व्यपगतमलं सर्वकल्याणमूलम्।
रागद्वेषप्रभृतिमथनं यद् गृहीत्वा विधत्ते
तद् दातव्यं भवति विदुषा देयमिष्टं तदेव॥ ४८३॥

अर्थ—मुनि लोग जिस पदार्थ के संबन्ध से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में निरत हो जायें, इन्द्रियों को जीतने में सबल बने रहें, समस्त कल्याणों के प्रधान कारण निर्दोष धर्म में मन लगाये रहें, रागद्वेष आदि दोषों का संहार कर निर्दोष हो जायें उस पदार्थ को उन्हें देना चाहिये, क्योंकि उसी को देने से लाभ हो सकता है और वही उनका अभीष्ट है।

भावार्थ—जो पदार्थ आत्मा के अथवा मुनिधर्म के हितकारी हों वे तो मुनियों के लिये देना चाहिये और जो हितदायक न हों, उलटा बिगाड़ करने वाले हों वे न देना चाहिये॥ ४८३॥

धर्मध्यानव्रतसमितिभृत्संयतश्चारुपात्रं
व्यावृत्तात्मा त्रसहननतः श्रावको मध्यमं तु।
सम्यग्दृष्टिर्व्रतविरहितः श्रावकः स्याज्जघन्य-
मेवं त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः श्रुतज्ञाः॥ ४८४॥

अर्थ—जिनेंद्र सर्वज्ञने दान देने के योग्य-जिन्हें दान देने से पुण्य की प्राप्ति होनी है, ऐसे तीन पात्र बतलाये हैं—प्रथम, सबसे उत्कृष्ट पात्र तो धर्म ध्यान में लीन व्रत समिति को पालने वाले परिग्रह रहित दिगंबर मुनि हैं, दूसरे मध्यम पात्र दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय आदि त्रस जीवों की हिंसा से विरत अहिंसा आदि अणुव्रतों को पालने वाले सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं और तीसरे जघन्य पात्र व्रतरहित अव्रती सम्यग्दृष्टि मनुष्य कहे हैं। बस! इन्हीं तीन तरह के मनुष्यों को दान देने से वास्तविक यथार्थ दान के देने का फल प्राप्त होता है, इसलिये इन्हीं को दान देना सर्वोत्तम है॥ ४८४॥

यो जीवानां जनकसदृशः सत्यवाग्दत्तभोजी
सप्रेमस्त्रीनयनविशिखाभिन्नचित्तः स्थिरात्मा।
द्वेधा ग्रन्थादुपरतमनाः सर्वथा निर्जिताक्षो
दातुं पात्रं व्रतपतिममुं वर्यमाहुर्जिनेन्द्राः॥ ४८५॥

अर्थ—जो संसार के प्राणि मात्र पर पिता का सा-प्रेम रखता है-जिस प्रकार पिता पुत्र को सब तरह से सुखी रखना चाहता है और किसी भी तरह से उन्हें दुःखी नहीं करता, सर्वदा सत्य वचन बोलता है, दिये हुए भोजन को ग्रहण करता है-क्षुधा के अधिक वेग होने पर भी जो कभी किसी से न तो याचना करता है और न स्वयं भोजन बनाता है, प्रेम पूर्वक फेंके गये स्त्रियों के कटाक्षों द्वारा जो काम के बाणों से घायल नहीं होता—काम-बाधा के कारणों के मौजूद होने पर भी जिसके चित्त में काम-बाधा उपस्थित नहीं होती, अंतरंग रागद्वेष आदि और बहिरंग धन-धान्य आदि दोनों प्रकार के

परिग्रहों से सर्वथा हित होता है और जो इंद्रियों के फंदों में नहीं फंसता उस श्रेष्ठ मुनियों के अधिपति मुनि को सर्वोत्तम पात्र समझना चाहिये।

भावार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पंच महाव्रतों को निर्दोष पालने वाले मुनि को सबसे उत्तम पात्र समझना चाहिये॥ ४८५॥

यद्वत्तोयं निपतति घनादेकरूपं रसेन
प्राप्याधारं सगुणमगुणं याति नानाविधत्वम्।
तद्वद्दानं सफलमफलं पात्रमप्येति मत्वा
देयं दानं शमयमभृतां संयतानां यतीनाम्॥४८६॥

अर्थ—जिस प्रकार एक मेघ का जल आधार के भेद से नाना तरह का हो जाता है, उसी प्रकार गुण सहित और गुण रहित पात्र के भेद से दान भी सफल—फल सहित और विफल-फल रहित या कुफल-खोटे फल सहित हो जाता है, इसलिये दाताओं को चाहिये कि वे गुण-संयम-सहित यतियों को दान दें।

भावार्थ—यह बात देखने में आती है कि एक मेघ की बूँद यदि सीध में पड़ती है तो वह मोती मुक्ता हो जाती है, यदि वही बांस में पड़ती है तो वंश-लोचन हो जाती है और वही यदि नीवं में पड़ती है तो कड़वी बन जाती है, उसी प्रकार शास्त्र आदि का दान भी यदि सुपात्र को दिया जाता है तो वह उत्तम भोग-भूमि आदि श्रेष्ठ फल को देता है और वही यदि कुपात्र में-मिथ्यादृष्टि वाले आदि को दिया जाता है तो कुभोग भूमि आदि कुफल को प्रदान करता है अथवा फल रहित हो जाता है॥ ४८६॥

यद्वत्क्षिप्तं गलति सकलं छिद्रयुक्ते घटेम्भ-
स्तिक्तालाबूनिहितमहितं जायते दुग्धमुद्धम्।
आमपात्रे रचयति भिदां तस्य नाशं च याति
तद्वद् दत्तं विगततपसे केवलं ध्वंसमेति॥ ४८७॥

अर्थ—जिस प्रकार छेद सहित फूटे घड़े में डाला गया पानी निकल कर समस्त धरती पर पड़ जाता है अथवा तूमड़ी में रखा गया दूध कड़वा अहित कर प्राणनाशक हो जाता है और कच्चे मिट्टी के पात्र में रखा गया स्वयं नष्ट होकर उस (पात्र) को भी नष्ट कर देता है उसी प्रकार तपरहित मनुष्य के लिये दिया गया दान भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार छिद्र सहित घड़े, तूमड़ी और कच्चे कसोरे में रखा गया दूध फल दायक-पीने योग्य-पुष्टि को करने वाला नहीं होता उसी प्रकार व्रत रहित पात्र को दिया गया दान भी सफल—फल देने वाला नहीं होता॥ ४८७॥

शश्वच्छीलव्रतविरहिताः क्रोधलोभादिवन्तो
नानारम्भप्रहितमनसो ये मदग्रन्थशक्ताः।
ते दातारं कथमसुखतो रक्षितुं सन्ति शक्ता
नावा लोहं न हि जलनिधेस्तार्यते लोहमय्या॥ ४८८॥

अर्थ—जिस प्रकार लोहे की बनी हुई नाव से लोहा और सवार समुद्र पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार सर्वदा शील व्रतों से रहित, क्रोध, लोभ आदि दोषों से सहित, नाना प्रकार के परिग्रहों में अनुरक्त, मिथ्या शास्त्रों के प्रेमी लोग भी दाता को दुःख से नहीं बचा सकते।

भावार्थ—एक तो लोहे से भरी हुई नाव वैसे ही बोझल होती है, उसी प्रकार समुद्र से पार करना कठिन है और फिर वह नाव भी लोह की ही बनी हुई हो तो उसका समुद्र पार हो तीर पर लगना और भी कठिन हो जाता है अथवा असंभव ही होता है। उसी प्रकार एक तो व्रत रहित मनुष्य स्वयं ही संसार से तरने वाले नहीं होते और फिर यदि वे पांचों पापों में, क्रोध आदि दोषों में लगे हुए होकर दूसरों को तारना चाहें तो कैसे तार सकते हैं, इसलिये मनुष्यों को उन्हें सुख देने वाला समझ कभी भी दान नहीं देना चाहिये॥ ४८८॥

क्षेत्रद्रव्यप्रकृतिसमयान् वीक्ष्य बीजं यथोप्तं
दत्ते शस्यं विपुलममलं चारुसंस्कारयोगात्।
दत्तं पात्रे गुणवति तथा दानमुक्तं फलाय
सामग्रीतो भवति हि जने सर्वकार्यप्रसिद्धिः॥ ४८९॥

अर्थ—अनुकूल-द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि को देखकर बोया गया बीज जिस प्रकार कर्षण (जोतना) आदि श्रेष्ठ संस्कारों के योग से उत्तम और अधिक फल देने वाला होता है, उसी प्रकार समय आदि के अनुसार गुणी दाता में दिया दान ही उत्तम फल प्रदान करता हैं, क्योंकि संसार में जो कुछ भी लोगों के कार्य सिद्ध होते हैं, वे सब योग्य सामग्री के मिलने पर ही होते हैं, बिना उसके मिले कुछ भी नहीं होता, इसलिये मनुष्यों को देश काल के अनुकूल श्रेष्ठ पात्र को दान देना योग्य है॥ ४८९॥

नानादुःखव्यसननिपुणान्नाशिनोऽतृप्तिहेतून्
कर्मारातिप्रचयनपरांस्तत्त्वतोऽवैत्य भोगान्।
मुक्त्वा काङ्क्षां विषयविषयां कर्मनिर्नाशनेच्छो
दद्याद् दानंद प्रगुणमनसा संयतायापि विद्वान्॥ ४९०॥

अर्थ—सांसारिक विषय-भोग नाना दुःखों को देने में निपुण रहते हैं, क्षण विनाशक होते हैं और कर्मरूपी शत्रुओं को जोड़ने-लाने में सहायता करते हैं, इसलिये

दान देने के अभिलाषी मनुष्य को चाहिये कि वे इन विषयों की इच्छा को छोड़कर मुक्ति पाने की इच्छा से गुणों का सत्कार करते हुए दान दें।

भावार्थ—बिना किसी सांसारिक विषय-वासना की इच्छा से संयमी के लिये दान दिया जाता है, वह तो अपना योग्य फल प्रदान कर देता है और जो निदान पूर्वक इंद्रिय-विषयों को प्राप्त करने की इच्छा से दिया जाता है, वह उतना ही अल्प फल देकर रह जाता है॥ ४९०॥

यस्मै गत्वा विषयमपरं दीयते पुण्यवद्भिः
पात्रे तस्मिन् गृहमुपगते संयमाधारभूते।
नो यो मूढो वितरति धने विद्यमानेप्यनल्पे
तेनात्मात्र स्वयमपधिया वञ्चितो मानवेन॥ ४९१॥

अर्थ—जो मुनि श्रेष्ठ संयम के पालक हैं-व्रती महात्मा हैं, उनके लिये जब अन्य नगर या देश में जाकर भी दान दिया जाता है, तब वे महात्मा यदि अपने घर पर ही आ जायें तो उनको तो अवश्य ही दान देना उचित है, इसलिये जो मनुष्य विपुल धन के रहने पर भी स्वयं प्राप्त हुए अतिथि को दान नहीं देते वे मूढ हैं, उन कुबुद्धियों ने अपनी आत्मा को अपने आप ठगा है॥ ४९१॥

श्रुत्वा दानं कथितमपरैर्दीयमानं परेण
श्रद्धां धत्ते व्रजति च परां तुष्टिमुत्कृष्टबुद्धिः।
दृष्ट्वा दानं जनयति मुदं मध्यमो दीयमानं
दृष्ट्वा श्रुत्वा भजति मनुजो नानुरागं जघन्यः॥ ४९२॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्कृष्ट बुद्धि के धारक हैं वे तो दूसरों के द्वारा दिये गये दान को सुनकर भी आनन्द मनाते हैं और दाता-गृहीता दोनों में श्रद्धा-भक्ति करते हैं और जो मध्यम बुद्धि के धारक हैं वे दूसरों के द्वारा दिये गये दान को देखकर आनंद और हर्ष मनाते हैं, परंतु जो जघन्य बुद्धि के धारक हैं वे दान को देखकर सुनकर भी आनंद नहीं मानते॥ ४९२॥

दीर्घायुष्कः शशिसितयशोव्याप्तदिक्चक्रवालः
सद्विद्याश्रीकुलबलघनप्रीतिकीर्तिप्रतापः।
शूरो धीरः स्थिरतरमना निर्भयश्चारुरूप-
स्त्यागी भोगी भवति भविनां देह्यभीतिपदायी॥ ४९३॥

अर्थ—जो मनुष्य इस संसार में जीवों को अभय दान देते हैं, जीवों की रक्षा करते हैं वे चिरंजीवी दीर्घायु होते हैं, उनका चंद्रमा की किरणों के समान शुभ्र यश

समस्त दिशाओं में फैल जाता है, उनके यहां सद्विद्या, लक्ष्मी, कुल, बल, धन, प्रीति, कीर्ति आदि समस्त हितकर पदार्थ निवास करने लगते हैं और वे धीर, वीर, स्थिरचित्त, भयरहित, रूपवान् और भोगी हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यों को जीवों की रक्षा अवश्य ही करनी चाहिये॥ ४३९॥

कर्मारण्यं दहति शिखिवन्मातृवत्पाति दुःखात्
सम्यग्गीतिं वदति गुरुवत्स्वामिवद्यद्विभर्ति।
तत्त्वातत्त्वप्रकटनपटुः स्पष्टमाप्नोति पूतं
तत्संज्ञानं विगलितमलं ज्ञानदानेन मर्त्यः॥ ४९४॥

अर्थ—जो मनुष्य सच्चे ज्ञान का दान देते हैं, पढ़ाते, लिखाते और पाठशाला आदि खुलवाते हैं वे इस निर्मल सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिसके कारण अग्नि से वन के समान समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, माता के समान समस्त दुःखों से रक्षा होती है, गुरु के समान समस्त नीति मालूम पड़ती है, स्वामी के समान पालन होता है और स्पष्ट तत्त्व (सच्चे पदार्थ) अतत्त्व (झूठे पदार्थ) जाने जाते हैं, इसलिये मनुष्यों को निर्दोष ज्ञान का अवश्य ही दान देना चाहिये॥ ४९४॥

दाता भोक्ता बहुधनयुतः सर्वसत्त्वानुकम्पी
सत्सौभाग्यो मधुरवचनः कामरूपातिशायी।
शश्वद्भक्त्या बुधजनशतैः सेवनीयाङ्घ्रियुग्मो
मर्त्यः प्राज्ञो व्यपगतमदो जायतेऽन्नस्य दानात्॥ ४९५॥

अर्थ—अन्न-आहार का दान देने से मनुष्य दाता, भोक्ता, धनाढ्य, सदय, सौभाग्यवान्, मधुरवक्ता, अतिसुन्दर, सर्वदा विद्वानों द्वारा सेवनीय, उत्कृष्ट बुद्धि का धारक और निर्मद होता है इसलिये आहार-दान देना आवश्यक है॥ ४९५॥

रोगैर्वातप्रभृतिजनितैर्वह्निभिर्वाम्बुमग्नः
सर्वांगीणव्यथनपटुभिर्बाधितुं नो स शक्यः।
आजन्मान्तः परमसुखिनां जायते चौषधानां
दाता यो निर्भरकुलवपुः स्थानकान्तिप्रतापः॥ ४९६॥

अर्थ—जो लोग औषधालय आदि खुलवाते हैं, वे जन्मभर निरोग रहने से सुखी रहते हैं। उनको जिस प्रकार जल में बैठे हुओं को अग्नि नहीं सता सकती, उसी प्रकार समस्त अंगों को बाधा देने वाले वात, पित्त और कफजन्य तीक्ष्ण रोग भी नहीं सता सकते और इसके सिवा उनके कुल, बल, स्थान, कांति आदि अनेक गुण भी हो जाते हैं, इसलिये मनुष्य को औषध दान देना परमावश्यक है॥ ४९६॥

दत्त्वा दानं जिनमतरुचिः कर्मनिर्नाशनाय
भुक्त्वा भोगांस्त्रिदशवसतौ दिव्यनारीसनाथः।
मर्त्यावासे वरकुलवपुर्जैनधर्मं विधाय
हत्त्वा कर्म स्थिरतररिपुं मुक्तिसौख्यं प्रयाति॥ ४९७॥

अर्थ—इस प्रकार कर्मों का नाश करने के लिये उपर्युक्त चारों दानों को देने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष स्वर्गों के उत्तम भोग को भोगता है, दिव्य नारियों का संग करता है और वहां से चलकर श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हो कर जिन धर्म का सेवन कर परिश्रमसाध्य कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करता हुआ मुक्ति-सुख का अनुभव करने लगता है।

भावार्थ—दान करने से पंरपरा मोक्ष सुख मिलता है, इसलिये उसे अवश्य करना चाहिये॥ ४९७॥

॥ २० ॥

मद्यनिषेधनिरूपण

भवति मद्यवशेन मनोभ्रमो भजति कर्म मनोभ्रमतो यतः।
व्रजति कर्मवशेन च दुर्गतिं त्यजत मद्यमतस्त्रिविधेन भोः॥ ४९८॥

अर्थ—मदिरा—मादक पदार्थ को पीने से चित्त विचार-शून्य—विवेक-रहित हो जाता है। विवेक-रहित होने से अशुभ कर्मों का बंध होता है और अशुभ कर्म का बंध होने से दुर्गति—नरक या तिर्यग् गति मिलती है, इसलिये मन, वचन, काय तीनों से मद्य का त्याग करना चाहिये।

भावार्थ—मदिरा परंपरा से दुर्गतियों के दुःख का कारण है और साक्षात् भी दुःखदायी, खोटे कर्मों को करने में प्रेरणा करती है, इसलिये इसकी न तो मन से इच्छा करनी चाहिये न वचन से उपदेश देना उचित है और न इसका शरीर से पीना ही योग्य है॥ ४९८॥

हसति नृत्यति गायति वल्गति भ्रमति धावति मूर्छति शोचते।
पतति रोदिति जल्पति गद्गदं धमति धाम्यति मद्यमदातुरः॥ ४९९॥

अर्थ—जो लोग मदिरा पीते हैं, मादक पदार्थों को सेवन करते हैं, वे कभी तो हंसते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी कूदते हैं, कभी घूमते हैं, कभी दौड़ते हैं, कभी मुर्च्छित हो जाते हैं, कभी शोक करते हैं, कभी पृथ्वी पर गिरते हैं, कभी रोते हैं, कभी गद्गद बोलते हैं और कभी फूँकते, आदि अण्डबण्ड क्रियायें करते हैं, इसलिये मदिरा का सेवन करना सर्वथा अनुचित है, इसका तो त्याग ही होना चाहिये॥ ४९९॥

स्वसृसुताजननीरपि मानवो व्रजति सेवितुमस्तमतिर्यतः।
सगुणलोकविनिन्दितमद्यतः किमपरं खलु कष्टतरं ततः॥ ५००॥

अर्थ—संसार में जितना हेय और निंदनीय पदार्थ मदिरा है, उससे अधिक और कौन हो सकता है? क्योंकि उसके पीने से मत्त हुआ पुरुष न तो अपनी बहिन को सेवन करने से छोड़ता है और न माता, पुत्री आदि संबंधियों को ही सेवन करते हुए लजाता है, वह सबको अपनी स्त्री ही समझता है और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करने का प्रयत्न करता है॥ ५००॥

गलितवस्त्रमधस्तनमीक्ष्यते
सकलमन्यतया श्लथते तनुः।
स्खलति पादयुगं पथि गच्छतः
किमु न मद्यवशाच्छ्रयते जनः॥ ५०१॥

अर्थ—मदिरा को पीने से मत्त वाले हुए पुरुष की धोती उतरकर नीचे गिर जाती है, उसके अधस्तन भाग को सब लोग देखते हैं, समस्त शरीर शिथिल होने लगता है, मार्ग में चलते हुए उसके पैर स्खलित-डगमगाने लगते हैं और भी निंदनीय क्रियायें जिन का नाम लेना कठिन है, वे सब ही उससे होने लगती हैं॥ ५०१॥

असुभृतां वधमाचरति क्षणाद्वदति वाक्यमसह्यमसूनृतम्।
परकलत्रधनान्यपि वाञ्छति न कुरुते किमु मद्यमदाकुलः॥ ५०२॥

अर्थ—मद्य के मद से व्याकुल हुआ पुरुष पुरुषों को मार डालता है, उनकी हत्या करने से उत्पन्न होने वाले पाप को नहीं विचार सकता, झूठ और असह्य तीखे वचनों को बोलता है-बिना ही विचारे खोटे-खरे जैसे मन में आये, वैसे ही वाक्य मुँह से निकालने लगता है और दूसरों के धन, धान्य, स्त्री आदि हेय पदार्थों को भी चाहने लगता है—उनको छीन लेने का भी प्रयत्न करता है॥ ५०२॥

व्यसनमेति जनैः परिभूयते गदमुपैति न सत्कृतिमश्नुते।
भजति नीचजनं व्रजति क्लमं किमिह कष्टमियर्ति न मद्यपः॥ ५०३॥

अर्थ—जो लोग मद्य पीते हैं, उन्हें नाना दुःख भोगने पड़ते हैं, लोगों द्वारा उनका तिरस्कार होता है, अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, कोई श्रेष्ठ कार्य उनसे करते नहीं बनता, नीच जनों की संगति में बैठने लगते हैं, क्लांति आने लगती है और भी उन्हें समस्त क्लेश भोगने पड़ते हैं॥ ५०३॥

प्रियतमामिव पश्यति मातरं प्रियतमां जननीमिव मन्यते।
प्रचुरमद्यविमोहितमानसस्तदिह नास्ति न यत्कुरुते जनः॥ ५०४॥

अर्थ—मदिरा को पीने से विमुग्ध हुए लोगों का चरित्र बड़ा ही घृणास्पद और लज्जाजनक होता है, वे माता को तो प्रियतमा विवाही हुई स्त्री के समान समझ सेवने का प्रयत्न करते हैं और प्रियतमा को माता समझ पूज्य दृष्टि से देखते हैं, इसलिये वे जो कुछ कर डालें वही थोड़ा है॥ ५०४॥

अहह कर्मकरीयति भूपतिं नरपतीयति कर्मकरं नरः।
जलनिधीयति कूपमपांनिधिं गतजलीयति मद्यमदाकुलः॥ ५०५॥

अर्थ—अहह! बड़े ही आश्चर्य और खेद की बात है कि जो लोग मदिरा पीते हैं वे नौकर को तो राजा समझ आदर करते हैं, राजा को नौकर समझ घृणा करते हैं, कुएँ को समुद्र मान कर उससे डरते हैं और समुद्र को स्थल-जल रहित प्रदेश मान कर उसके पास जाते हैं जिससे वे नाना दुःखों का सामना करते हैं॥ ५०५॥

निपतितो वदते धरणीतले वमति सर्वजनेन विनिन्द्यते।
श्वशिशुभिर्वदने परिचुम्बिते बत सुरासुरतस्य च मूत्र्यते॥ ५०६॥

अर्थ—मद्य सेवी लोग जहाँ-तहाँ भूमि पर गिर पड़ते हैं, जो मन में आया वही अंडबंड बकने लगते हैं, चाहें जहाँ कै (उल्टी-वमी) कर देते हैं, सब लोग उनकी निंदा करते हैं अधिक कहाँ तक कहें वे कुत्तों द्वारा चूमें और मुंह में मूते तक जाते हैं॥ ५०६॥

भवति जन्तुगणो मदिरारसे तनुतनुर्विविधो रसकायिकः।
पिबति तं मदिरारसलालसा श्रयति दुःखममुत्र ततो जनः॥ ५०७॥

अर्थ—मदिरा के रस में उसी के शरीर वाले सूक्ष्म-सूक्ष्म अनन्त जीव रहते हैं और जो लोग उसे पीते हैं वे उसके उतने जीवों का घात करते हैं उसलिये मदिरा के सेवकों को इहलोक और परलोक दोनों लोकों में असह्य दुःख उठाने पड़ते हैं॥ ५०७॥

व्यसनमेति करोति धनक्षयं मदमुपैति न वेत्ति हिताहितम्।
क्रममतीत्य तनोति विचेष्टितं भजति मद्यवशेन न कां क्रियाम्॥ ५०८॥

अर्थ—मदिरा के फंदे में पड़ जाने से-उसका सेवन करने से नाना दुःख होते हैं, धन का नाश होता है, उन्मत्तता आती है, हित-अहित का विवेक नहीं रहता, कुलक्रम का उलंघन कर कार्य होने लगता है और भी कहां तक कहें संसार में जितनी भली क्रियायें हैं वे कुछ भी नहीं होतीं सब बुरी ही बुरी क्रियायें होती हैं॥ ५०८॥

रटति रुष्यति तुष्यति वेपते पतति मुह्यति दीव्यति खिद्यते।
नमति हन्ति जनं ग्रहिलो यथा यदपि किञ्चन जल्पति मद्यतः॥ ५०९॥

अर्थ—जिस प्रकार पिशाचग्रस्त पुरुष कभी चिल्लाता है, कभी रूठता है, कभी संतुष्ट होता है, कभी कांपता है, कभी गिरता है, कभी बेहोश होता है, कभी खेलता है, कभी खिन्न होता है, कभी नमता है, कभी मारता है, और कभी बुरबुराता है, उसी प्रकार मदिरा को पीने से मत्त हुआ पुरुष भी चिल्लाना आदि क्रियायें करता है॥ ५०९॥

व्रततपोयमसंयमनाशिनीं निखिलदोषकरीं मदिरां पिबन्।
वदति धर्मवतो गतचेतनः किमु परं पुरुषस्य विडम्बनम्॥ ५१०॥

अर्थ—संसार में पुरुषों की इससे अधिक और विडंबना क्या हो सकती है कि यह व्रत, तप और संयम को सर्वथा नष्ट करने वाली समस्त दोषों की खानि स्वरूप मदिरा को तो पीता है और धर्म की दुहाई देता है अर्थात् मदिरा साक्षात् तो व्रत, तप, संयम आदि धर्म-क्रियाओं की नाशक है तो भी फिर जो लोग इसका सेवन करना धर्म कहते हैं शास्त्रों से पीना युक्त बतलाते हैं, उनका बड़ा ही साहस है॥ ५१०॥

श्रयति पापमपाकुरुते वृषं त्यजति सद्गुणमन्यमुपार्जति।
व्रजति दुर्गतिमस्यति सद्गतिं किमथवा कुरुते न सुरारतः॥ ५११॥

अर्थ—मदिरा के पीने से लोग पाप-कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं, धर्म-कार्य छोड़ बैठते हैं, श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण नहीं करते, दोषों का उपार्जन करने लगते हैं, दुर्गति को प्राप्त करते हैं और सुगति से हाथ धो बैठते हैं॥ ५११॥

नरकसंगमनं सुखनाशनं व्रजति यः परिपीय सुरारसम्।
बत विदार्य मुखं परिपाय्यते प्रचुरदुःखमयो ध्रुवमत्र सः॥ ५१२॥

अर्थ—जो लोग इस जन्म में मदिरा पीते हैं, यदि नरक में जाते हैं, मरकर नारकीय होते हैं तो वहाँ उन्हें उनका मुँह फाड़ फाड़ कर गरम-गरम लोहा पिलाया जाता है, जिससे उन्हें तीव्र दुःख का सामना करना पड़ता है॥ ५१२॥

पिबति यो मदिरामथ लोलुपः श्रयति दुर्गतिदुःखमसौ जनः।
इति विचिन्त्य महामतयस्त्रिधा परिहरन्ति सदा मदिरारसम्॥ ५१३॥

अर्थ—जो लोग मदिरा-सेवन करते हैं, वे दुर्गतियों के दुःख भोगते हैं, ऐसा विचार कर जो विद्वान् लोग हैं, वे मन, वचन, काय—तीनों से सर्वदा के लिये मदिरा का सवेन करना छोड़ देते हैं।

भावार्थ—मद्यपायी पुरुष नरक और तिर्यग् इन दुःखदायी गतियों में मरकर उत्पन्न होते हैं और यदि वे कदाचित् मनुष्य भी होते हैं तो नीच, हीन, दुःखी, दरिद्री होते हैं, इसलिये अपना हित चाहने वालों को कभी भी मद्य का सेवन नहीं करना चाहिये॥ ५१३॥

मननदृष्टिचरित्रतपोगुणं दहति वह्निरिवेन्धनमूर्जितम्।
यदिह मद्यमपाकृतमुत्तमैर्न परमस्ति ततो दुरितं महत्॥ ५१४॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि ईंधन के ढेर के ढेर जला डालती है, उसी प्रकार जो पीया गया मद्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्र रूपी गुणों को बात ही बात में भस्म कर डालता है, उसका सेवन करना बड़ा अहित कर है, उससे बड़ा इस संसार में कोई भी पाप नहीं है, इसलिये जो उत्तम पुरुष हैं, वे इसका सर्वथा त्याग कर देते हैं॥ ५१४॥

त्यजति शौचमियर्ति विनिन्द्यतां श्रयति दोषमपाकुरुते गुणम्।
भजति गर्वमपास्यति सद्गुणं हृतमना मदिरारसलालितः॥ ५१५॥

अर्थ—मद्य सेवी की पवित्रता कूँच कर जाती है, अपवित्रता आकर आश्रय लेती है, गुण नष्ट हो जाते हैं, दोष आ आकर पल्ला पकड़ लेते हैं, घमण्डीपना आ जाता है, नम्रता दूर भाग जाती है और चित्त हिताहित विचार-रहित हो जाता है, इसलिये इसका न सेवना ही उत्तम है॥ ५१५॥

प्रचुरदोषकरीमिह वारुणीं पिबति यः परिगृह्य धनेन ताम्।
असुहरं विषमुग्रमसौ स्फुटं पिबति मूढमतिर्जननिन्दितम्॥ ५१६॥

अर्थ—इस प्रकार असह्य नाना दुःखों को देने वाली इस मदिरा को जो पुरुष पैसे खर्च करके भी पीते हैं वे अपने प्राणों का हरण करने वाले उग्र विष को खरीद कर भक्षण करते हैं, उनके समान इस संसार में कोई भी मूर्ख नहीं है, वे बड़े ही विचार-शून्य हैं॥ ५१६॥

तदिह दूषणमङ्गिगणस्य नो विषमरिर्भुजगो धरणीपतिः।
यदसुखं व्यसनभ्रमकारणं वितनुते मदिरा गुणिनिन्दिता॥ ५१७॥

अर्थ—प्राणियों का जितना अहित शत्रु, सर्प और क्रुद्ध नृप नहीं कर सकते, जितना कि सेवन करने से मद्य करता है, क्योंकि शत्रु आदि तो अधिक से अधिक प्राण लेकर इस जन्म में ही दुःख पहुँचा सकते हैं, परंतु मदिरा तो दूसरे तीसरे आदि जन्मों में भी तकलीफ देती है॥ ५१७॥

मतिधृतिद्युतिकीर्तिकृपाङ्गनाः परिहरन्ति रुषेव जनार्चितम्।
नरमवेक्ष्य सुराङ्गनयाश्रितं न हि परां सहते वनिताङ्गनाम्॥ ५१८॥

अर्थ—सुरारूपी स्त्री के द्वारा सेवित पुरुष को बुद्धि, धृति, कांति, कीर्ति कृपारूपी स्त्रियाँ छोड़कर चली जाती हैं-वे उसके पास रहना अयोग्य समझती हैं, क्योंकि स्त्रियां अपनी सपत्नी (सौत) को नहीं देख सकतीं।

भावार्थ—जो मदिरा पीता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, धैर्य नष्ट हो जाता है, कांति कूंच कर जाती है-शरीर फीका-निस्तेज पड़ जाता है, कीर्ति की जगह बुराई फैल जाती है और दया के स्थान में निर्दयता अपना डेरा आ जमा लेती है॥ ५१८॥

कलहमातनुते मदिरावशस्तमिह येन निरस्यति जीवितम्।
वृषमपास्यति सञ्चिनुते मलं धनमपैति जनै रपिभूयते॥ ५१९॥

अर्थ—मदिरा के वशीभूत हो यह जीव धर्म को छोड़ बैठता है, पाप करने में लग जाता है, धन खो देता है, मनुष्य से तिरस्कृत होता है और ऐसा लड़ाई-झगड़ा ठान बैठता है-जिसके कारण प्राण तक दे देता है॥ ५१९॥

स्वजनमन्यजनीयति मूढधीः परजनं स्वजनीयति मद्यपः।
किमथवा बहुना कथितेन भो द्वितयलोकविनाशकरी सुरा॥ ५२०॥

अर्थ—मदिरा के मद से निर्बुद्धि हुआ यह जीव अपने कुटुंबियों को तो पर समझता है और दूसरे लोगों को अपना कुटुंबी समझता है। अथवा बहुत कहने से क्या? इतना ही कह देना बस है कि जो पुरुष मदिरा का सेवन करता है, वह अपने इस लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ता है, वह दोनों लोकों में दुःख पाता है॥ ५२०॥

भवति मद्यवशेन मनोभवः सकलदोषकरोऽत्र शरीरिणः।
भजति तेन विकारमनेकधा गुणयुतेन सुरा परिवर्ज्यते॥ ५२१॥

अर्थ—मद्य को पीने से काम की उत्पत्ति होती है, काम के होने से नाना प्रकार के कुत्सित-शारीरिक, मानसिक और वाचिक विचार उत्पन्न होने लगते हैं, इसलिये जो गुणी पुरुष हैं अथवा गुणी बनना चाहते हैं, वे मदिरा को सर्वथा छोड़ देते हैं॥ ५२१॥

प्रचुरदोषकरीं मदिरामिति द्वितयजन्मविबाधविचक्षणम्।
निखिलतत्त्वविवेचकमानसाः परिहरन्ति सदा गुणिनो जनाः॥५२२॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार से महान् दोषों की उत्पादिका और दोनों लोकों में दुःख प्रदान करने वाली मदिरा का, जो लोग विचार-रहित मूढ होते हैं, वे तो सेवन करते हैं और जो हित-अहित का विचार करने में चतुर हैं, अपना कल्याण करना चाहते हैं, वे सर्वथा सर्वदा के लिये इसका त्याग कर देते हैं॥ ५२२॥

॥ २१ ॥

मांसनिषेधनिरूपण

मांसाशनाज्जीवबधानुमोदस्ततो भवेत्पापमनन्तमुग्रम्।
ततो व्रजेद् दुर्गतिमुग्रदोषां मत्वेति मांसं परिवर्जनीयम्॥ ५२३॥

अर्थ—मांस को खाने से, जीवों को मारने की—हिंसा की अनुमोदना होती है, हिंसा की अनुमोदना होने से पाप का आगमन होता है, पाप के आने से दुर्गति—नरक तिर्यग् गति मिलती है। दुर्गति के मिलने से महान् दुःख भोगना पड़ता है, इसलिये मांस-भक्षण करना सर्वथा दुःखदायक है, ऐसा समझ कर कभी भी मांस नहीं खाना चाहिये॥ ५२३॥

तनूद्भवं मांसमदन्नमेध्यं कृम्यालयं साधुजनप्रनिन्द्य।
निस्त्रिंशचित्तो विकृष्टगन्धं शुनोऽविशेषं लभते कथं न॥ ५२४॥

अर्थ—जो लोग मांस का सेवन करते हैं उनमें और कुक्कुर-कुत्ते में कोई भी विशेषता नहीं मालूम पड़ती। वे लोग निश्चय ही कुत्ते के ही समान गर्ह्य और अस्पृश्य हैं, क्योंकि जिस प्रकार कुत्ता, प्राणियों के शरीर से उत्पन्न होने वाले अपवित्र, कृमियों के घर स्वरूप, दुर्गन्धयुक्त विष्ठा और मांस को खाने से अपवित्र और हेय समझा जाता है, उसी प्रकार मांस को खाने वाला निर्दयी पुरुष क्यों नहीं अपवित्र और हेय समझा जाय अर्थात् निश्चय से वह वैसा ही है॥ ५२४॥

मांसाशिनो नास्ति दयासुभाजां दयां विना नास्ति जनस्य पुण्यम्।
पुण्यं विना याति दुरन्तदुःखं संसारकान्तारमलभ्यपारम्॥ ५२५॥

अर्थ—मांस-भक्षियों को प्राणियों की दया नहीं होती, क्योंकि यदि वह ही होती तो क्या वे प्राणियों को मारने से उत्पन्न मांस को खाते, दया के न होने से उनको पुण्य का आगम नहीं होता और पुण्य के न आने से असह्य दुःख प्रदान करने वाले संसार रूपी भयंकर जंगल में उन्हें ठोकरें खानी पड़ती हैं-वे दुःख पाते-पाते ही भ्रमण करते-फिरते हैं और उन्हें उसका कभी भी अंत नहीं प्राप्त होता॥ ५२५॥

पलादिनो नास्ति जनस्य पापं वाचेति मांसाशिजनप्रभुत्वम्।
ततो बधास्तित्वमतोऽघमस्मान्निष्पापवादी नरकं प्रयाति॥ ५२६॥

अर्थ—जो लोग मांस खाने में पाप नहीं बताते—उसका भक्षण करने में कोई बुराई नहीं समझते, वे लोग भी निश्चय से नरक के असीम दुःख भोगते हैं, क्योंकि उनके द्वारा ऐसे वचन बोलने से लोगों की मांस खाने में प्रवृत्ति और आसक्ति होती है, मांस-सेवन में आसक्ति और प्रवृत्ति होने से जीवों की हिंसा होती है (क्योंकि वह उनके बिना मारे मिल नहीं सकता) जीवों की हिंसा होने से पाप होता है और पाप होने से निश्चय ही दुःख भोगना पड़ता है, इसलिये उसके सेवन करने का कभी भी उपदेश नहीं देना चाहिये॥ ५२६॥

षट्कोटिशुद्धं पलमश्नतो नो दोषेऽस्ति ये नष्टधियो वदन्ति।
नरादिमांसं प्रतिषिद्धमेतैः किं किं न षोढास्ति विशुद्धिरत्र॥ ५२७॥

अर्थ—जो लोग इस बात को कहते हैं कि षट्कोटि—छः बार पकाया हुआ मांस शुद्ध—पवित्र होता है उसके सेवन करने में कोई हानि या पाप नहीं। उनसे हमारा पूछना है कि यदि ऐसी ही बात है तो तुमने मनुष्य प्रभृति के मांस को भी क्यों नही भक्ष्य सेवनीय माना है, उसे छः बार पकाने पर भी क्यों अशुद्ध बतलाते हो, क्योंकि मांस-मांस सब एक समान होते हैं, सब ही प्रकार के मांस उत्पन्न करने में जीवों की हिंसा करनी पड़ती है, इसलिये मानो कि किसी भी प्रकार का मांस-भक्षण उत्तम नहीं—सब ही निंद्य और हेय हैं॥ ५२७॥

अश्नाति यो मांसमसौ विधत्ते बधानुमोदं त्रसदेहभाजाम्।
गृह्णाति रेफांसि ततस्तपस्वी तेभ्यो दुरन्तं भवमेति जन्तुः॥ ५२८॥

अर्थ—जो दीन पुरुष मांस खाता है, वह द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने की सलाह देता है—वह मांस-सेवन कर लोगों को बतलाता है कि तुम्हारे इस प्रकार के निंदनीय कार्य से भी हम सहमत हैं, तुम अवश्य पशु-पक्षियों को मारो, तुम्हारा प्रयत्न विफल न जायगा, उसे खरीदकर हम तुम्हारा उत्साह बढ़ायेंगे तुम्हारी सहायता करेंगे, इसलिये ऐसा जो करता है, उसे पाप-कर्म का बंध होता है और पाप-कर्म का बंध होने से असह्य दुःख भोगना पड़ता है॥ ५२८॥

आहारभोजी कुरुतेऽनुमोदं
नरो बधे स्थावरजन्मभाजाम्।
तस्यापि तस्माद् दुरितानुषङ्ग-
मित्याह यस्तं प्रतिवच्मि किञ्चित्॥ ५२९॥

अर्थ—संसार में बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो इस बात को कहते हैं कि—जो लोग मांस तो नहीं खाते, परन्तु अन्न आदि निरामिष पदार्थों के ही भोजी हैं, उन्हें भी पाप का बंध होता है—वे भी स्थावर जीवों की हिंसा से नहीं बच सकते, इसलिये उनके लिये अब हम यहां कुछ कहते हैं॥ ५२९॥

येऽन्नाशिनः स्थावरजन्तुघातान्मांसाशिनो ये त्रसजीवघातात्।
दोषस्तयोः स्यात्परमाणुमेर्वोर्यथान्तरं बुद्धिमतेति वेद्यम्॥ ५३०॥

अर्थ—भाइयो! जो लोग अन्न के भोजी हैं—शाक आदि मांस से भिन पदार्थों को खाने वाले हैं वे यद्यपि अवश्य ही स्थावर-वनस्पति आदि जन्तुओं का घात करने वाले हैं-उनके नाश और उत्पादन कराने में सहमत हैं तथापि जो लोग सर्वदा त्रस जीवों से सहित रहने वाले मांस को खाते हैं, उनसे उनमें परमाणु और सुमेरु के बराबर अन्तर है-अर्थात् जिस प्रकार परमाणु भी पुद्गल है और सुमेरु पर्वत भी पुद्गल है परंतु उन दोनों में बड़ा ही भारी छोटे और बड़े का अंतर है उसी प्रकार एकेंद्रिय जीव वनस्पति आदि की हिंसा करने की अनुमोदना करने में बड़ा ही भारी फर्क है, क्योंकि एकेंद्रिय-वनस्पति वृक्ष, वेल आदि मृत शरीर में तो मरने पर फिर जीव नहीं पड़ते वह ज्यों का त्यों ही शुष्क हो जाता है और द्वींद्रिय (लट आदि) त्रींद्रिय, (चींटी आदि) चतुरिंद्रिय (भौंरा मक्खी आदि) पंचेंद्रिय (गाय, भैंस, बकरी आदि) जीवों के मृत शरीर में सर्वदा जीव पड़ा करते हैं, वह कभी भी शुष्क नहीं होता, इसलिये एक बार इंद्रिय वाले जीवों की हिंसा करने में और बार-बार अनंत द्वींद्रिय आदि जीवों की हिंसा करने में कितना बड़ा अन्तर है य बुद्धिमानों की समझ में सहज ही आ सकता है॥ ५३०॥

अन्नाशने स्यात्परमाणुमात्रः प्रशक्यते शोधयितुं तपोभिः।
मांसाशने पर्वतराजमात्रो नो शक्यते शोधयितुं महत्त्वात्॥ ५३१॥

अर्थ—उपर्युक्त रीति से जब यह बात सिद्ध हो गई कि स्थावर जीव की हिंसा करने से अन्न खाने से अल्प पाप होता है और त्रस जीवों की हिंसा करने से मांस-भक्षण करने से बहुत ही होता है तो यह बात स्वयं सिद्ध हो गई की जो थोड़ा पाप है, वह तप करने से शीघ्र ही अल्प प्रयत्न से नष्ट हो जायेगा-उसे तप, व्रत द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर सकते हैं और जो महान् पाप है उसे बहुत तप द्वारा बड़े भारी प्रयत्न से भी जल्दी नष्ट नहीं कर सकते, वह कठिनता से बहुत दिनों में नष्ट होगा॥ ५३१॥

मांसं यथा देहभृतः शरीरं तथान्नमप्यङ्गिशरीरजातम्।
ततस्तयोर्दोषगुणौ समानावेतद्वचो युक्तिवियुक्तमत्र॥ ५३२॥

अर्थ—इसलिये लोगों का जो यह कहना था कि जिस प्रकार मांस प्राणियों के

शरीर का बनता है, उसी प्रकार अन्न भी उन्हीं के अंग का बनता है इसलिये दोनों में समान पाप या पुण्य है दोनों को ही खाने वाले समान दोष के भागी हैं, यह बात-युक्ति वियुक्त हेतु रहित है॥ ५३२॥

मांसं शरीरं भवतीह जन्तोर्जन्तोः शरीरं न तु मांसमेव।
यथा तमालो नियमेन वृक्षो वृक्षस्तमालो न तु सर्वथापि॥ ५३३॥

अर्थ—और भी जो यह बात कहते हैं कि जिस प्रकार द्वींद्रिय आदि त्रस जीवों का कलेवर मांस कहलाता है, उसी प्रकार एकेंद्रिय स्थावर जीवों का कलेवर भी मांस है, क्योंकि वह भी शरीर है उनके लिये कहना है-नहीं! यह कोई नियम नहीं है कि जीवों का जो-जो शरीर हो वही-वही मांस हो क्योंकि जिस प्रकार जो-जो तमाल होता है वह तो वृक्ष होता है और जो-जो वृक्ष होता है, वह-वह तमाल होता है और नहीं भी होता है—यह नियम है, उसी प्रकार मांस के साथ भी जो मांस होता है, वह-वह जो जीवों का अवश्य कलेवर होता है और जो-जो जीवों का कलेवर होता है वह-वह मांस होता है और नहीं भी होता है, इसलिये एकेंद्रिय स्थावर जीवों का कलेवर किसी तरह भी मांस नहीं कहला सकता॥ ५३३॥

रसोत्कटत्वेन करोति गृद्धिं मांसं यथान्नं न तथात्र जातु।
ज्ञात्वेति मांसं परिवर्ज्य साधुराहारमश्नातु विशोध्य पूतम्॥ ५३४॥

अर्थ—अथवा यदि तुम्हारा यही आग्रह हो और तुम इसी व्याप्ति को मानो कि जो प्राणियों का कलेवर होता है, वही-वही मांस होता है, इसलिये शाक अन्न आदि भी मांस ही हैं तो हमारा कहना है कि जिस प्रकार द्वींद्रिय आदि त्रस जीवों का मृत शरीर उत्कट रसवाला होता है—उसका भक्षण करने में अधिक लालसा—राग परिणाम होते हैं, उस प्रकार के राग परिणाम स्थावर जीवों के मृत-शरीर-अन्न के खाने में नहीं होते और जो राग परिणाम हैं, उन्हीं के अनुसार कर्मों में तीव्र या मंद-कम या ज्यादा शुभ-अशुभ फल देने की शक्ति पड़ती है, इसलिये जो पाप से डरने वाले हैं युक्तायुक्त का विचार कर सकते हैं उन्हें अन्न का शुद्ध आहार करना चाहिये॥ ५३४॥

करोति मांसं बलमिन्द्रियाणां ततोऽभिवृद्धिं मदनस्य तस्मात्।
करोत्ययुक्तिं प्रविचिन्त्य बुद्ध्या त्यजन्ति मांसं त्रिविधेन संतः॥ ५३५॥

अर्थ—अथवा यदि कोई महाशय इस कर्म-सिद्धांत की परोक्ष बात को अपनी स्थूल बुद्धि में न आने के कारण न मानें तो उनसे कहना है कि इस बात को यदि तुम नहीं मानते हो तो जाने दो। अच्छा! स्वानुभवसिद्ध इस बात को तो मानोगे कि मांस-त्रस जीवों का कलेवर, भक्षण करने से इंद्रियों में सबलता पैदा करता है, इंद्रियों में

सबलता होने से काम की वृद्धि होती है, काम की वृद्धि होने से मनुष्य अयुक्त कार्य करने लग जाता है, इसलिये मांस-सेवन करना सर्वथा अयुक्त है उसको मन, वचन, काय से अवश्य ही त्याग देना चाहिये॥ ५३५॥

गृद्धिं विना भक्षयतो न दोषो मांसं नरस्यान्नवदस्तदोषम्।
एवं वचः केचिदुदाहरन्ति युक्त्या विरुद्धं तदपीह लोके॥ ५३६॥

आहारवर्गे सुलभे विचित्रे विमुक्तपापे भुवि विद्यमाने।
प्रारम्भदुःखं विविधं प्रपोष्य चेदस्ति गृद्धिर्न किमत्ति मांसम्॥ ५३७॥

अर्थ—और जो लोग यह कहते हैं कि ''यह हमने माना कि अधिक राग-लोलुपता से खाया गया मांस पाप कर्म पैदा करता है, उसको खाने में अधिक लोलुपता होती है और अन्न को खाने में कम! तो लोलुपता करना न करना हमारे हाथ में है, हम यदि बिना लोलुपता के मांस खायें तब तो उसे खा सकते हैं, उसको खाने में कम या अन्न के बराबर ही पाप हो सकता है'' उनसे हमारा कहना है—नहीं! यह बात नहीं हो सकती क्योंकि यदि तुम्हारी या लोगों की प्रबल इच्छा मांस खाने की नहीं ही होती तो शुद्ध पाप रहित नाना तरह के अन्नों के संसार में सुलभता से प्राप्त होने पर भी महाकष्ट से प्राप्त होने वाले बहुत प्रयत्न साध्य मांस की क्यों खोज करते—उसको बड़े भारी कष्ट से भी इधर-उधर खोजकर क्यों लाते, इसलिये मालूम होता है कि-मांस खाने में अवश्य ही लोलुपता हो जाती है, लोलुपता न हो जाने से उसे कोई भी प्राप्त करने की इच्छा न करता॥ ५३६-५३७॥

वरं विषं भक्षितमुग्रदोषं यदेकवारं कुरुतेऽसुनाशम्।
मांसं महादुःखमनेकवारं ददाति जग्धं मनसापि पुंसाम्॥ ५३८॥

अर्थ—एक बार शीघ्रता से प्राणों का नाश करने वाले विष को खा लेना अच्छा परंतु बार-बार कई भवों में धीरे-धीरे प्राणों के नाश से भी अधिक अपरिमित असह्य दुःख देने वाले मांस का मन से भी भक्षण करना श्रेष्ठ नहीं, इसलिये इसका सेवन करना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है॥ ५३८॥

अश्नाति यः संस्कुरुते निहन्ति ददाति गृह्णात्यनुमन्यते च।
एते षडप्यत्र विनिन्दनीया भ्रमन्ति संसारवने निरन्तरम्॥ ५३९॥

अर्थ—जो लोग मांस को खाते हैं या उसे पकाते हैं या जीवों को मारकर उसे (मांस को) पैदा करते हैं, वितरण करते या बेचते हैं और या उसको खाने का अनुमोदन करते हैं, वे छः लोग इस संसार में समान पाप का उपार्जन करने वाले हैं, वे सब ही निंदनीय हैं और इस लोक तथा परलोक में वे असह्य दुःखों का सामना करते हैं॥ ५३९॥

चिरायुरारोग्यसुरूपकान्तिप्रीतिप्रतापप्रियवादिताद्याः।
गुणा विनिन्द्यस्य सतां नरस्य मांसाशिनः सन्ति परत्र नेमे॥ ५४०॥

अर्थ—मांस का भक्षण करने वाले लोगों को दूसरे जन्म में भी नाना दुःख सहने पड़ते हैं, इस जन्म की तो क्या बात! पर जन्म में भी बहुत दिन तक वे जीवित नहीं रहते, उन्हें आरोग्यता-निरोगपना नहीं होता, उनका रूप सुन्दर नहीं होता, उनके कांति-प्रताप नष्ट हो जाते हैं, प्रियवादिता आदि गुण कूच कर जाते हैं और सज्जनों में उनकी निंदा होती है॥ ५४०॥

विद्यादयासंयमसत्यशौचध्यानव्रतज्ञानदमक्षमाद्याः।
संसारनिस्तारनिमित्तभूताः पलाशिनः सन्ति गुणा न सर्वे॥ ५४१॥

अर्थ—जो लोग मांस-भक्षण करते हैं, उनके पास विद्या, दया, संयम, सत्य, शौच (पवित्रता) ध्यान, व्रत, ज्ञान, दम, क्षमा आदि संसार-समुद्र को पार करने वाले कोई भी गुण नहीं होते, इसलिये वे सर्वदा इस संसार में भटकते फिरते हैं और उसके फलस्वरूप नाना दुःख भोगते रहते हैं॥ ५४१॥

मृगान्वराकांश्चरितोऽपि पर्णान्निरागसोऽत्यन्तविभीतचित्तान्।
येऽश्नन्ति मांसानि निहत्य पापास्तेभ्यो निकृष्टा अपरे न सन्ति॥ ५४२॥

अर्थ—जो लोग दीन, हीन, गरीब, पत्तों को चरने वाले, भय से भागते हुए, निरपराधी, व्याकुल चित्तवाले मृगों को मारते हैं, उन पापियों के समान इस संसार में कोई भी निकृष्ट नहीं है, वे लोग बड़े ही निर्दय नीच और पापी हैं॥ ५४२॥

मांसान्यशित्वा विविधानि मर्त्यो यो निर्दयात्मा नरकं प्रयाति।
निकृत्य शस्त्रेण परैर्निकृष्टैः प्रखाद्यते मांसमसौ स्वीकयम्॥ ५४३॥

अर्थ—नाना प्रकार के विचित्र मांसों को खाने से उत्पन्न होने वाले पाप के प्रभाव से लोग नरक में जाते हैं और वहां उनको उन्हीं का मांस उन्हीं सरीखे निकृष्ट जीवों द्वारा काट-काटकर खिलाया जाता है, जिससे उन्हें असह्य यातनायें भोगनी पड़ती हैं॥ ५४३॥

निवेद्य सत्त्वेष्वपदोषभावं
येऽश्नन्ति पापाः पिशितानि गृद्ध्या।
तैः कारितोऽतीव वधः समस्त-
स्तेभ्यो बको नास्ति न हिंसको हि॥ ५४४॥

अर्थ—जो लोग जीवों को मारने में पाप न समझ कर उनका मांस खाते हैं, वे

लोग महाहिंसक हैं, उन लोगों की प्रेरणा से ही संसार में जीवों को मार-मारकर मांस बनाया जाता है, उनके समान न कोई बक (राक्षस विशेष) है और न कोई हिंसक ही है॥ ५४४॥

शास्त्रेषु येष्वङ्गिवधः प्रवृत्तो बकोक्तशास्त्राणि यथा न तानि।
प्रमाणमिच्छन्ति विबुद्धतत्त्वाः संसारकान्तारविनिन्दनीयाः॥ ५४५॥

अर्थ—जिन शास्त्रों में जीवों को मारने का उपदेश लिखा है-जो शास्त्र हिंसा को बुरा नहीं समझते, वे अयुक्त हैं, उनका प्रमाण जो कि संसार रूपी जंगल में भटकने से डरने वाले हैं, यथार्थ तत्त्वों के ज्ञाता हैं, वे नहीं मानते-वे उनको आदर्श समझ वैसा नहीं करते॥ ५४५

यद्रक्तरेतोमलवीर्यमाङ्गं मांसं तदुद्भूतमनिष्टगन्धम्।
यद्यश्नुते मेध्यसमं न दोषस्तर्हि श्वचाण्डालवृका न दुष्टाः॥ ५४६॥

अर्थ—जो शरीर, रक्त, रेतस् आदि मलों से बना है, जिसमें से असह्य दुर्गंधि उठती है, उसको यदि खाने वाले पवित्र हैं, निर्दोष हैं, शाक भोजियों के समान ही हैं, तब कुत्ता, चांडाल, भेड़िया प्रभृति हिंसक जंतु भी क्यों नहीं पवित्र गिने जाते, उन्होंने ऐसा क्या अपराध किया है कि वे बेचारे अस्पृश्य और निंद्य समझे जाते हैं॥ ५४६॥

धर्मद्रुमस्यास्तमलस्य मूलं निर्मूलमुन्मूलितमङ्गभाजाम्।
शिवादिकल्याणफलप्रदस्य मांसाशिना स्यान्न कथं नरेण॥ ५४७॥

अर्थ—इसलिये जो मांसभोजी हैं-पेट के लिए जीवों के प्राण लेने वाले हैं, वे लोग मोक्ष, स्वर्ग आदि के सुखों के करने वाले, निर्दोष, धर्मरूपी वृक्ष की जड़ उखाड़ने वाले हैं-उन लोगों को मोक्ष स्वर्ग आदि के सुख नहीं मिल सकते॥ ५४७॥

दुःखानि यान्यत्र कुयोनिजानि भवन्ति सर्वाणि नरस्य तानि।
पलाशनेनेति विचिन्त्य संतस्त्यजन्ति मांसं त्रिविधेन नित्यम्॥ ५४८॥

अर्थ—संसार में कुयोनिजन्य जितने दुःख होते हैं, जिनके देखने अथवा स्मरण करने से ही चित्त को असह्य अपरिमित यातना होती है, वे सब मांस-भक्षण करने वाले मनुष्य को भोगने पड़ते हैं, मांस-भोजी पुरुष उन सबको भोगता है, ऐसा विचार कर सज्जन लोग मन, वचन, काय से मांस का सेवन करना त्याग देते हैं॥ ५४८॥

॥ २२ ॥

मधुनिषेधनिरूपण

मध्वस्यतः कृपा नास्ति पुण्यं नास्ति कृपां विना।
विना पुण्यं नरो दुःखी पर्यटेद्भवसागरे॥ ५४९॥

अर्थ—जो लोग असंख्य जीवों को मारने से उत्पन्न होने वाले मधु (शहद) को खाते हैं, उनके हृदय में दया नहीं होती, दया-रहित होने से वे पुण्य नहीं उपार्जित कर सकते और पुण्य उपार्जन न कर सकने से उन्हें दुःखी होकर संसार-समुद्र में भटकना पड़ता है, इसलिये सुख चाहने वालों को मधु का सेवन नहीं करना चाहिये॥ ५४९॥

एकैकोऽसंख्यजीवानां घाततो मधुनः कणः।
निष्पद्यते यतस्तेन मध्वस्यति कथं बुधः॥ ५५०॥

अर्थ—मधु के एक-एक कण में असंख्य-असंख्य जीव रहते हैं, इसलिये जो मधु को खाते हैं, वे उन जीवों की हिंसा करते हैं, ऐसा विचार कर विद्वान् लोग कभी भी मधु नहीं खाते॥ ५५०॥

ग्रामाणां सप्तके दग्धे यद्भवेत्सर्वथा नृणाम्।
पापं तदेव निर्दिष्टं भक्षिते मधुनः कणे॥ ५५१॥

अर्थ—सात गाँवों को जलाने से जितना पाप होता है, उतना ही शहद की एक बूंद को खाने से होता है, ऐसा सर्वज्ञ देव ने प्रतिपादित किया है॥ ५५१॥

एकैकस्य यदादाय पुष्पस्य मधु संचितम्।
किञ्चिन्मधुकरीवर्गैस्तदप्यश्नन्ति निर्घृणाः॥ ५५२॥

अर्थ—मधु-मक्खियां एक-एक फूल में से थोड़े रस को बड़े भारी परिश्रम कर इकठ्ठा करती हैं परंतु संसार में ऐसे भी निर्दयी मनुष्य हैं जो उनके उस द्रव्य को भी छीन-छानकर खा डालते हैं॥ ५५२॥

अनेकजीवघातोत्थं म्लेच्छोच्छिष्टं मलाविलम्।
मलाक्तपात्रनिक्षिप्तं किं शौचं लिहतो मधु॥ ५५३॥

अर्थ—जो लोग अनेक जीवों के घात से उत्पन्न होने वाले, म्लेच्छों के जूठे, मल सहित, मधु को खाते हैं वे बड़े ही अपवित्र हैं-उनमें पवित्र का नाम-निशान भी नहीं होता है॥ ५५३॥

वरं हलाहलं पीतं सद्यः प्राणहरं विषम्।
न पुनर्भक्षितं शश्वद् दुःखदं मधु देहिनाम्॥ ५५४॥

अर्थ—एक बार प्राणों को हरकर दुःख देने वाले विष का भक्षण करना अच्छा, परंतु सर्वदा दुःख देने वाले मधु को खाना अच्छा नहीं हैं॥ ५५४॥

दुःखानि यानि संसारे विद्यन्तेऽनेकभेदतः।
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते जीवेन मधुभक्षणात्॥ ५५५॥

अर्थ—संसार में जितने भी, जैसे भी हलके और भारी दुःख हैं, वे सब मधु को खाने वालों को भोगने पड़ते हैं॥ ५५५॥

शमो दमो दया धर्मः संयमं शौचमार्जवम्।
पुंसस्तस्य न विद्यन्ते यो लेढि मधु लालसः॥ ५५६॥

अर्थ—जो पुरुष मधु का भक्षण करता है, उसके पास शम, दम, दया, संयम, शौच और आर्जव प्रभृति कोई भी गुण नहीं होते। वह उनसे सर्वदा रहित ही रहता है॥ ५५६॥

औषधायापि यो मर्त्यो मध्वस्यति विचेतनः।
कुयोनौ जायते सोऽपि किं पुनस्तत्र लोलुपः॥ ५५७॥

अर्थ—जो पुरुष ऐसा समझकर कि-औषधि में मधु खाने से कोई भी दोष नहीं होता, मधु सेवन करते है वे भी जब कुयोनियों में मरकर उत्पन्न होते हैं और वहां के असह्य नाना दुःखों को भोगते हैं, तब जो उसके मिठास से लोलुपी होकर उसका भक्षण करते हैं, उनको तो क्या और कितना दुःख भोगना पड़ेगा वह नहीं कह सकते॥ ४४७॥

प्रमादेनापि यत्पीतं भवभ्रमणकारणम्।
तदश्नाति कथं विद्वान् भीतचित्तो भवान्मधु॥ ५५८॥

अर्थ—प्रमाद अर्थात् भूल के वश से भी यदि मधु खा लिया जाय तो वह भी जब संसार में घुमाने वाला जन्म लेता है-उसी को खाने से जब संसार-भ्रमण के असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं, तब जान-बूझकर खाये गये मधु से तो कितने दुःख न भोगने पड़ेंगे, ऐसा समझकर जो संसार में भटकने से डरते हैं, वे कभी भी मधु नहीं खाते॥ ५५८॥

एकमप्यत्र यो बिन्दु भक्षयेन्मधुनो नरः।
सोऽपि दुःखझषाकीर्णे पतते भवसागरे॥ ५५९॥

अर्थ—जो पुरुष मधु की एक बून्द भी खाता है, वह भी जब दुःख रूपी मछलियों से आकीर्ण संसार-समुद्र में गोते लगाता है और जो अधिक खाता है, उसकी तो फिर बात ही निराली है॥ ५५९॥

ददाति लाति यो भुङ्क्ते निर्दिशत्यनुमन्यते।
गृह्णाति माक्षिकं पापाः षडेते समभागिनः॥ ५६०॥

अर्थ—जो पुरुष मधु देता है, जो उसे लेता है, जो उसे खाता है, जो ग्रहण करता है, जो उसके खाने का उपदेश देता है और जो खाते हुए ही अनुमोदन करता है, वह बराबर ही पाप को अपने सिर पर लादता है अर्थात् ये छः प्रकार के मनुष्य मधु के सेवन करने से जायमान पाप के दुःख को समान ही भोगते हैं॥ ५६०॥

एकत्रापि हते जन्तौ पापं भवति दारुणम्।
न सूक्ष्मानेकजन्तूनां घातिनो मधुपस्य किम्॥ ५६१॥

अर्थ—जब एक ही जीव के मारने से भंयकर पाप का उपार्जन होता है, तब असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा करने से तो कितना पाप न होगा, इस बात को विद्वान् लोग स्वयं विचार सकते हैं॥ ५६१॥

योऽश्नाति मधु निस्त्रिंशस्तज्जीवास्तेन मारिताः।
चेन्नास्ति खादकः कश्चिद्वधकः स्यात्तदा कथम्॥ ५६२॥

अर्थ—जो निर्दयी पुरुष मधु को तो खाते हैं परन्तु स्वयं मक्खियों को मारकर उसे नहीं लाते-दूसरों के द्वारा लाये गये या उनसे खरीद कर प्राप्त किये गये को व्यवहार में लाते हैं, वे लोग भी उसकी उतनी ही हिंसा के भागी हैं-उनको भी उतना ही पाप लगता है, जितना कि उसके साक्षात् लाने वाले को, क्योंकि संसार में यह बात देखी जाती है कि जिस कार्य को करने से कुछ लाभ होता है या जिस कार्य की अन्य लोग सराहना करते हैं उसी को मनुष्य करते हैं और जिस कार्य को कोई नहीं पूछता या जिससे कुछ भी लाभ नहीं होता, उसको कोई भी नहीं। इसी नियम के अनुसार जब मधु को खाने वाले या उसको व्यवहार में लाकर मधु-विक्रेताओं के उत्साह बढ़ाने वाले लोग होते हैं, तभी तो वे उसका मधुमक्खियों की हिंसा कर विक्रय या आयात करते हैं अन्यथा कौन इस प्रकार के व्यर्थ काम को करने बैठा है॥ ५६२॥

एकत्र मधुनो बिन्दौ भक्षितेऽसंख्यदेहिनः।
यो हिनस्ति न कृपा तस्य तस्मान्मधु न भक्षयेत्॥ ५६३॥

अर्थ—मधु की एक बून्द खाने से असंख्य प्राणियों की हिंसा होती है और हिंसा को करने से दया का भाव नष्ट होता है, इस लिये विद्वानों को कभी भी मधु नहीं खाना चाहिये॥ ५६३॥

अनेकदोषदुष्टस्य मधुनोपास्तदोषताम्।
यो ब्रूते तद्रसासक्तः सोऽसत्याम्बुधिरस्तधीः॥ ५६४॥

यद्यल्पमपि हृते द्रव्ये लभन्ते व्यसनं जनाः।
निःशेषं मधुकर्यर्थं मुष्णन्तो न कथं व्यधुः॥ ५६५॥

अर्थ—अनेक प्रकार के दोषों से दूषित मधु खाने को जो लोग निर्दोष-पाप रहित बतलाते हैं और स्वयं भी उसे आसक्त हो कर खाते हैं, वे लोग वास्तव में असत्य के समुद्र हैं और महा असत्य वक्ता हैं क्योंकि वे यह नहीं विचारते कि जब कोई किसी मनुष्य का थोड़ा सा भी धन हर लेता या चुरा लेता है तो उसे महान् दुःख होता है, तब मधुमक्खियों के समस्त धनस्वरूप मधु को हर लेने से तो उन्हें कितना दुःख न होगा? और जो दूसरों को दुःख पहुंचाना है, वही दोष या पाप है॥ ५६४-५६५॥

मधुप्रयोगतो वृद्धिर्मदनस्य ततो जनः।
संचिनोति महत्पापं यात्यतो नरकावनिम्॥ ५६६॥

अर्थ—मधु को खाने से काम की तीव्रता होती है, काम की तीव्रता होने से खोटे-खोटे कार्य होते हैं, खोटे-खोटे कार्यों के होने से पाप होता है और पाप के होने से इस जीव को नरक में जाना पड़ता है॥ ५६६॥

दीनैर्मधुकरीवर्गैः संचितं मधु कृच्छ्रतः।
यः स्वीकरोति निस्त्रिंशः सोऽन्यत्त्यजति किं नरः॥ ५६७॥

अर्थ—जो पुरुष दीन क्षुद्र मधुमक्खियों के द्वारा प्रयत्न से इकट्ठे किये गये मधु को खाता है, वह बड़ा ही कठोर परिणामी निर्दयी है, उससे और निंदित काम क्या बच सकता है? अर्थात् यदि वह वैसा निर्दयी न होता तो क्या दीन मक्खियों पर ऐसा अत्याचार करता, इसलिये उससे कुछ भी उपकार की आशा करना व्यर्थ है—वह अपने दुष्कार्य से किसी को भी अछूता नहीं रख सकता॥ ५६७॥

पञ्चाप्येवं महादोषान्यो धत्ते मधुलम्पटः।
संसारकूपतस्तस्य नोत्तारो जातु जायते॥ ५६८॥

अर्थ—जो मधुलंपटी है, शहद खाने की लालसा वाला है, वह हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना और अत्यन्त परिग्रह रखना रूप पाँचों पापों को

करता है, इसलिये उसका संसार रूपी कूप से कभी भी निस्तार नहीं हो सकता॥ ५६८॥

संसारभीरुभिः सद्भिर्जिनाज्ञां परिपालितुम्।
यावज्जीवं परित्याज्यं सर्वथा मधु मानवैः॥ ५६९॥

अर्थ—इसलिये जो लोग संसार से डरने वाले हैं-उसमें चक्कर लगाते-लगाते थक गये हैं या उससे ऊब उठे हैं, उन्हें वीतराग जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञानुसार अपने जीवन पर्यंत मधु के सेवन का त्याग कर देना चाहिये॥ ५६९॥

विज्ञायेति महादोषं मधुनो बुधसत्तमाः।
संसारासारतस्त्रस्ता विमुञ्चन्ति मधु त्रिधा॥ ५७०॥

अर्थ—इस तरह उपर्युक्त प्रकार से कहे गये मधु के दोषों को भले प्रकार सोच-समझकर जो सज्जन लोग हैं, वे कभी भी न तो उसका सेवन करना विचारते ही हैं, न कहते ही हैं और न करते ही हैं॥ ५७०॥

॥ २३ ॥

कामनिषेधनिरूपण

यानि मनस्तनुजानि जनानां सन्ति जगत्त्रितयेऽप्यसुखानि।
कामपिशाचवशीकृतचेतास्तानि नरो लभते सकलानि॥ ५७१॥

अर्थ—जो लोग काम के वशीभूत होते हैं—जिनके ऊपर काम-पिशाच अपनी आज्ञा चलाता है, वे लोग संसार के मानसिक और शारीरिक-जितने भी दु:ख हैं, उन सबको भोगते हैं-उन्हें किसी प्रकार का जरा भी सुख नहीं प्राप्त होता॥ ५७१॥

ध्यायति धावति कम्पमियर्ति श्राम्यति ताम्यति नश्यति नित्यम्।
रोदिति सीदति जल्पति दीनं गायति नृत्यति मूर्छति कामी॥ ५७२॥

रुष्यति तुष्यति दास्यमुपैति कर्षति दीव्यति सीव्यति वस्त्रम्।
किं न करोत्यथवा हतबुद्धिः कामवशः पुरुषो जननिन्द्यम्॥ ५७३॥

अर्थ—कामी पुरुष कभी तो अपनी प्रिय वस्तु का ध्यान करता है, कभी उसके वियोग में दौड़ता है, कभी उसको सन्निकट समझ कांपता है, कभी उसके न मिलने से खोजते-खोजते श्रांत और क्लांत हो मर जाता है, कभी उसके वियोग में रोता और खिन्न होता है, कभी उसकी अप्रसन्नता समझ दीन वचन बोलता है, गीता गाता है और नाचता है, कभी मूर्च्छित हो जाता है, कभी रुष्ट या संतुष्ट होता है, कभी दास बनता है, कभी खेत जोतता है, कभी जुआ खेलता है और कभी सीता है इस प्रकार से वह हतबुद्धि हो नीच से नीच प्रकार की नाना क्रियाओं को करता है॥ ५७२-५७३॥

वेत्ति न धर्ममधर्ममियर्ति म्लायति शोचति याति कृशत्वम्।
नीचजनं भजते व्रजतीर्ष्यां मन्मथराजविमर्दितचित्तः॥ ५७४॥

अर्थ—जिसका चित्त कामदेव के बाणों से विच्छिन्न हो चुका है, वे लोग धर्म को भूल अधर्म करने लग जाते हैं, नीच जनों की सेवा करते हैं, शरीर में म्लान, शोकयुक्त और कृष हो जाते हैं, एवं ईर्ष्या सहित मन वाले हो दु:ख ही दु:ख भोगते हैं॥ ५७४॥

नैति रतिं गृहपत्तनमध्ये ग्रामधनस्वजनान्यजनेषु।
वर्षसमं क्षणमेकमवैति पुष्पधनुर्वशतामुपयातः॥ ५७५॥

अर्थ—काम के वश में पड़े हुए लोग, घर, नगर में आराम नहीं पाते, ग्राम, धन, धान्य, स्वजन और परजनों में शांति लाभ नहीं करते, उनका काल बड़ी ही कठिनाई से कटता है, उन्हें एक क्षण भी वर्ष के बराबर मालूम होता है, इसलिये उन्हें सर्वदा दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है॥ ५७५॥

सर्वजनेन विनिन्दितमूर्तिः सर्वविचारबहिर्भवबुद्धिः।
सर्वजनप्रथितां निजकीर्तिं मुञ्चति कन्तुवशो गतकान्तिः॥ ५७६॥

अर्थ—कामी पुरुष की सब लोग निंदा करते हैं, वह निर्बुद्धि विचार शून्य निस्तेज हो जाता है और समस्त जगत् में प्रसिद्ध अपनी कीर्ति को खो बैठता है॥ ५७६॥

भोजनशीतिविहाररतीनां सज्जनसाधुव्रतिश्रमणानां।
आममपामिव पात्रमपात्रं ध्वस्तसमस्तसुखो मदनार्तः॥ ५७७॥

अर्थ—जिसप्रकार कच्चे मिट्टी का पात्र जल रखने के लिये अपात्र—अयोग्य होता है, उसी प्रकार काम से पीड़ित पुरुष सज्जन साधु व्रती और मुनियों की संगति में रहने के अयोग्य होता है, उसके समस्त सुख नष्ट हो जाते हैं न तो उसे भोजन ही अच्छा लगता है, न वह शयन ही कर सकता है, न विहार और प्रेम का ही पात्र होता है रात-दिन काम के ताप से ही तपता रहता है॥ ५७७॥

चारुगुणो विदिताखिलशास्त्रः कर्म करोति कुलीनविनिन्द्यम्।
मातृपितृस्वजनान्यजनानां नैति वशं मदनस्य वशो ना॥ ५७८॥

अर्थ—जो लोग काम से पीड़ित होते हैं वे गुणी होकर भी, समस्त शास्त्रों के वेत्ता रहने पर भी कुलीन पुरुषों के अयोग्य काम कर बैठते हैं, माता, पिता, भाई बहिन आदि कुटुंबियों और अन्य लोगों की आज्ञा नहीं पालते, वे उनके हितकर वचनों का भी कुछ ख्याल नहीं करते॥ ५७८॥

तावदशेषविचारसमर्थस्तावदखण्डितमृच्छति मानम्।
तावदपास्तमलो मननीयो यावदनङ्गवशो न मनुष्यः॥ ५७९॥

अर्थ—मनुष्य तभी तक तो समस्त हित-अहित के विचारों के विचारने में समर्थ रहता है, तभी तक अखंडित, महत्त्वशली मान को उपार्जन करता है और तभी तक अपनी आत्मा को निर्मल-निर्दोष सम्माननीय रख सकता है, जब तक काम की मार इस पर नहीं पड़ती, कामदेव अपने फंदे में इसे नहीं डालते और ज्यों ही यह उनके (कामदेव के) फंदे में पड़ा त्यों ही इन समस्त गुणों से तिलांलि दे बैठता है॥ ५७९॥

शोचयति विश्वमभीच्छति द्रष्टुमाश्रयति ज्वरमृच्छति दाहम्।
मुञ्चति भक्तिमुपैति विमोहं माद्यति वेपति याति मृतिञ्च॥ ५८०॥

एवमपास्तमतिः क्रमतोऽत्र पुष्पधनुर्दशवेगविधूतः।
किं न जनो लभते जननिन्द्यो दुःखमसह्यमनन्तमवाच्यम्॥ ५८१॥

अर्थ—जो लोग काम के बाणों से घायल होते हैं-जिन को कामदेव अपने बाणों का लक्ष्य बनाते हैं उनकी क्रम से दश दशायें हो जाती हैं, पहले तो वे अपनी प्रिय वस्तु का लाभ न होने से शोक करते हैं फिर समस्त जगत् को तन्मय (उसी को ही सर्वत्र) देखते हैं, उसके आलिंगन की इच्छा करते हैं, ज्वर से पीड़ित होते हैं, अग्नि से दग्ध सरीखे जलते रहते हैं, काम-काज करना छोड़ देते हैं, विमूढ हो जाते हैं, पागल का-सा बर्ताव करने लगते हैं, कँपकँपी छोड़ते हैं और अंत में मर भी जाते हैं। इसलिये वे समस्त जनों में निंद्य समझे जाते हैं और संसार में अवक्तव्य अनन्त दुःख भोगते हैं॥ ५८०-५८१॥

चिन्तनकीर्तनभाषणकेलिस्पर्शनदर्शनविभ्रमहास्यैः।
अष्टविधं निगदन्ति मुनीन्द्राः काममपाकृतकामविबाधाः॥ ५८२॥

अर्थ—जिन्होंने काम की समस्त बाधायें जड़-मूल से उखाड़ दी हैं, वे मुनियों के इंद्र, चिंतन, कीर्तन, भाषण, केलि, स्पर्शन, दर्शन, विभ्रम और हास्य इन भेदों से आठ प्रकार की काम बाधायें बतलाते हैं अर्थात् कोई भी पुरुष अपनी अभीष्ट वस्तु के वियोग में तो उसका चिंतन, कीर्तन करता है और उसके संयोग में उससे भाषण (बातचीत) क्रीडन, आलिंगन, दर्शन विभ्रम और हास्य करता है, इस तरह से आठ प्रकार की क्रियायों को करता है॥ ५८२॥

सर्वजनैः कुलजो जनमान्यः सर्वपदार्थविचारणदक्षः।
मन्मथबाणविभिन्नशरीरः किं न नरः कुरुते जननिन्द्यम्॥ ५८३॥

अर्थ—जो लोग उत्तम कुल में उत्पन्न हुए होते हैं, जिनका समस्त संसार सत्कार करता है और जो हित-अहित को विचारने में भी कुशल होते हैं, वे लोग भी जिस समय कामदेव के बाणों से जर्जरित शरीर वाले हो जाते हैं, उस समय निंद्य से निंद्य भी कार्य कर डालते हैं॥ ५८३॥

अह्नि रविर्दहति त्वचि वृद्धः पुष्पधनुर्दहति प्रबलोढम्।
रात्रिदिनं पुनरन्तरमन्तः संवृतिरस्ति रवेर्न तु कन्तोः॥ ५८४॥

अर्थ—ग्रीष्म ऋतु का तेजस्वी सूर्य्य अपने प्रताप द्वारा अधिक से अधिक शरीर के चर्म को तपा करता है, उस पर भी उसका कुछ न कुछ छत्री (छाता) आदि से

प्रतिबंध भी किया जा सकता है, परंतु कामदेव का प्रबल प्रताप रातदिन जलाता है और वह आंतरंगिक दाह करता है, इसलिये इसका कुछ भी प्रतिबंध नही हो सकता॥ ५८४॥

स्थावरजङ्गमभेदविभिन्नं जीवगणं विनिहन्ति समस्तम्।
निष्करुणं कृतपापकचेष्टः कामवशः पुरुषोऽतिनिकृष्टः॥ ५८५॥

अर्थ—कामदेव के वशीभूत हुआ पुरुष अति निकृष्ट हो जाता है और दया-रहित पापी स्थावर जंगम दोनों प्रकार के असंख्य जीवों की हिंसा करने लग जाता है॥ ५८५॥

निष्ठुरमश्रवणीयमनिष्टं वाक्यमसह्यमवद्यमहृद्यम्।
जल्पति वक्रमवाच्यमपूज्यं मद्यमदाकुलवन्मदनार्तः॥ ५८६॥

अर्थ—जिस प्रकार से संसार में मदिरा से मत्त हुआ पुरुष नाना कुत्सित वाक्यों को बोलता है, उसी प्रकार काम के वशीभूत हुआ पुरुष भी निष्ठुर, अश्रवणीय, अनिष्ट, असह्य, निंद्य, अप्रिय, अवक्तव्य, अपूज्य वचनों को बोलता है॥ ५८६॥

स्वार्थपरः परदुःखमविद्वान् प्राणसमान्यपरस्य धनानि।
संसृतिदुःखविधावविदित्वा पापमनङ्गवशो हरतेऽङ्गी॥ ५८७॥

अर्थ—काम की तीव्र ज्वाला से जलता हुआ पुरुष संसार के तीव्र पापों को कुछ न समझकर स्वार्थ में लवलीन हो कर दूसरों के प्राणों के समान प्रिय धन को हरण करता है जिससे जीवों को बहुत दुःख भोगना पड़ता है।

भावार्थ—कामी पुरुष स्वार्थ में अंधा हो ''धनं वै प्राणाः'' के अनुसार दूसरों के धन को हरकर उन्हें महादुःख पहुँचाता है और अपने लिये भी भयानक कांटे बोता है॥ ५८७॥

योऽपरिचिन्त्य भवार्णवदुःखमन्यकलत्रमभीप्सति कामी।
साधुजनेन विनिन्द्यमगम्यं तस्य किमत्र परं परिहार्यम्॥ ५८८॥

अर्थ—जो पुरुष सज्जनों से निंदनीय, त्याज्य पर-स्त्री-सेवन को करते हैं और परभव में होने वाले महान् दुःख को तनिक भी नहीं सोचते, वे लोग बड़े ही निकृष्ट हैं, उनसे दूसरा कोई भी पाप नहीं छूट सकता॥ ५८८॥

तापकरं पुरुपातकमूलं दुःखशतार्थमनर्थनिमित्तम्।
लाति वशः पुरुषः कुसुमेषोर्ग्रन्थमनेकविधं बुधनिन्द्यम्॥ ५८९॥

अर्थ—काम के जाल में फंसा हुआ पुरुष संताप को करने वाले, महापाप के कारण, सैकड़ों दुःखों के उत्पादक, अनर्थ को करने वाले, विद्वानों से निन्दनीय, नाना प्रकार के परिग्रहों को बांधता है और उनसे क्लांत होता रहता है॥ ५८९॥

एवमनेकविधं विदधाति यो जननार्णवपातनिमित्तम्।
चेष्टितमङ्गजबाणविभिन्नो नेह सुखी न परत्र सुखी सः॥ ५९०॥

अर्थ—इस तरह जो पुरुष काम के बाणों से विच्छिन्न हुआ संसार-समुद्र में डुबोने वाले व्यापारों—चेष्टित क्रियाओं को करता है, वह न तो इस भव में ही सुख पाता है और न पर लोक में ही सुख पाने का पात्र हो सकता है॥ ५९०॥

दृष्टिचरित्रतपोगुणविद्याशीलदयादमशौचशमाद्यान्।
कामशिखी दहति क्षणतो नुर्वह्निरिवेन्धनमूर्जितमत्र॥ ५९१॥

किं बहुना कथितेन नरस्य कामवशस्य न किञ्चिदकृत्यम्।
एवमवेत्य सदा मतिमन्तः कामरिपुं क्षयमत्र नयन्ति॥ ५९२॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन के समस्त समूह को जला डालती है उसी प्रकार काम रूपी अग्नि पुरुष के दर्शन, चरित्र, तप, विद्या, शील, दया, दम, शौच, शम आदि गुणों के समूह को क्षण भर में जलाकर भस्म कर डालती है। इसलिये बहुत कहने से क्या? कामी पुरुष अकृत्य से अकृत्य भी समस्त कार्यों को करते रहते हैं ऐसा विचार कर जो लोग काम को सदा जीतते रहते हैं वे लोग बड़े ही बुद्धिमान् हैं॥ ५९१-५९२॥

नारिरिमं विदधाति नराणां रौद्रमना नृपतिर्न करीन्द्रः।
दोषमहिर्न न तीव्रविषं वा यं वितनोति मनोभववैरी॥ ५९३॥

एकभवे रिपुपन्नगदुःखं जन्मशतेषु मनोभवदुःखम्।
चारुधियेति विचिन्त्य महान्तः कामरिपुं क्षणतः क्षपयन्ति॥ ५९४॥

अर्थ—मनुष्यों का जितना अपकार काम-शत्रु करता है, उतना न तो मनुष्य शत्रु करता है और न कुपति राजा, सिंह, गजराज, सर्प और विष आदि ही करते हैं, क्योंकि मनुष्य शत्रु आदि का दुःख तो एक ही भव में इस जीव को दुःखी बनाता है और काम शत्रु का दुःख तो भव-भव में इसे दुःखी ही दुःखी बनाता रहता है, इसलिये जो विवेकी पुरुष हैं, हित-अहित का विचार करने वाले हैं, वे काम-शत्रु को शीघ्र ही वश में करने का प्रयत्न करते हैं॥ ५९३-५९४॥

संयमधर्मविबद्धशरीराः साधुभटाः शरवैरिणमुग्रम्।
शीलतपःशितशस्त्रनिपातैर्दर्शनबोधबलाद्विधुनन्ति॥ ५९५॥

अर्थ—जिन लोगों का संयम और धर्म रूपी शरीर बलवान् है, वे प्रबल तपस्वी लोग शील और तप रूपी तीक्ष्ण खड्ग की धारा से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सहायता पूर्वक कामरूपी बैरी को मार गिराते हैं और उसके जीतने से प्राप्त हुए अक्षय यश का लाभ प्राप्त करते हैं॥ ५९५॥

॥ २४ ॥

वेश्यासङ्गनिषेधनिरूपण

सत्यशौचशमसंयमविद्या-
शीलवृत्तगुणसत्कृतिलज्जाः।
याः क्षिपन्ति पुरुषस्य समस्ता-
स्ता बुधः कथमिहेच्छति वेश्याः॥ ५९६॥

अर्थ—जो वेश्यायें अपने साथ विलास करने वाले मनुष्य को उसके सत्य, शौच, शम, संयम, विद्या, शील सच्चरित्रता, सत्कार और लज्जा प्रभृति गुणों से बात ही बात में रहित कर देती हैं, ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है जो उनको सेवन करने की इच्छा करेगा। अर्थात् बुद्धिमान् तो बिल्कुल भी उनसे रमण नहीं करेगा। यदि कोई उसका रमण करेगा तो हिताहित विचार-रहित मनुष्य ही उनको भोगेगा॥ ५९६॥

यासु सक्तमनसा क्षयमेति
द्रव्यमापदुपयाति समृद्धिम्।
निन्द्यता भवति नश्यति कीर्ति-
स्ता भजन्ति गणिकाः किमु मान्याः॥ ५९७॥

अर्थ—गणिकाओं में आसक्त चित्त हो जाने से समस्त धन नष्ट हो जाता है, आपत्तियाँ एक साथ आकर अपना अड्डा जमा लेती हैं, सर्वत्र निंदा फैल जाती है और पूर्व में प्रयत्न से उपार्जित की गई कीर्ति नष्ट हो जाती है, इसलिये विद्वान् लोग उनका कदापि सेवन नहीं करते॥ ५९७॥

धर्ममत्ति तनुते पुरु पापं
या निरस्यति गुणं कुरुतेऽन्यम्।
सौख्यमस्यति ददाति च दुःखं
तां धिगस्तु गणिकां बहुदोषाम्॥ ५९८॥

अर्थ—गणिका सेवन करने से पुण्य को तो निगल जाती ही है, पाप को भी उगलती है, गुणों को नष्ट कर देती है, दोषों को पैदा करती है, सुख को छीन लेती है

और दु:ख को पल्ले से बांध देती है, इसलिये नाना दोषों की खान होने से गणिका को सहस्र बार धिक्कार है॥ ५९८॥

जल्पनं च जघनं च यदीयं निन्द्यलोकमलदिग्धमवाच्यम्।
पण्ययोषितमनर्थनिमित्तां तां नरस्य भजतः किमु शौचम्॥ ५९९॥

अर्थ—वेश्याओं के मुख और जाँघें निंदनीय से निंदनीय पुरुषों के मल से मलिन रहते हैं, वे द्रव्य देने वाले ऊँच-नीच सबके साथ ही लेटती हैं, इसलिये जो लोग उन्हें भजते हैं-उनके साथ अपना संबंध रखते हैं, वे बड़े ही अपवित्र हैं, उनमें पवित्रता का नाम और निशान तक नहीं रहता॥ ५९९॥

संदधाति हृदयेऽन्यमनुष्यं यान्यमाह्वयति दृष्टिविशेषैः।
अन्यमर्थिनमतो भजते तां को बुधः श्रयति पण्यपुरन्ध्रीम्॥ ६००॥

अर्थ—वेश्या मन में तो चिन्तन किसी दूसरे पुरुष का करती है, अपने कटाक्षों से बुलाती किसी दूसरे को है और विलास किसी दूसरे के ही साथ करती है, इसलिये मन, वचन और काय से भिन्न-भिन्न बर्ताव करने वाली उस कुटिल धन की लालचिन वेश्या को सज्जन विद्वान् कभी भी नहीं भोगते॥ ६००॥

श्रीकृपामतिधृतिद्युतिकीर्तिप्रीतिकान्तिशमतापटुताद्याः।
योषितः परिहरन्ति रुषेव पण्ययोषिति विषक्तमनस्कान्॥ ६०१॥

अर्थ—जो लोग वेश्या में आसक्तचित्त हो जाते हैं, उन्हें चिढ़कर लक्ष्मी, कृपा, बुद्धि, धृति, द्युति, कीर्ति, प्रीति, कांति, शमता और चतुरता आदि गुण रूपी स्त्रियाँ छोड़ जाती हैं-वे उनसे सर्वथा रहित हो जाते हैं॥ ६०१॥

या करोति बहुचाटुशतानि द्रव्यदातरि जनेऽप्यकुलीने।
निर्धनं त्यजति काममपि स्त्रीं तां विशुद्धधिषणा न भजन्ति॥ ६०२॥

अर्थ—वेश्यायें जिसके पास धन है—उन्हें जो खूब धन देता है, उसके साथ ही रमण करती हैं उसी से सैकड़ों चापलूसी के वचन कहती हैं, चाहे वह अकुलीन ही क्यों न हो और जो निर्धन हैं-जो धन नहीं दे सकते, वे चाहें कुलीन कामदेव के स्वरूप ही क्यों न हों, उनके साथ कभी भी नहीं लेटती, इसलिये विशुद्ध बुद्धि के धारक कभी भी वेश्या के साथ रमण नहीं करते हैं॥ ६०२॥

उत्तमोऽपि कुलजोऽपि मनुष्यः सर्वलोकमहितोऽपि बुधोऽपि।
दासतां भजति यां भजमानस्तां भजन्ति गणिकां किमु सन्तः॥६०३॥

अर्थ—जो पुरुष गणिका का सेवन करते हैं, वे चाहे उत्तम हों, चाहे कुलीन हों, चाहे समस्त लोक में सम्माननीय और विद्वान् हों, वे क्षणभर में नीच दास हो जाते हैं और चाहे जिसकी सेवा करने लग जाते हैं इसलिये जो विशिष्ट विद्वान् हैं, वे कभी भी उसका सेवन नहीं करते॥ ६०३॥

या विचित्रविटकोटिनिघृष्टा
मद्यमांसनिरतातिनिकृष्टा।
कोमला वचसि चेतसि दुष्टा
तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः॥ ६०४॥

अर्थ—वेश्या नाना विटों से सेवित, मद्य, मांस को पीने-खाने में अनुरक्त, अति निकृष्ट, वचनों को बोलने में अति कोमल किन्तु मन से अति दुष्ट होती है, इसलिये गविद्वान् कभी भी उनको रमण नहीं करते॥ ६०४॥

यार्थसंग्रहपरातिनिकृष्टा सत्यशौचशमधर्मबहिष्ठा।
सर्वदोषनिलयातिनिकृष्टा तां श्रयन्ति गणिकां किमु शिष्टाः॥ ६०५॥

अर्थ—वेश्यायें सर्वदा धन को इकठ्ठा करने में आसक्त रहती हैं, सत्य, शौच और शम आदि धर्मों से सर्वथा शून्य रहती हैं और समस्त दोषों की खान अर्थात् निकृष्ट होती हैं, इसलिये शिष्ट पुरुष उनका कभी भी आश्रय नहीं करते॥ ६०५॥

या कुलीनमकुलीनममान्यं मान्यमाश्रितगुणं गुणहीनम्।
वेत्ति नो कपटसंकटचेष्टां तां व्रजन्ति गणिकां किमु शिष्टाः॥ ६०६॥

अर्थ—वेश्यायें कुलीन, अकुलीन, मान्य, अमान्य, गुण सहित और गुण रहित सब ही पुरुषों के साथ भोग-विलास करती हैं-वे धन वाले किसी को भी नहीं छोड़तीं, इसलिये उन्हें कपट की खान जान कर कोई विद्वान् उनके साथ रमण नहीं करता है॥ ६०६॥

तावदेव दयितः कुलजोऽपि यावदर्पयति भूरिंधनानि।
येक्षुवत्त्यजति निर्गतसारं तत्र हा किमु सुखं गणिकायाम्॥ ६०७॥

अर्थ—चाहें पुरुष कुलीन से कुलीन ही क्यों न हों, वेश्याओं का वह तभी तक प्यारा है, जब तक वह खूब उन्हें धन देता है, यदि वह निर्धन हो चुका है—वह और धन नहीं दे सकता तो वेश्यायें उसे ईख की छोली के समान सार-रहित समझ कर छोड़ देती हैं- फिर उसके साथ रमण नहीं करतीं। इसलिये विद्वान् इसे पहले से ही दुःख की खान समझ कर उसके साथ भोग-विलास नहीं करते।

भावार्थ—जिस प्रकार गन्ने को चूसकर लोग फेंक देते हैं उसी प्रकार धनी पुरुषों को चूसकर-सर्थवा निर्धन बनाकर गणिका छोड़ देती है और फिर उनमें तनिक भी प्रेम नहीं करती॥ ६०७॥

तावदेव पुरुषो जनमान्यस्तावदाश्रयति चारुगुणश्रीः।
तावदामनति धर्मवचांसि यावदेति न वशं गणिकायाः॥ ६०८॥

अर्थ—पुरुष तब तक ही तो लोगों में पूज्य गिना जाता है, तब तक ही सुंदर-सुंदर गुणों का घर बना रहता है और तब तक ही धर्म के वचनों को मानने वाला धर्मात्मा रहता है जब तक कि वह गणिका के फंदे में नहीं फँसता और ज्यों ही वह उसके फंदे में पड़ा त्यों ही इन समस्त गुणों को भूल जाता है॥ ६०८॥

मन्यते न धनसौख्यविनाशं नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्यम्।
नेक्षते भवसमुद्रमपारं दारिकार्पितमना गतबुद्धिः॥ ६०९॥

अर्थ—वेश्या में आसक्त चित्त हो जाने से पुरुष ऐसा मूढ़ निर्बुद्धि हो जाता है कि न तो वह अपने धन के विनाश को ही समझता है न गुरु-सज्जनों के वाक्य ही मानता है और न संसार-सागर की अपारता का ही ख्याल करता है—वह यह नहीं सोचता कि इससे मुझे संसार-समुद्र में गोते लगाने पड़ेंगे॥ ६०९॥

वारिराशिसिकतापरिमाणं सर्परात्रिजलमध्यगमार्गः।
ज्ञायते न निखिलं ग्रहचक्रं नो मनस्तु चपलं गणिकायाः॥ ६१०॥

अर्थ—मनुष्य अगाध जल, अन्न आदि की राशि और बालू के परिमाण को जान सकता है, कठोर जमीन पर जहां से सर्प गया है, उस मार्ग को पहिचान सकता है, रात्रि में मार्ग ढूँढ सकता है जल के भीतर के मार्ग का ही ज्ञान कर सकता है और समस्त तारागणों को भी गिन सकता है, परंतु वेश्या के मन की थाह नहीं पा सकता। मनुष्य हजार भी प्रयत्न करे तो भी वेश्याओं के मन के भावों को नहीं जान सकता है॥ ६१०॥

या शुनीव बहुचाटुशतानि दानतो वितनुते मलभक्षा।
पापकर्मजनिता कपटेष्टा यान्ति पण्यवनितां न बुधास्ताम्॥ ६११॥

अर्थ—जिस प्रकार शुनी (कुतिया) मतलब के लिए पूँछ हिला-२ कर पैर चाटना आदि सैकड़ों मिन्नतों को करती है, रात-दिन मल (विष्ठा) आदि के भक्षण में ही लवलीन रहती है और कपट-चेष्टायें कर पाप उपार्जन किया करती है, उसी प्रकार वेश्या भी धन ठगने के लिये सैकड़ों चापलूसी करती है, मद्य-मांस को खाने में

आसक्त रहती है और सर्वदा कपटकर पापों का उपार्जन किया करती है, इसलिये विद्वान् लोग उसका तनिक भी स्पर्श नहीं करते॥ ६११॥

मद्यमांसमलदिग्धमशौचं
नीचलोकमुखचुम्बनदक्षम्।
यो हि चुम्बति मुखं गणिकाया
नास्ति तस्य सदृशोऽति निकृष्टः॥ ६१२॥

अर्थ—मद्य-मांस के मल से मलिन, अपवित्र, नीच से नीच लोगों के मुँखों का चुंबन करने में दक्ष गणिका के मुंह से मुंह जो मनुष्य मिलाता है अर्थात उसका चुम्बन करता है, वह बड़ा ही निकृष्ट है उसके बराबर संसार में दूसरा कोई भी नीच नहीं है॥ ६१२॥

या न विश्वसिति जातु नरस्य प्रत्ययं तु कुरुते निकृतज्ञा।
नोपकारमपि वेत्ति कृतघ्नी दूरतस्त्यजत तां खलु वेश्याम्॥ ६१३॥

अर्थ—जो स्वयं तो दूसरों का विश्वास नहीं करती, परंतु दूसरों को छल से अपना विश्वास करा देती है और उपकार के बदले अपकार करने लग जाती है, उस वेश्या को हे सज्जनो! दूर से ही छोड़ो, उसके पास तक मत फटको॥ ६१३॥

रागमीक्षणयुगे तनुकम्पं बुद्धिसत्त्वधनवीर्यविनाशम्।
या करोति कुशला त्रिविधेन तां त्यजन्ति गणिकां मदिरां वा॥६१४॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा नेत्रों में राग-लालिमा, शरीर में कँपकँपी कर देती है और बुद्धि, बल, धन वीर्य को नष्ट कर डालती है, उसी प्रकार जो गणिका देखते ही राग-प्रेम पैदा कर देती है और फिर बुद्धि, बल, पराक्रम, धन, वीर्य आदि को सर्वथा नष्ट कर डालती है, उसको विद्वान् लोग मन, वचन, काय से छोड़ देते हैं-उसका कभी किसी प्रकार भी सेवन नहीं करते अर्थात् न तो वे मन में ही उसके विषय में विचारते हैं, न वचन से ही उसका वर्णन करते हैं और न शरीर से ही उसका आलिंगन तथा स्पर्श करते हैं॥ ६१४॥

योपतापनपराग्निशिखेव चित्तमोहनकरी मदिरेव।
देहदारणपटुश्छुरिकेव तां भजन्ति कथमापणयोषाम्॥ ६१५॥

अर्थ—भाइयो! वेश्या अग्नि की प्रज्वलित ज्वाला के समान तो शरीर को संताप करने वाली होती है, मदिरा के समान चित्त को बिगाड़ देती है, पागल कर देती है और देह का विदारण करने में छुरी का-सा काम देती है। फिर भी न मालूम लोगों की उसमें क्यों प्रवृत्ति होती है यह बड़े आश्चर्य की बात है॥ ६१५॥

सर्वसौख्यदतपोधनचौरी सर्वदुःखनिपुणा जनमारी।
मर्त्यमत्तकरिबन्धनवारी निर्मितात्र विधिना परनारी॥ ६१६॥

अर्थ—विधि ने इस संसार में पर-नारी (वेश्या) को लोगों का सर्वस्व हरण करने वाली भयंकर वस्तु बताया है। यह सांसांरिक और पारमार्थिक समस्त सुख को देने वाली तपरूपी धन को चुराने वाली होती है, संपूर्ण दुःखों को देने में निपुण होती है और मनुष्य रूपी मत्त हाथियों के लिये सर्वथा निरुद्ध करने वाली बंधनवारी (संसार-बन्धन) का काम करती है॥ ६१६॥

शुभ्रवर्त्म सुरसद्मकपाटं यात्र मुक्तिसुखकाननवह्निः।
तत्र दोषवसतौ गुणशत्रौ किं श्रयन्ति सुखमापणनार्याम्॥ ६१७॥

अर्थ—वेश्या मनुष्यों को मरकर नरक ले जाने वाली पक्की सीधी सड़क है, स्वर्ग जाने वालों के लिये न खुलने वाले मजबूत किवाड़ हैं और मुक्ति सुखरूपी वन को जलाने वाली प्रज्वलित अग्नि है, परंतु तब भी मनुष्य दोषों की खान, गुणों की शत्रु स्वरूप वेश्या में सुख समझ कर फंस जाते हैं, यह बड़ा ही आश्चर्य है।

भावार्थ—जिस प्रकार सीधे मार्ग पर चलता हुआ पुरुष ठीक बिना ही किसी संदेह के अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है, उसी प्रकार वेश्या-रमण रूपी मार्ग पर चलता हुआ पुरुष निश्चय से नरक में पहुंच जाता है। जिस प्रकार लोगों का आवागमन रोकने के लिये मनुष्य किवाड़ (दरवाजे) बंद कर देते हैं उसी प्रकार स्वर्ग में न आने के लिये वेश्या-भोगविलास किवाड़ का काम करता है और जिस प्रकार दावानल से वन के वन भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार वेश्या-रमण रूपी अग्नि से मोक्ष सुख रूपी वन जल जाता है अर्थात् वेश्या-भोगी स्वर्ग और मोक्ष न जाकर निश्चय ही नरक में जाता है, इसलिये उसका भोग सर्वथा त्याज्य है॥ ६१७॥

यन्निमित्तमुपयाति मनुष्यो दास्यमस्यति कुलं विदधाति।
धर्मनिन्दितमनेकमलज्जः सा न पण्यवनिता श्रयणीया॥ ६१८॥

अर्थ—जिसके फंदे में पड़कर मनुष्य स्वतंत्रता खो कर दास बन जाता है, अपने कुल को खो बैठता है और धर्म निंदित अनेक लज्जास्पद काम कर बैठता है, उस वेश्या के साथ कभी भी भोग नहीं करना चाहिये॥ ६१८॥

चेन्न पण्यवनिता जगति स्याद् दुःखमाननिपुणा कथमेते।
प्राणिनो जननदुःखमपारं प्राप्नुवन्ति गुरुसोढुमशक्यम्॥ ६१९॥

अर्थ—यदि इस संसार में एक पण्यवनिता (किराये की स्त्री, वेश्या) न होती

तो ये दीन-हीन, क्षुद्र प्राणी जन्म-मरण के अनंत दुःखों को असह्य होने पर भी जो सहन करते हैं, वे न करते।

भावार्थ—संसार में परिभ्रम कराने वाली एक वेश्या ही है, इसी के फंदे में पड़कर लोग गुरुतर पापों को कमाते हैं और उनके फलस्वरूप जन्म-मरण के दुःखों को भोगते हैं॥ ६१९॥

दोषमेवमवगम्य मनुष्यः शुद्धबोधजलधौतमनस्कः।
तत्त्वतस्त्यजति पण्यपुरन्ध्रीं जन्मसागरनिपातनदक्षाम्॥ ६२०॥

अर्थ—इस प्रकार के दोषों से पूर्ण, संसार-सागर में डुबोने वाली वेश्या को जो लोग शुद्ध ज्ञान के धारक हैं, जिनका मन ज्ञान जल की पवित्र धारा से धुल चुका है, वे कभी भी उनके साथ भोग-विलास नहीं करते-वे सर्वदा मन, वचन, काय से सर्वथा उसका त्याग ही कर देते हैं॥ ६२०॥

॥ २५ ॥

द्यूतनिषेधनिरूपण

यानि कानिचिदनर्थवीचिके जन्मसागरजले निमज्जताम्।
सन्ति दुःखनिलयानि देहिनां तानि चाक्षरमणेन निश्चितम्॥ ६२१॥

अर्थ—जन्म रूपी सागर में डुबकी लगाये हुए अनर्थरूपी भयानक तरंगों से टकराकर प्राप्त होने वाले जितने भी दुःख इस जीव को संसार में प्राप्त होते हैं, वे सब ही जुआ खेलने से मनुष्यों को भोगने पड़ते हैं।

भावार्थ—जुआ खेलने से मनुष्यों को समस्त सांसारिक दुःखों का सामना करना पड़ता है॥ ६२१॥

तावदत्र पुरुषा विवेकिनस्तावदेति हि जनेषु पूज्यताम्।
तावदुत्तमगुणा भवन्ति च यावदक्षरमणं न कुर्वते॥ ६२२॥

अर्थ—पुरुष तभी तक तो हित-अहित का विचार कर सकते हैं, तभी तक मनुष्यों में पूज्य गिने जाते हैं और तभी तक उत्तम गुण वाले रहते हैं, जब तक वे जुआ को नहीं खेलते। उसके खेलने पर तो मनुष्य उपर्युक्त समस्त गुणों से रहित हो ही जाते हैं॥ ६२२॥

सत्यशौचशमशर्मवर्जिता धर्मकामधनतो वहिष्कृताः।
द्यूतदोषमलिना विचेतनाः कं न दोषमुपचिन्वते जनाः॥ ६२३॥

अर्थ—जुआरी लोग सत्य, शौच, शांति और कल्याण से सर्वथा शून्य हो जाते हैं। धर्म, अर्थ और काम से हाथ धो बैठते हैं और हित-अहित के विवेक से रहित हो जाते हैं, इसलिये बड़े से बड़े भी पाप को करने से नहीं चूकते हैं।

भावार्थ—जुआ खेलने से सत्य बोलने का अभ्यास छूट जाता है, अपवित्रता, अशांति और अकल्याण आ जाते हैं, धर्म, अर्थ और काम के बराबर सेवन की आदत सर्वथा विलुप्त हो जाती है और भले-बुरे का विचार जाता रहता है, इसलिये निकृष्ट से निकृष्ट भी कार्य इस जीव से होते चले जाते हैं॥ ६२३॥

सत्यमस्यति करोत्यसत्यतां दुर्गतिं नयति हन्ति सद्गतिम्।
धर्ममत्ति वितनोति पातकं द्यूतमत्र कुरुतेऽथवा न किम्॥ ६२४॥

अर्थ—द्यूत का सेवन सत्य बोलने की आदत को छुड़ा देता है, असत्य बोलने की प्रेरणा करता है, दुर्गति को प्राप्त करा सुगति से वंचित रखता है, धर्म को निगल जाता है और पाप कर्म करने में उत्साह बढ़ाता है, इसलिये जितने भी संसार में दोष हैं, उन सबको यह सहायता करने में पहुँचाता है॥ ६२४॥

द्यूततोऽपि कुपितो विकम्पते विग्रहं भजति तन्नरो यतः।
जायते मरणमारणक्रिया तेन तच्छुभमतिर्न दीव्यति॥ ६२५॥

अर्थ—जुआ खेलने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मनुष्य का शरीर काँपता जाता है, लड़ाई झगड़ा तैयार हो जाता है और लड़ाई झगड़ा होने से परस्पर प्राण तक चले जाने की संभावना हो जाती है, इसलिये जो विवेकी दूरदर्शी पुरुष हैं, वे कभी भी उसे नहीं खेलते॥ ६२५॥

द्यूतदेवनरतस्य विद्यते देहिनां न करुणा विना तया।
पापमति परदुःखकारणं शुभ्रवासमुपयाति तेन सः॥ ६२६॥

अर्थ—जुआरियों के परिणाम स्वार्थमय कठोर हो जाते हैं, उनमें दया का लेश भी नहीं रहता और जब दया से ही हीन हो जाते हैं तो नाना प्रकार के पापों का उपार्जन करने लगते हैं और पाप-कर्मों के उपार्जन करने से मरकर वे नरक के असह्य दुःख भोगते हैं॥ ६२६॥

पैशुनं कटुकमश्रवासुखं वक्ति वाक्यमनृतं विनिन्दितम्।
वञ्चनाय कितवो विचेतनो येन तिर्यग्गतिमेति तेन सः॥ ६२७॥

अर्थ—जुआरी लोग सर्वदा दूसरों को ठगने के लिये कटुक अश्रवणीय दुःख देने वाले चुगली के वचन बोलते हैं ओर दूसरों को ठगने की, अपने चुंगल में फँसाने की कोशिश किया करते हैं, इसलिये उन्हें मरकर तिर्यग्गति में जाना पड़ता है॥ ६२७॥

अन्यदीयमविचिन्त्य पातकं निर्घृणो हरति जीवितोपमम्।
द्रव्यमत्र कितवो विचेतनस्तेन गच्छति कदर्थनां चिरम्॥ ६२८॥

अर्थ—जुआ में आसक्त पुरुष पाप का विचार न कर दया-रहित हो दूसरों के प्राणों से भी प्यारे धन को छीन लेते हैं, इसलिये वे चिरकाल तक लोगों में गर्ह्य समझे जाते हैं॥ ६२८॥

शुभ्रदुःखपटुकर्मकारिणीं कामिनीमपि परस्य दुःखदाम्।
द्यूतदोषमलिनोऽभिलष्यति संसृतावटति तेन दुःखितः॥ ६२९॥

अर्थ—जुआ के दोषों से मलिन चित्त वाले लोग नरक के दुःख को उत्पन्न करने वाली दूसरे की कामिनी को भी चाहते हैं और उसके साथ संग कर पाप का उपार्जन करते हुए बहुत काल तक संसार में भ्रमण करते फिरते हैं॥ ६२९॥

जीवनाशनमनेकधा दधद् ग्रन्थमक्षरमणोद्यतो नरः।
स्वीकरोति बहुदुःखमस्तधीस्तत्प्रयाति भवकाननं यतः॥ ६३०॥

अर्थ—जुआ खेलने में प्रयत्नशील पुरुष अनेक प्रकार से अनेक जीवों की हिंसा करने वाले परिग्रह को रखता है और उससे मूढ हो संसार रूपी वन में बहुत दुःखों को भोगता हुआ भटकता फिरता है॥ ६३०॥

साधुबंधुपितृमातृसज्जनान्[१] मन्यते न तनुते मलं कुले।
द्यूतरोपितमना निरस्तधीः शुभ्रवासमुपयात्यंसौ यतः॥ ६३१॥

अर्थ—जुआरी लोग स्वयं तो हित-अहित का विचार नहीं कर सकते और बड़े लोगों, माता-पिता भाई-बंधु, साधु, सज्जन प्रभृतियों का कहना ही नहीं मानते, इसलिये अपने कुटुंब में कलंक का टीका लगा बैठते हैं और मरकर नरक में जाते हैं॥ ६३१॥

द्यूतनाशितधनो गताशयो मातृवस्त्रमपि योऽपकर्षति।
शीलवृत्तिकुलजातिदूषणः किं न कर्म कुरुते स मानवः॥ ६३२॥

अर्थ—जुआरी लोग जब जुआ खेलते २ अपना समस्त धन स्वाहा कर चुकते हैं और दूसरी जगह से किसी प्रकार भी कर्जा आदि लेकर उसको प्राप्त करने की आशा नहीं रखते, तब अपनी माता के अधोवस्त्र तक को भी उतार लाते हैं और इस तरह जब अपने कुल, चरित्र, जाति, शील प्रभृति में धब्बा लगा बैठते हैं, तब उनसे कौन-सा नीच कर्म नहीं हो सकता॥ ६३२॥

घ्राणकर्णकरपादकर्तनं यद्वशेन लभते शरीरवान्।
तत्समस्तसुखधर्मनाशनं द्यूतमाश्रयति कः सचेतनः॥ ६३३॥

अर्थ—जिसमें आसक्त चित्त होने से पुरुष अपने नाक, कान, हाथ, पैर आदि अंग कटा बैठता है, उस समस्त सुख और धर्म को नष्ट करने वाले जुआ को ऐसा कौन सा विवेकी पुरुष है जो खेलेगा॥ ६३३॥

---

१. किसी किसी प्रति में ''साधुबन्धुपितृमातृसज्जनान् मन्यते न न बिभेति दुःखितः। लज्जते न तनुते मलं कुले, द्यूतरोपितमनानिरस्तधीः।'' ऐसा भी पाठ है।

धर्मकामधनसौख्यनाशिना वैरिणाक्षरमणेन देहिनाम्।
सर्वदोषनिलयेन सर्वदा सम्पदां खलु सहाश्वमाहिषम्॥ ६३४॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम से उत्पन्न होने वाले सुख के नाशक, समस्त दोषों के खजाने, अहित करने वाले जुआ के साथ संपत्तियों का सुखदायक पदार्थों का स्वाभाविक आश्व-माहिष-वैर है।

भावार्थ—जिस प्रकार अश्व और महिष (भैंसा) का जन्म से ही वैर होता है, वे दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार जुआ और संपत्तियों का भी अकृत्रिम वैर है-जुआरी की संपत्तियों का रहना असंभव है॥ ६३४॥

यद्वशाद् द्वितयजन्मनाशनं युद्धराटिकलहादि कुर्वते।
तेन शुद्धधिषणा न तन्वते द्यूतमत्र मनसापि मानवाः॥ ६३५॥

अर्थ—जिसके खेलने से परलोक के सुख का भी नाश होता है और इस जन्म में भी दुःख को पैदा करने वाले लड़ाई-झगड़े आदि उपद्रव खड़े हो जाते हैं, उस जुए को जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे मन से कभी नहीं सेवते॥ ६३५॥

द्यूतनाशितसमस्तभूतिको बंभ्रमीति सकलां भुवं नरः।
जीर्णवस्त्रकृतदेहसंहतिर्मस्तकाहितभरः क्षुधातुरः॥ ६३६॥

अर्थ—जुआ खेलते-२ जिस प्रकार इस मनुष्य की समस्त संपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं उस समय इसके शरीर पर जीर्ण ही जीर्ण फटे-पुराने वस्त्र रह जाते हैं, खाने पीने से तंग हो जाता है, जिससे समस्त पृथ्वी पर घूमता-फिरता है और दूसरों के बोझ ढो-ढो कर जीता है॥ ६३६॥

याचते नटति याति दीनतां लज्जते न कुरुते विडम्बनाम्।
सेवते नमति याति दासतां द्यूतसेवनपरो नरोऽधमः॥ ६३७॥

अर्थ—जुआ खेलने से नीच और निर्धन हुआ पुरुष भीख माँगता है, नाचता है, दीनता का सहारा लेता है, निर्लज्ज हो जाता है, नाना बिडंबनायें-छल, कपट बनाता है, दूसरों की सेवा करता है, झुकता है और दास बन कर नाना दुःख उठाता है॥ ६३७॥

रुध्यतेऽन्यकितवैर्निषेध्यते वध्यते वचनमुच्यते कटु।
नोद्यतेऽत्र परिभूयते नरो हन्यते च कितवो विनिन्द्यते॥ ६३८॥

हन्ति ताडयति भाषते वचः कर्कशं रटति खिद्यते व्यथाम्।
सन्तनोति विदधाति रोधनं द्यूततोऽथ कुरुते न किं नरः॥ ६३९॥

अर्थ—जुआरी पुरुष अन्य जुआरियों द्वारा रोका जाता है, निषिद्ध होता है, बांधा जाता है, गाली खाता है, तिरस्कृत होता है, मारा जाता है, निंदित होता है और स्वयं भी दूसरों को मारता है, ताड़ना देता है, कटु वाक्य बोलता है, पीड़ा करता है, खिन्न और दुःखी होता है एवं रोकता है, इसलिये और कहां तक कहें जुआरी से कोई भी निंदित कार्य नहीं बच सकता, इतना कह देना ही ठीक है॥ ६३८-६३९॥

जल्पितेन बहुधा किमत्र भो द्यूततो न परमस्ति दुःखदम्।
चेतसेति परिचिन्त्य सज्जनाः कुर्वते न रतिमत्र सर्वथा॥ ६४०॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या? इतना कह देना बस है! कि संसार में जुए के बराबर दुःखदायी कोई भी पदार्थ नहीं है, इसलिये जो सज्जन लोग हैं, वे कभी भी जुआ खेलने में प्रेम नहीं करते॥ ६४०॥

शीलवृत्तगुणधर्मरक्षणं स्वर्गमोक्षसुखदानपेशलम्।
कुर्वताक्षरमणं न तत्त्वतः सेव्यते सकलदोषकारणम्॥ ६४१॥

अर्थ—स्वर्ग और मोक्ष का अचिंत्य सुख देने वाले शील, चरित्र और धर्म को करते हुए विद्वान् लोग समस्त दोषों की खान स्वरूप जुए को कभी भी नहीं खेलते। वे उससे सर्वदा मन, वचन और काय से दूर ही रहते हैं॥ ६४१॥

॥ २६ ॥

आप्तविवेचन

वाञ्छत्यङ्गी समस्तं सुखमनवरतं कर्मविध्वंसतस्त-
च्चारित्रात्स्यात्प्रबोधाद्भवति तदमलं स श्रुतादाप्ततस्तत्।
निर्दोषात्मा स दोषा जगति निगदिता द्वेषरागादयोऽत्र
ज्ञात्वा मुक्त्यै सदोषान् विकलितविपदं नाश्रयन्त्वस्ततन्द्राः॥ ६४२॥

अर्थ—संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब ही अविनाशी नित्य सुख की तो वांछा करते हैं और दुःख से सदा भयभीत रहते हैं, परंतु वह अविनाशी निराबाध सुख जब तक इस जीव के शुभ-अशुभ सब तरह के कर्म नहीं नष्ट हो जाते, तब तक नहीं मिलता। कर्मों का नाश होना सम्यक्चरित्र के अधीन है, सम्यक्चरित्र की प्राप्ति सच्चे ज्ञान से होती है, सच्चा ज्ञान श्रेष्ठ शास्त्रों के सिवाय दूसरों से मिलना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है, सच्चे शास्त्रों की उत्पत्ति आप्त सर्वज्ञ से ही हो सकती है- वे ही सांसारिक समस्त हेयोपादेय पदार्थों को अपने ज्ञान द्वारा जानकर सच्चे शास्त्रों की उद्भूति कर सकते हैं, सच्चे आप्त सर्वज्ञ वे ही हो सकते हैं जो निर्दोष—दोष रहित हैं और वे दोष राग-द्वेष प्रभृति हैं, इसलिये जो वास्तव में नित्य आत्मिक मोक्ष सुख चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे राग-द्वेष आदि दोषों से रहित पवित्र आत्माओं-आप्तों का ही सेवन-भजन करें और सदोषियों से सर्वदा विरक्त हो जायें॥ ६४२॥

जन्माकूपारमध्यं मृतिजननजरावर्तमत्यन्तभीमं
नानादुःखोग्रनक्रभ्रमणकलुषितं व्याधिसिन्धुप्रवाहम्।
नीयन्ते प्राणिवर्गाः गुरुदुरितभरं यैर्निरुप्यारसंत-
स्ते रागद्वेषमोद्य रिपुवदसुखदा येन धूताः स आप्तः॥ ६४३॥

अर्थ—जो नाना प्रकार के दुःख रूपी उग्र नक्र-चक्र प्रभृति जलजंतुओं द्वारा भरा हुआ होने से अत्यंत मलिन और भंयकर है, जिसमें जन्म-जरा-मरण रूपी काष्ठागत दुःख प्रदान करने वाले भमर उठ रहे हैं और जिसमें आधि-व्याधि रूपी नदियों का प्रवाह गिर रहा है, ऐसे महाभयंकर दुःखदायी संसार-रूपी समुद्र में इन जीवों को ढकेलकर दुःख भुक्ताने वाले रागद्वेष प्रभृति दोष रूप शत्रु ही हैं, परंतु जिस

आत्मा ने उन प्रबल शत्रुओं को भी अपने प्रताप से नष्ट कर दिया—जो उनके चुंगुल से निकल गया वही सच्चा देव है॥ ६४३॥

देहार्धं येन शम्भुर्गिरिपतितनयां नीतवान् ध्वस्तधैर्यो
वक्षो लक्ष्मीं सुरद्विट् पयसिजनिलयोऽष्टार्धवक्त्रो बभूव।
गीर्वाणानामधीशो दशशतभगतामस्तबुद्धिः प्रयातः
प्रध्वस्तो येन सोऽयं कुसुमशररिपुर्देवमाप्तं तमाहुः॥ ६४४॥

अर्थ—संसार में सबसे प्रबल, जीवों का शत्रु कामदेव है, इसको बड़े से बड़े देवता गण भी नहीं जीत सकते। दृष्टांत के लिये देखो! महादेव-शिव पर इसने अपना ऐसा प्रभाव डाला है कि वे उसके वश में हो कर अपनी प्राणप्यारी पार्वती को हर समय अपने आधे अंग में ही लिये-लिये फिरते हैं, वे उसे एक मिनट को भी वियुक्त नहीं करते, विष्णु काम के रंग में ऐसे रंगे हुए हैं कि लक्ष्मी को सर्वदा अपने वक्षस्थल से लिपटाये रखते हैं-उसका क्षण भर भी वियोग नहीं सह सकते, ब्रह्मा भी उसके प्रताप से अंधे हो हर समय चार मुख किये रहते हैं और देवों के अधिपति इन्द्र की तो बात ही निराली है उन्होंने तो उस (काम) की आज्ञा पालने के लिये मूर्ख हो कर एक हजार योनियाँ ही बना डालीं हैं, परंतु ऐसे प्रबल प्रतापी काम की सेना को भी जिन्होंने अपने बल से जीत लिया उसे भी मार गिराया उन्हें सच्चा देव कहते हैं॥ ६४४॥

पृथ्वीमुद्धर्तुमीशाः सलिलधिसलिलं पातुमद्रिं प्रवेष्टुं
ज्योतिश्चक्रं निरोद्धुं प्रचलितमनिलं येऽशितुं सत्त्ववन्तः।
निर्जेतुं तेऽपि यानि प्रथितपृथुगुणाः शक्नुवन्ति स्म नेन्द्रा
योऽत्रामूनीन्द्रियाणि त्रिजगति जितवानाप्तमाहुस्तमीशम्॥ ६४५॥

अर्थ—जो पृथ्वी को उठा कर समस्त ब्रह्मांड को चल-विचल कर सकते हैं, जिनमें समुद्र के समस्त जल पी जाने की शक्ति है, जो पहाड़ों में छिद्रकर घुस सकते हैं, जो चलते हुए ज्योति-चक्र को स्थिर बनाने की समार्थ्य रखते हैं और जो समस्त पवन को निगल जा सकते हैं वे अपरिमित बलशाली, प्रसिद्ध इंद्र आदि लोग भी जिन इंद्रियों के प्रताप को न जीत सके, उन्हें भी जिनकी आज्ञा मस्तक पर चढ़ानी पड़ी, उन इंद्रियों को भी जिन महापुरुषों ने जीत लिया-जिन्होंने उनकी भी आज्ञा न मानी उल्टी उन्हीं पर जिन्होंने अपनी आज्ञा चलाई, वे ही वास्तव में सच्चे देव हैं॥ ६४५॥

वर्णौष्ठिस्पन्दमुक्ता सकृदखिलजनान् बोधयन्ती विबाधा
निर्वाञ्छोच्छ्वासदोषा मनसि विदधती साम्यमानन्दधात्री।
ध्रौव्योत्पादव्ययात्म्यं त्रिभुवनमखिलं भाषये यस्य वाणी
तं मोक्षाय श्रयन्तु स्थिरतरधिषणा देवमाप्तं मुनीन्द्राः॥ ६४६॥

अर्थ—जिस महात्मा की वाणी वर्ण और ओष्ठों के हलन चलन से रहित होती है, समस्त देशवासियों और पशु-पक्षियों तक को जो एक साथ ही ज्ञान कराता है, जिसका कोई भी निरोध नहीं कर सकता, जो वाञ्छा और श्वासोच्छ्वास आदि दोषों के बिना ही प्रकट होती है, जिसके प्रताप से समस्त जीवों के मन में शांति ही शांति का साम्राज्य और आनन्द छा जाता है और जो त्रिजगद्वर्ती समस्त पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप को स्पष्टतया प्रतिपादन करती है, उस महापुरुष को सच्चा देव कहते हैं और उसी का मोक्ष प्राप्त करने के लिये बुद्धिमान् लोगों को आश्रय लेना चाहिये॥ ६४६॥

भावाभावस्वरूपं सकलमसकलं द्रव्यपर्यायतत्त्वं
भेदाभेदावलीढं त्रिभुवनभवनाभ्यन्तरे वर्तमानम्।
लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलो लोकते यस्य बोध-
स्तं देवं मुक्तिकामा भवभवनभिदे भावयन्त्वाप्तमत्र॥ ६४७॥

अर्थ—जिस महापुरुष का सर्व शक्तिमान् ज्ञान तीनों लोकों के अंदर वर्तमान भाव, अभाव स्वरूप, सकल-विकल और भेद-अभेद स्वरूप समस्त द्रव्यों और पर्यायों के एवं लोकाकाश अलोकाकाश के विस्तार को एक साथ भली भांति जानता है और जो समस्त दोषों से रहित है, वह सच्चा देव है, उसी का जन्म-मरण रूपी भवन के नाश के लिये ध्यान करना उचित है॥ ६४७॥

स्याच्चेन्नित्यं समस्तं परिणतिरहितं कर्तृकर्मव्युदासात्-
संबन्धस्तत्र दृश्येन्न फलफलवतोर्नाप्यनित्ये समस्ते।
पर्यालोच्येति येन प्रकटितमुभयं ध्वस्तदोषप्रपञ्चं
तं सेवध्वं विमुक्त्यै जननिगलिता भक्तितो देवमाप्तम्॥ ६४८॥

अर्थ—जिस महापुरुष ने यह सोचकर-अपने निर्दोष निरावर्ण ज्ञान द्वारा स्पष्टतया ऐसा देखकर ''यदि सर्वथा ये पदार्थ नित्य पर्याय-रहित ही माने जायेंगे तो कर्ता और कर्म के व्यवहार का लोप हो जाने से कार्य-कारण का आपस में कोई संबंध सिद्ध न हो सकेगा अर्थात् सर्वथा तदवस्थ होने से जो एक पर्याय से दूसरी पर्याय बदलती हुई देखने में आती है, वह सिद्ध न हो सकेगी और सर्वथा अनित्य मानने से भी कार्य-कारण कोई सम्बन्ध न सिद्ध हो सकेगा। इसलिये पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य बतलाया, वही दोषों से रहित सच्चा देव है, उसी को संसारियो!-सेवो॥ ६४८॥

नोचेत्कर्ता न भोक्ता यदि भवति विभुर्नो वियोगेन दुःखी
स्याच्चेदेकः शरीरी प्रतितनु स तदान्यस्य दुःखेन दुःखी।

स्याद्विज्ञायेति जन्तुर्गतनिखिलमलं योभ्यधत्तेद्धबोधं
तं पूज्याः पूजयन्तु प्रशसितविपदं देवमाप्तं विमुक्त्यै॥ ६४९॥

अर्थ—सच्चा देव वही है और उसी का आदर सत्कार करना भी उचित है, जिसकी समस्त विपत्तियाँ नष्ट हो गई हैं और जिसने अपने समस्त वैदिक ज्ञान से इस संसारी जीव को कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता, स्वदेह परिमाण और पति शरीर विभिन्न यह सोच कर बतलाया कि यदि इसे अपने कर्मों का आप करने वाला न मानेंगे तो वह भोक्ता-उनके फलों को भोगने वाला नहीं हो सकता, यदि वर्तमान में जिसका जो शरीर है, उसके प्रमाण न मानकर विभु-सर्वव्यापी मानेंगे तो जो इष्ट-पदार्थों के वियोग से वियुक्त हो जाने के कारण इसे दुःखी देखते हैं, उसका बाध होने लगेगा। क्योंकि सब जगह व्याप्त रहने से इस जी का कभी किसी अवस्था में भी किसी से वियोग नहीं हो सकता और यदि हर एक शरीर में भिन्न-भिन्न जीव न मानकर समस्त शरीरों में एक ही मानेंगे तो एक को दूसरे के दुःख में दुःखी भी मानना पड़ेगा॥ ६४९॥

या रागद्वेषमोहान् जनयति हरते चारुचारित्ररत्नं
भिन्ते मानोच्चशैलं मलिनयति कुलं कीर्तिवल्लीं लुनीते।
तस्यां ये यान्ति नार्यामुपहतमनसाशक्तिमत्यन्तमूढा
देवाः कन्दर्पतप्ता ददति तनुमतां ते कथं मोक्षलक्ष्मीम्॥ ६५०॥

अर्थ—जो राग-द्वेष और मोह को उत्पन्न करने वाली होती हैं, मनुष्य के सुन्दर बहुमूल्य चरित्र-रत्न को बात ही बात में हर लेती हैं, मानरूपी विशाल पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर डालती हैं, कुल को मलिन कर देती हैं और कीर्ति रूपी लता को छिन्न-भिन्न कर उखाड़ डालती हैं, उनके वश में काम की पीड़ा से पड़कर जो लोग स्वयं अपनी शक्ति को खो बैठते हैं और हित-अहित के विचार से रहित-मूढ़ हो जाते हैं, वे सच्चे दूसरों को मुक्ति-सुख का मार्ग बतलाने वाले देव कैसे हो सकते हैं?

भावार्थ—जो स्वयं नित्य सुख से सुखी नहीं हैं, स्त्रियों के अनित्य इंद्रिय-विषय के दुःख स्वरूप सुख को ही जो सुख मानता है और नाना प्रकार से उनके वश हो खेद-खिन्न होता रहता है, वह दूसरों को नित्य आत्मिक सच्चा सुख दे सकेगा। यह बात कभी भी संभव नहीं हो सकती॥ ६५०॥

पीनश्रोणीनितम्बस्तनजघनघनभरक्रान्तमन्दप्रयाणा-
स्तारुण्योद्रेकरम्या मदनशरहताः कामिनीं ये भजन्ते।
स्थूलोपस्थस्थलीनां कुशलकरतलास्फाललीलाकुलास्ते
देवाः स्युश्चेज्जगत्यामिह वदत विदः कीदृशाः सत्यसन्तः॥ ६५१॥

अर्थ—जो स्त्रियाँ स्थूल श्रोणी, नितंब, स्तन और जघन के मार से आक्रांत हो मंद-मंद गमन वाली होती हैं और तारुण्य से मदमाती होने के कारण मनोहारिणी मालूम पड़ती हैं, उनको जो लोग काम के बाणों से घायल हो सर्वदा सेवते रहते हैं, उनकी ही लीला आदि में आसक्त रहते हैं, ऐसे विषयी, स्त्रियों के गुलाम लोग भी यदि देव कहे जायें-वे भी देव और सच्चे देव कहलाने के पात्र हों तो बतलाओ फिर दुर्जन-विषयी लोग कैसे होते हैं-वे भी फिर क्यों न सच्चे देव कहे जायें, उनकी भी विषयी आदि कहकर निंदा करना अनुचित है॥ ६५१॥

ये संगृह्यायुधानि क्षतरिपुरुधिरैः पिञ्जराण्याप्तरेखा
वज्रेष्वासासिचक्रकचहलगदाशूलपाशादिकानि।
रौद्रभ्रूभङ्गवक्त्राः सकलभवभृतां भीतिमुत्पादयन्ते
ते चेद्देवा भवन्ति प्रणिगदत बुधा लुब्धकाः के भवेयुः॥ ६५२॥

अर्थ—विद्वानों! हिताहित विचारशीलो! देखो! एक विचारने की बात है कि-संसार में जो लोग सर्वदा धनुष, खड्ग, क्रकच (आरा), हल, मूसल, शूल और पाश प्रभृति नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धारण किये रहते हैं, शत्रुओं के रुधिर से जिनके हाथ-पैर आदि अवयव रंगे रहते हैं, भौंहें टेढ़ी, तथा मुँह क्रूर रहता है और जिनसे समस्त पृथ्वी भय खाती रहती है, ऐसे पुरुषों को तो लुब्धक कहते हैं देव कोई नहीं कहता, यदि ऐसे ही दोष वाले भैंरों, काली प्रभृति कल्पित देवताओं को सच्चा देव कहा जाय तो बतलाओ फिर लुब्धक किसे कहेंगे।

भावार्थ—जो पुरुष हिंसक के से काम करते हैं, वे कभी भी अहिंसक-प्राणी मात्र पर दया करने वाले देव नहीं कहलाये जा सकते, क्योंकि जो जैसा काम करेगा, वह उसी नाम से अवश्य पुकारा जायेगा। यदि विपरीत मानोगे हिंसक को अहिंसक कहोगे तो फिर हिंसक शब्द का अर्थ ही दुनियां से उठ जायेगा, हिंसक किसी को कह ही नहीं सकोगे, इसलिये दोषी को देव न मानना ही ठीक है॥ ६५२॥

व्याध्याधिव्याधकीर्णे विषयमृगगणे कामकोपादिसर्पे
दुःखक्षोणीरुहाढ्ये भवगहनवने भ्राम्यते येन जीवः।
ये तत्स्त्रीमद्यमांसत्रयमिदमधिपा निन्दनीयं भजन्ते
देवाश्चेत्तेऽपि पूज्या निगदत सुधियो निन्दिता के भवेयुः॥ ६५३॥

अर्थ—जिन कर्मों को करने से स्त्री, मद्य, मांस और मदिरा-सेवन करने से यह जीव आधि-व्याधिरूप व्याधों से संकीर्ण, इंद्रिय विषय-रूपी मृगों से सेवित, काम-कोप प्रभृति सर्पों से आकुलित और दुःख रूपी वृक्षों से घनीभूत संसार रूपी गहन वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है और उसके असह्य वेदना रूप फलों को चखता रहता

है, उन्हीं कर्मों के स्त्री मधु, मांस, मदिरा के सेवन करने वालों को ही यदि पूज्य, सत्कार्य देव कहा जायगा तो फिर संसार में निंदनीय पदार्थ ही क्या रह जायेगा—लोग जो मांसभक्षी प्रभृति की निंदा करते हैं, उनकी भी निंदा करनी व्यर्थ हो जायेगी।

भावार्थ—संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब सुख ही सुख चाहते हैं और दुःख से दूर भागने की कोशिश करते हैं, इसी नियम अथवा स्वभाव के अनुसार जिन पदार्थों से सुख पहुंचता है, उनकी तो वे प्रशंसा करते हैं और उनके ही ग्रहण करने की कोशिश करते हैं, परंतु जिन पदार्थों से दुःख पहुंचता है–जो दुःख देने में तनिक भी सहायता देते हैं, उन्हें निंदनीय समझते हैं और उनसे ही दूर होने का प्रयत्न अथवा उपदेश भी कहते हैं। स्त्री, मधु, मांस और मदिरा का सेवन जीवों को अनन्त दुःख देने वाले संसार में भटकाने वाला है, इसलिये वह सर्वथा निंद्य और त्याज्य है। परंतु जो पुरुष उनको ही सेवने वाला है–उनके ही रंग में रात-दिन रंगा रहता है, उस पुरुष को भी यदि लोग देव कहें और निर्दोष प्रशंसनीय मानें तो फिर न मालूम उनके मत में कौन ऐसा पदार्थ है जो निंदनीय हो और प्रशंसनीय न गिना जाये॥ ६५३॥

निद्राचिन्ताविषादश्रममदनमदस्वेदखेदप्रमाद-
क्षुद्रागद्वेष तृष्णामृतिजननजराव्याधिशोकस्वरूपाः।
यस्यैतेऽष्टादशापि त्रिभुवनभवभृद्व्यापिनः सन्ति दोषा-
स्तं देवं नाप्तमाहुर्नयनिपुणधियो मुक्तिमार्गाभिधाने॥ ६५४॥

अर्थ—जो नैगमादि नयों के जानकर विद्वान् हैं, वे निद्रा, चिंता, विषाद, श्रम, काम, मद, स्वेद, खेद, प्रमाद, क्षुधा, राग, द्वेष, तृष्णा, जन्म, मरण, जरा, व्याधि और शोक इन अठारह प्रकार के जगद्व्यापी दोषों से रहित आत्मा को आप्त कहते हैं और जिस आत्मा के इनमें से कोई भी दोष विद्यमान हैं, उसे मोक्ष-मार्ग के कथन में आप्त नहीं स्वीकार करते॥ ६५४॥

रक्तार्द्रेभेन्द्रकृत्तिं नटतिगणवृतो यः श्मशाने गृहीत्वा
निस्त्रिंशो मांसमत्ति त्रिभुवनभविनां दक्षिणेनाननेन।
गौरीगङ्गाङ्गसंगी त्रिपुरदहनकृद्दैत्यविध्वंसदक्ष-
स्तं रुद्रं रौद्ररूपं कथममलधियो निन्द्यमाप्तं वदन्ति॥ ६५५॥

अर्थ—लोग संसार में रौद्र रूप धारी रुद्र (महादेव) को सच्चा देव कहते हैं, परंतु यदि निष्पक्षपात दृष्टि से गुणों की तरफ लक्ष्य कर विचारा जाय तो वह किसी प्रकार भी सच्चा देव नहीं ठहर सकता। क्योंकि जिस रुद्र को वे देव कहकर पुकारते हैं वह उन्हीं के कथनानुसार मरघट भूमि में लोहलुहान गीले हस्ती के चर्म को ओढ़कर अपने गणों (साथियों) के साथ नाचता है। राक्षस समान निर्दयी हो दक्षिण मुख से तीनों

लोकों के प्राणियों के मांस को खाता है, सर्वदा गौरी (पार्वती) और गंगा के अंग का स्पर्श करता रहता है और तीनों पुरों के नाश के साथ-साथ दैत्यों के विध्वंस को अपना ध्येय समझता है, इसलिये ऐसा रुद्र स्वभावी, नट, निर्दयी मांसभक्षी, स्त्री सेवी पुरुष भी आप्त कहलाने का पात्र नहीं है, बल्कि निंदा के ही योग्य हैं॥ ६५५॥

त्यक्त्वा पद्मामनिन्द्यां मदनशरहतो गोपनारीं सिषेवे
निद्राविद्राणचित्तः कपटशतमयो दानवारातिघाती।
रागद्वेषावधूतो द्युपतिसुतरथे सारथिर्योऽभवत्तं
कुर्वाणं प्रेम नार्यां विटवदतिशयं नाप्तमाहुर्मुरारिम्॥ ६५६॥

अर्थ—यदि कृष्ण को सच्चा देव कहा जाये तो वह भी ठीक नहीं जँचता क्योंकि वह अपनी विवाहित पद्मा (लक्ष्मी) को छोड़कर काम के बाणों से आहत हो ग्वालों की स्त्रियों में रमण करने वाला है, सर्वदा निद्रा में ही निद्रित रह कर भ्रांतचित्त रहता है, सैकड़ों कपटों को करने वाला है, दानवों का घातक है, राग द्वेष से मलिन है और अर्जुन के रथ का सारथी है इसलिये स्त्रियों में अतिशय अनुराग करने वाले विट के समान उसे भी सच्चा देव नहीं कह सकते॥ ६५६॥

यः कन्तूत्तप्तचित्तो विकलितचरणोऽष्टार्धवक्त्रत्वमापन्-
नानानाट्यप्रयोगत्रिदशपतिवधूदत्तवीक्षाकुलाक्षः।
क्रुद्धश्चिच्छेद शंभुर्वितथवचनतः पञ्चमं यस्य वक्त्रं
स ब्रह्माप्तोऽतिदीनः प्रणिगदत कथं कथ्यते तत्त्वबोधैः॥ ६५७॥

अर्थ—ब्रह्मा को यदि कहें कि वह सच्चा देव है तो यह भी अनुचित ही बैठता है, क्योंकि वह काम के बाणों से संतप्तचित्त हो अपने ब्रह्मचर्य-व्रत को तिलांजलि दे चार मुखवाला हो गया है, स्वर्ग की इन्द्राणी और देवांगनाओं के नाना नाट्यों और हाव-भावों के देखने में सर्वदा लालायित रहता है एवं मिथ्या वचन बोल महादेव के द्वारा अपना पांचवाँ शिर कटा बैठा है, इसलिये कामी मिथ्याभाषी और अन्य द्वारा तिरस्कृत होने से वह भी आप्त नहीं हो सकता॥ ६५७॥

यो भ्रान्त्वोदेति कृत्वा प्रतिदिनमसुरैर्विग्रहं व्याधिबिद्धो
यो दुर्वारेण दीनो भयचकितमना ग्रस्यते राहुणा च।
मूढो विध्वस्तबोधः कुसुमशरहतः सेवते कामिनीं यः
सन्तस्तं भानुमाप्तं भवगहनवनच्छित्तये नाश्रयन्ति॥ ६५८॥

अर्थ—सूरज को यदि आप्त कहा जाय तो वह भी निद्रा-चिंता आदि अठारह दोषों से रहित न होने के कारण सच्चा देव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह (सूरज)

सर्वदा भ्रमण करते रहने के कारण भ्रांतशील है, असुरों के साथ लड़ाई करने से व्याधि संयुक्त है, अनिवार्य वेग वाले राहु से ग्रसा जाने के कारण दीन और भीत चित्त है, कामदेव के बाणों से आहत होने के कारण ज्ञान-शून्य मूढ़ है और स्त्रियों की सेवा करने वाला है, इसलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे मुक्ति-सुख के पाने की इच्छा से कभी भी सूरज की सेवा-भक्ति नहीं करते॥ ६५८॥

मूढः कन्दर्पतप्तो वनचरयुवतो भग्नवृत्तः षडास्य-
स्तद्भार्यासक्तचित्तस्त्रिदशपतिरभूद्गोतमेनाभिशप्तः।
वह्निर्निःशेषभक्षी विगतकृपमना लाङ्गली मद्यलोलो
नैकोऽप्येतेषु देवो विगलितकलिलो दृश्यते तत्र रूपम्॥ ६५९॥

अर्थ—इनके सिवाय स्कंध को यदि देव माना जाये तो वह काम की पीड़ा से संतप्त हो जंगली भील की युवती में अपना शीलव्रत खो बैठने के कारण चरित्रभ्रष्ट पापी है, स्वर्ग के अधिपति इंद्र को सच्चा देव कहकर पुकारें तो वह गोतम ऋषि के द्वारा उनकी स्त्री में आसक्त हो जाने के कारण अभिशप्त-कोसा गया है, अग्नि को यदि आप्त स्वीकार किया जाये तो वह समस्त पदार्थों का भक्षी निर्दयी निघृण है और यदि बलभद्र को आप्त होने पर पट्टा बांधा जाये तो वे रात-दिन मद्य को पीने में ही मग्न हैं, इसलिये इन पूर्वोक्त पुरुषों में किसी को भी निर्दोष आप्त नहीं कह सकते॥ ६५९॥

रागान्धाः पीनयोनिस्तनजघनभराक्रान्तनारीप्रसङ्गात्
कोपादारातिघाताः प्रहरणधरणाद् द्वेषिणो भीतिमन्तः।
आत्मीयानेकदोषाद् व्यवसितविरहाः स्नेहतो दुःखिनश्च
ये देवास्ते कथं वः शमयमनियमान् दातुमीशा विमुक्त्यै॥ ६६०॥

अर्थ—अंत में कहने का प्रयोजन इतना ही है कि भाइयो! जो अंधपरंपरा से स्वीकार किये गये देव हैं वे पीन योनि, स्तन और जघन के भार से नम्रीभूत स्त्रियों के राग में रंगे होने के कारण रागांध हैं, चेतन-शत्रुओं के नाशक होने से क्रोधी हैं, अस्त्र-शस्त्र के धारक होने से भयभीत और द्वेषी हैं, अनेक प्रकार के अपने दोषों से दूषित, विरहयुक्त और स्नेह से दुःखी हैं, इसलिये वे तुम्हें मोक्ष-मार्ग के उपयोगी शम, दम और नियम नहीं दे सकते॥ ६६०॥

पर्यालोच्यैवमत्र स्थिरपरमधियस्तत्त्वतो देहभाजः
संत्यज्यैतान् कुदेवांस्त्रिविधमलभृतो दीर्घसंसारहेतून्।
विध्वस्ताशेषदोषं जिनपतिमखिलप्राणिनामापदन्तं
ये वन्दन्तेऽनवद्यं मदनमदनुदं ते लभन्ते सुखानि॥ ६६१॥

अर्थ—इस प्रकार से कहे गये वास्तविक तत्त्व की आलोचनाकर जो पुरुष ज्ञानी है, वे मन, वचन, काय के दोषों से दूषित कुदेवों की संसार में भ्रमण करने वाली सेवा को तो सर्वथा छोड़ देते हैं और काम के प्रहारों को जीतने वाले, समस्त प्राणियों के हितैषी निर्दोष जिन देव की मुक्ति के लिये पूजा-भक्ति करते हैं, अतः उन्हें सर्व सुख प्राप्त होते हैं॥ ६६१॥

दृष्टं नम्रेन्द्रमन्दश्लथमुकुटतटीकोटिविश्लिष्टपुष्प-
भ्राम्यद्भृङ्गौघघोषैर्जिनपतिनुतये व्याहराख्यैर्जिनस्य।
पादद्वैतं प्रभूतं प्रसभभवभयभ्रंशि भक्त्यात्तचित्तै-
स्तैराप्तोक्तं विमुक्त्यै पदमपदमथ व्यापदामाप्तमाप्तम्॥ ६६२॥

अर्थ—जिन महापुरुषों ने विनम्र होते हुए इंद्रों के मुकुटों से विश्लिष्ट पुष्पों पर भ्रमण करने वाले, जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करने के लिये बुलाते हुए के समान शब्द करते हुए भ्रमरों से व्याप्त, भवभय को दूर करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को भक्तिभाव से देखा है, उन्होंने ही वास्तविक, आपत्तियों से रहित मुक्ति पद को पाया है॥ ६६२॥

नैषां दोषा मयोक्ता वचनपटुतया द्वेषतो रागतो वा
किं त्वेषोऽत्र प्रयासो मम सकलमिदं ज्ञातुमाप्तं विदोषम्।
शक्तो बोद्धुं न चात्र त्रिभुवनहितकृद्विद्यमाने परत्र
भानुर्नोदेति यावन्निखिलमपि तमो नावधूतं हि तावत्॥ ६६३॥

अर्थ—हमने जो ऊपर रुद्र आदि देवों की विवेचना की है, वह किसी राग या द्वेष के वशीभूत होकर नहीं की है और न अपनी वक्तृत्वशक्ति को दिखलाने की दृष्टि से ही की है, किंतु वास्तविक निर्दोष देव के स्वरूप को बतलाने की इच्छा से की है, क्योंकि जिस प्रकार सूरज जब तक अपने प्रतिपक्षी अंधकार का नाश नहीं कर लेता, तब तक कभी भी उदित नहीं होता, उसी प्रकार जब तक ईश्वर के गुण और दोषों का ठीक प्रकार से विचार नहीं कर लिया जाता, तब तक तीन लोकों का हितकारी वह ईश्वर भी सिद्ध नहीं होता॥ ६६३॥

॥ २७ ॥

गुरुविवेचन

जिनेश्वरक्रमयुगभक्तिभाविता
विलोकितत्रिभुवनतत्त्वविस्तराः।
षड्ढतान् षडिह गुणांश्चरन्ति ये
नमामि तान् भवरिपुभित्तये गुरून्॥ ६६४॥

अर्थ—जो वीतराग निर्दोष देव के चरण-कमलों की मन में भक्ति रखने वाले हैं, त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता हैं और छत्तीस गुणों को धारण करने वाले हैं, उन गुरुओं-मुनियों के चरणों को जन्म-मरण का नाश करने की इच्छा से बारंबार नमस्कार करता हूँ॥ ६६४॥

समुद्यतास्तपसि जिनेश्वरोदिते
वितन्वते निखिलहितानि निस्पृहाः।
सदा न ये मदनमदैरपाकृताः
सुदुर्लभा जगति मुनीशिनोऽत्र ते॥ ६६५॥

अर्थ—जो मुनि महाराज सर्वदा जिनेंद्रप्रतिपादित दोष-रहित तप तपते हैं, बिना किसी स्वार्थ के दूसरों का हित ही हित किया करते हैं और जिन पर काम का तीक्ष्ण बाण अपना तनिक भी प्रभाव नहीं जमा सकता वे महात्मा गुरु इस संसार में दुर्लभ हैं— कहीं-कहीं ही मिलते हैं॥ ६६५॥

वचांसि ये शिवसुखदानि तन्वते
न कुर्वते स्वपरपरिग्रहग्रहम्।
विवर्जिताः सकलममत्वदूषणैः
श्रयामि तानमलपदाप्तये यतीन्॥ ६६६॥

अर्थ—जो सर्वदा मोक्ष-कल्याण देने वाले ही वचन बोलते हैं, अपने और पराये चेतन-अचेतन सब प्रकार के परिग्रह को छोड़कर जो निस्पृह हो गये हैं और जो समस्त प्रकार के ममता के दोषों से रहित हैं, वे मुनि महाराज मुक्ति-मार्ग में आश्रय करने योग्य हैं, उनका ही मैं आश्रय लेता हूँ॥ ६६६॥

न बान्धवस्वजनसुतप्रियादयो
वितन्वते तमिह गुणं शरीरिणाम्।
विभिन्दतो भवभयभूरिभूभृतां
मुनीश्वरा विदधति यं कृपालवः॥ ६६७॥

अर्थ—संसार के मय रूपी पर्वत को चकनाचूर करने वाले और दयालु मुनिराज जितना जीवों का हित करते हैं उतना न तो कोई बांधव ही करता है और न स्वजन, परिजन, स्त्री, पुत्र आदि ही करते हैं, क्योंकि यदि बांधव आदि हित करना चाहें तो अधिक से अधिक उत्कृष्ट सांसारिक विभूति ही दे सकते हैं, अन्य पारमार्थिक नहीं, परंतु कृपालु मुनिराज तो अपने उपदेश के प्रभाव से नित्य अनंत मोक्ष के सुख तक दिला सकते हैं॥ ६६७॥

शरीरिणः कुलगुणमार्गणादितो
विबुद्ध्य ये विदधति निर्मलां दयाम्।
विभीरवो जननदुरन्तदुःखतो
भजामि तान् जनकसमान् गुरून् सदा॥ ६६८॥

अर्थ—जो मुनि महाराज योनि, गुणस्थान और मार्गणा आदि के भेदों से विभिन्न जीवों के भेद को भली प्रकार जानते हैं और उतने ही प्रकार के समस्त जीवों पर पिता के समान निर्मल छल, कपट, स्वार्थ रहित दया दिखलाते हैं तथा संसार रूपी वन में भ्रमण करने से डरते रहते हैं, उन सद्गुरुओं को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ और उनका ही आश्रय भी लेता हूँ॥ ६६८॥

वदन्ति ये वचनमनिन्दितबुधैरपीडकं सकलशरीरधारिणाम्।
मनोहरं रहितकषायदूषणं भवन्तु मे मम गुरवो विमुक्तये॥ ६६९॥

अर्थ—जो महात्मा पुरुष सर्वदा शास्त्र से अविरुद्ध समस्त प्राणियों के बाधक न होकर हितकर, काम, क्रोध आदि के आवेशों से अदूषित और मनोहर वचन बोलते हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं और उनका ही मुक्ति-मार्ग में सहारा लेना भी उचित है॥ ६६९॥

न लाति यः स्थितपतितादिकं धनं पुराकरक्षितिधरकाननादिषु।
त्रिधा तृणप्रमुखमदत्तमुत्तमो नमामि तं जननविनाशिनं गुरुम्॥६७०॥

अर्थ—जो मुनि महाराज नगर, पुर, खान, पर्वत और वन, प्रभृति स्थानों में रक्खी, गिरी, पड़ी, बिना दी गई तृण आदि वस्तु को मन, वचन, काय-तीनों से न तो कभी स्वयं ग्रहण करते हैं और न कभी दूसरों को ही उठा कर दे देते हैं, वे जन्म, जरा के नाशक मुनिराज वास्तविक गुरु हैं॥ ६७०॥

त्रिधा स्त्रियः स्वसृजननीसुतासमा
विलोक्यते ये कथनविलोकनादितः।
पराङ्मुखाः शमितकषायशत्रवो
यजामि तान् विषयविनाशिनो गुरून्॥ ६७१॥

अर्थ—जो मुनिराज मन, वचन और काय से जो हमसे छोटी स्त्रियाँ हैं वे तो हमारी पुत्री हैं, जो बराबर की हैं वे हमारी बहिनें हैं और जो बड़ी हैं, वे हमारी मातायें हैं—यह समझते हैं, पाप की इच्छा से उनको देखना, स्पर्श करना आदि नहीं करते और जो इंद्रिय-विषयों के शत्रु शांत कषायी हैं वे ही वास्तविक गुरु हैं॥ ६७१॥

परिग्रहं द्विविधमथ त्रिधापि ये
न गृह्णते तनुममताविवर्जिताः।
विनिर्मलस्थिरशिवसौख्यकाङ्क्षिणो
भवन्तु ते मम गुरवो भवच्छिदः॥ ६७२॥

अर्थ—जो तपस्वीगण मोक्ष पाने की अभिलाषा से चेतन, अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रहों का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग कर देते हैं। शरीर में किसी प्रकार का ममत्वभाव नहीं रखते—निर्मल और अविनाशी मोक्ष सुख के आकांक्षी होते हैं एवं संसार का नाश करते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं॥ ६७२॥

विजन्तुके दिनकररश्मिभाषिते
व्रजन्ति पथि दिवसे युगेक्षणाः।
स्वकार्यतः सकलशरीरधारिणां
दयालवो ददति सुखानि तेऽङ्गिनाम्॥ ६७३॥

अर्थ—जो मुनिगण काम पड़ जाने पर सूरज के प्रकाशित हो जाने के बाद जूड़ा प्रमाण (साढ़े तीन हाथ) पृथ्वी शोधकर जीव-जंतुरहित प्रदेश में सावधानी से गमन करते हैं और समस्त जीवों पर दयाकर अपनी क्रियाओं से उन्हें सुख पहुचाते हैं, वे ही वास्तविक गुरु हैं॥ ६७३॥

दिगम्बरा मधुरमपैशुनं वचः
श्रुतोदितं स्वपरहितावहं मितम्।
ब्रुवन्ति ये गृहिजनजल्पनोज्झितं
भवारितः शरणमितोऽस्मि तान् गुरून्॥ ६७४॥

अर्थ—जो तपस्वी, दिगंबर—वस्त्रादि शरीर के आवरणों से रहित नग्न जातरूप होते हैं, दूसरों को दुःखित न करने वाले मीठे, शास्त्र-विहित, स्वपरहितकारक परिमित

वचन बोलते हैं सर्वथा विकथाओं से दूर रहते हैं—पापवर्द्धक सांसारिक कथाओं का कभी भी वर्णन नहीं करते, वे ही सच्चे गुरु हैं, उनका मैं संसार रूपी वैरी से डरकर आश्रय लेता हूँ॥ ६७४॥

स्वतो मनोवचनशरीरनिर्मितं समाशयाः कटुकरसादिकेषु ये।
न भुञ्जते परमसुखैषिणोऽशनं मुनीश्वरा मम गुरवो भवन्तु ते॥ ६७५॥

अर्थ—कटुक मिष्ट प्रभृति समस्त रसों में समान अभिप्राय रखने वाले मोक्ष के अभिलाषी जो मुनि लोग स्वयं मन, वचन, काय-से बनाये गये आहार को कभी नहीं ग्रहण करते और सर्वदा परकृत अनुद्दिष्ट दोष-रहित ही आहार को उदरगर्त्त के पूरण करने के लिये ग्रहण करते रहते हैं, वे ही वास्तव में सद्गुरु हैं॥ ६७५॥

शनैः पराविकृतिपुरः सरस्य
ये विमोक्षणग्रहणविधिं वितन्वते।
कृपापरा जगति समस्तदेहिनां
धुनन्ति ते जननजराविपर्ययान्॥ ६७६॥

अर्थ—जो मुनिगण कमंडलु आदि उपकरणों को देखभाल कर धीरे से उठाते और रखते हैं एवं समस्त प्राणियों पर दया करने वाले हैं, वे मुनिराज समस्त जन्म-जरा के दुःखों को मिटा देते हैं॥ ६७६॥

सविस्तरे धरणितलेऽविराधके निरीक्षते परजनतापिना ऋते।
त्यजन्ति ये तनुमलमङ्गिवर्जिते यतीश्वरा मम गुरवो भवन्ति ते॥६७७॥

अर्थ—जो (पृथ्वी तल) खुला हुआ हो, किसी प्रकार की विराधना करने वाला न हो, जीवों के सहवास से रहित हो अर्थात् जहाँ पर जीव आकर आश्रय न लेते हों और चींटी आदि जीवों से रहित हो ऐसे पृथ्वीतल पर जो मुनि गण मूत्र आदि मलों का त्याग करते हैं, वे ही मुनि हमारे सच्चे गुरु हैं॥ ६७७॥

मनःकरी विषयवनाभिलाषुको
नियम्य यैः शमयमशृंखलैर्दृढम्।
वशीकृतो मननशिताङ्कुशैः सदा
तपोधना मम गुरवो भवन्तु ते॥ ६७८॥

अर्थ—जिन्होंने इंद्रिय-विषय रूपी वन में दौड़ने वाले अपने मन रूपी हस्ती को शमयमरूपी सांकलों से बांधकर ज्ञानरूपी अंकुश से अपने अधीन कर लिया और उसे अहित में प्रवृत्त न होने दिया, वे मुनिराज गुरु माने जाने के योग्य हैं॥ ६७८॥

न निष्ठुरं कटुमनवद्यवर्धनं
वदन्ति ये वचनमनर्थमप्रियम्।
समुद्यता जिनवचनेषु मौनिनो
गुणैर्गुरून् प्रणमत तान् गुरून् सदा॥ ६७९॥

अर्थ—न तो कभी जो निष्ठुर कटु ही वचन बोलते हैं और न शास्त्र-विरुद्ध पाप-पुंज को बढ़ाने वाले अनर्थ स्वरूप अप्रिय वाक्यों का ही प्रयोग करते हैं, वे सर्वज्ञ वीतराग भगवान् के उपदिष्ट तत्त्वों के अनुसार चलने वाले, मौनी, गुणों से गुरु मुनि वास्तव में गुरु हैं॥ ६७९॥

न कुर्वते कलिलविवर्धकक्रियाः
सदोद्यताः शमयमसंयमादिषु।
रता न ये निखिलजनक्रियाविधौ
भवन्तु ते मम हृदये कृतास्पदाः॥ ६८०॥

अर्थ—जो न तो पाप के समूह को एकत्र करने वाली निंद्य क्रियाओं को ही करते हैं और न संसारी पुरुषों की संसार में भटकाने वाली विधियों में सम्मिलत होते हैं, किन्तु सर्वदा अपने शम, यम, संयम आदि तपों को करने में ही लगे रहते हैं, वे सच्चे श्रेष्ठ गुरु हमारे हृदय में सर्वदा विराजमान रहें॥ ६८०॥

शरीरिणामसुखशतस्य कारणं तपोदयाशमगुणशीलनाशनम्।
जयन्ति ये धृतिबलतोक्षवैरिणं भवन्तु ते यतिवृषभा मुदे मम॥६८१॥

अर्थ—संसार में जो प्राणियों को सैकड़ों दुःख उत्पन्न करने वाले हैं और जिनके ही कारण तप, दया, शम, शील आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं, उन आत्मा के वास्तविक बैरी इंद्रिय-विषयों को भी जो मुनि अपने धैर्यबल से जीत लेते हैं, वे ही गुरुओं में श्रेष्ठ गुरु कहे जाते हैं और वे मेरे मन की प्रसन्नता करें॥ ६८१॥

वृषं चितं व्रतनियमैरनेकधा
विनिर्मलस्थिरसुखहेतुमुत्तमम्।
विधुन्वते झटिति कषायवैरिणो
विनाशकानमलधियः स्तुवे गुरून्॥ ६८२॥

अर्थ—जिन कषाय (काम, क्रोध, मान, माया, लोभ) बैरियों के प्रबल प्रताप से बहुत समय से अनेक प्रकार के व्रत, नियम प्रभृति द्वारा संचित, निर्मल और निश्चल सुख प्रदान करने वाला शुभ श्रेष्ठ धर्म बात ही बात में नष्ट हो जाता है, उन बैरियों को भी जिन्होंने जीत लिया, वे ही निर्मल ज्ञान के धारक मुनिराज वास्तव में गुरु हैं और उनकी मैं स्तुति करता हूँ॥ ६८२॥

विनिर्जिता हरिहरवह्निजादयो
विभिन्दता युवतिकटाक्षतोमरैः।
मनोभुवा परमबलेन येन तं
विभिन्दतो नमत गुरून् शमेषुभिः॥ ६८३॥

अर्थ—जिस काम ने अपने तीक्ष्ण किन्तु कोमल युवतियों के कटाक्षरूपी तोमरों (अस्त्र विशेषों) से हरिहर और स्कन्द प्रभृति अपरिमित शक्तिशालियों के भी छक्के छुड़ा दिये—उन्हें भी जीत कर अपने वश में कर लिया, उस सर्वविजेता (काम) को भी जिन्होंने अपने शांतिरूपी बाणों के प्रहार से परास्त कर अपना दास बना लिया, वे वास्तविक सद्गुरु हैं और वे ही नमस्कार करने योग्य हैं॥ ६८३॥

न रागिणः क्वचन न रोषदूषिता न मोहिनो भवभयभेदनोद्यताः।
गृहीतसंमननचरित्रदृष्टयो भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधनाः॥ ६८४॥

अर्थ—न तो जो किसी पदार्थ के विषय में राग ही करने वाले हैं, न रोष से ही दूषित हैं और न अज्ञानी मूढ ही हैं, किंतु सर्वदा जन्म-मरण का भेदन करने वाले हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही धारण किये रहते हैं—उनको ही पालने में दत्तचित्त रहते हैं, वे ही तपोधन मुनि वास्तव में गुरु कहलाने के योग्य हैं॥ ६८४॥

सुखासुखस्वपरवियोगयोगिता-
प्रियाप्रियव्यपगतजीवितादिभिः।
भवन्ति ये सममनसस्तपोधना
भवन्तु ते मम गुरवो भवच्छिदः॥ ६८५॥

अर्थ—जो तपस्वीगण सुख-दुःख में, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग में, शत्रु-मित्र में, नाश और जीवन में समान चित्त वाले होते हैं, सबको एक-सा ही समझते हैं, वे भव-संसार के छेदन करने वाले हैं और वे ही सच्चे गुरु हैं॥ ६८५॥

जिनोदिते वचसि रता वितन्वते
तपांसि ये कलिकलङ्कमुक्तये।
विवेचकाः स्वपरमतस्य तत्त्वतो
हरन्तु ते मम दुरितं मुमुक्षवः॥ ६८६॥

अर्थ—जो सर्वदा जिनेंद्र के वचनों में ही रत रहते हैं, कर्म-कलंक से मुक्ति पाने के लिये सर्वज्ञोक्त तप तपते हैं और जो वास्तविक रूप से स्वपर की विवेचना करने में प्रवीण रहते हैं, वे मोक्षसुख पाने के इच्छुक मुनीश्वर हमारे पापों का हरण करें॥ ६८६॥

अवन्ति ये जनकसमा मुनीश्वराश्चतुर्विधं गणमनवद्यवृत्तयः।
स्वदेहवद्दलितमदाष्टकारयो भवन्तु ते मम गुरवो भवान्तकाः॥६८७॥

अर्थ—निष्पाप क्रिया वाले जो मुनीश्वर चारों प्रकार के मुनि-संघ की पिता के समान हित होकर रक्षा करते हैं, निर्मल चरित्र को धारण करने वाले हैं और जिन्होंने अपने कट्टर शत्रु, ज्ञान मद आदि आठ प्रकार के मदों को समूल नष्ट कर दिया है, वे सद्गुरु संसार का नाश करने वाले हों॥ ६८७॥

वदन्ति ये जिनपतिभाषितं वृषं वृषेश्वराः सकलशरीरिणां हितम्।
भवाब्धितस्तरणमनर्थनाशनं नयन्ति ते शिवपदमाश्रितं जनम्॥६८८॥

अर्थ—जो स्वयं धर्मात्मा होने के साथ-साथ दूसरों को भी जिनेन्द्र प्रतिपादित श्रेष्ठ सर्वहितकारी धर्म का उपदेश देते हैं, वे मुनीश्वर सद्गुरु हैं और वे ही संसार से तार कर लोगों को अनर्थों के नाश करने वाले मोक्ष-सुख का लाभ कराते हैं॥ ६८८॥

तनूभृतां नियमतपोव्रतानि ये
दयान्विता ददति समस्तलब्धयः।
चतुर्विधे विनयपरा गणे सदा
दहन्ति ते दुरितवनानि साधवः॥ ६८९॥

अर्थ—जो समस्त लब्धियों के धारक मुनीश्वर स्वयं धारण करके तथा उपदेश द्वारा जीवों को मोक्ष-प्राप्ति के लिये नियम, तप और व्रतों का शिक्षण देते हैं, वे चार प्रकार के गण (यति, मुनि, ऋषि, अनगार) में सदा यथा योग्य विनय करने वाले मुनीश्वर पापों का हरण करते हैं॥ ६८९॥

॥ २८ ॥

धर्मनिरूपण

अवति निखिललोकं यः पितेवादृतात्मा
दहति दुरितराशिं पावको वेन्धनौघम्।
वितरति शिवसौख्यं हन्ति संसारशत्रुं
विदधति शुभबुद्ध्या तं बुधा धर्ममत्र॥ ६९०॥

अर्थ—संसार में वह धर्म वास्तविक धर्म कहलाने के योग्य है और उसी का विद्वान् लोगों को शुभ बुद्धि से आश्रय भी करना चाहिये, जो पिता के समान समस्त छोटे, बड़े, अमीर, गरीब जीवों की रक्षा करता है, अग्नि के समान पाप कर्म रूपी ईंधन को जला डालता है और संसार रूपी शत्रु का नाश कर मोक्ष सुख को देता है॥ ६९०॥

जननजलधिमज्जज्जन्तुनिर्व्याजमित्रं
विदधति जिनधर्मं ये नरा नादरेण।
कथमपि नरजन्म प्राप्य पापोपशान्ते-
र्विमलमणिमनर्घ्यं प्राप्य ते वर्जयन्ति॥ ६९१॥

अर्थ—संसार रूपी समुद्र में कभी उछलते और कभी डूबते हुए जीवों का जो निर्व्याज—बिना किसी स्वार्थ के मित्र—सहायक है, उस जिन धर्म को जो लोग महान् पाप की शांति होने से किसी प्रकार पाये गये मनुष्य जन्म में भी आदर की दृष्टि से नहीं देखते—उसका आचरण नहीं करते, वे निर्मल अमूल्य मणि को पाकर भी मूर्खता वश छोड़ देते हैं॥ ३९१॥

वदति निखिललोकः शब्दमात्रेण धर्मं
विरचयति विचारं जातु नो कोऽपि तस्य।
व्रजति विविधभेदं शब्दसाम्येऽपि धर्मो
जगति हि गुणतोऽयं क्षीरवत्तत्त्वतोऽत्र॥ ६९२॥

अर्थ—संसार में जितने मनुष्य हैं, वे सब ही धर्म-धर्म कहकर धर्म की तरफ अपनी रुचि जाहिर करते हैं, परंतु वे कभी भी उसके सच और झूठ होने का विचार नहीं करते, क्योंकि सच्चे और झूठे दोनों ही धर्म शब्दों से समान होने पर भी परस्पर में

बहुत ही विभिन्नता रखते हैं। देखो! जिस प्रकार शुद्ध और जल-मिश्रित दुग्ध दोनों ही रूप में सफेदी-सफेदी में समान ही मालूम पड़ते हैं, परंतु पीने पर दोनों में बड़ा भारी भेद ज्ञात होने लगता है, उसी प्रकार सच्चे और झूठे दोनों ही धर्म ऊपर से तो एक से-समान सुखदायी मालूम पड़ते हैं, परंतु विचारने पर उनमें बड़ा भारी अन्तर निकलता है, इसलिये अपने (आत्मा का) हित चाहने वालों को सद्-असद् का अवश्य विचार करना चाहिये॥ ६९२॥

सततविषयसेवाविह्वलीभूतचित्तः
शिवसुखफलदातृप्राण्यहिंसां विहाय।
श्रयति पशुबधादिं यो नरो धर्ममज्ञः
प्रपिबति विषमुग्रं सोऽमृतं वै विहाय॥ ६९३॥

अर्थ—बहुत से लोग सर्वदा इंद्रिय-विषयों के सेवन में ही लगे रहने के कारण पशुबध आदि पाप कार्यों को ही धर्म कहते हैं और उसे ही अपना हित ध्येय समझ कर सर्वदा करते रहते हैं। उन पर उस हिंसा का इतना गहरा प्रभाव पड़ जाता है कि वे वास्तव में मोक्ष सुख देने वाले अहिंसा धर्म को सर्वथा छोड़ ही बैठते हैं और उससे अमृत को छोड़कर विष पीने वाले मनुष्य के समान दुःख उठाते फिरते हैं।

भावार्थ—समस्त प्राणियों पर दयाकर उनकी रक्षा करना तो वास्तव में महान् धर्म है, पर उसको छोड़ कर जो जीवों को दुःख देने वाले और स्वयं को भी दुःखी करने वाले हिंसा-अधर्म का आचरण करते हैं, वे उस मनुष्य के समान हैं, जो अमृत को छोड़कर विष पीता है और उससे अपने प्राणों का संहार कर अपने कुटुंबियों का भी सर्वनाश करता है-उन्हें अपने वियोग से दुःख पहुँचाता है॥ ६९३॥

पशुबधपरयोषिन्मद्यमांसादिसेवा
वितरति यदि धर्मं सर्वकल्याणमूलम्।
निगदत मतिमन्तो जायते केन पुंसां
विविधजनितदुःखा श्वभ्रभूर्निन्दनीया॥ ६९४॥

अर्थ—पशुओं का बध, मांस का भक्षण, परस्त्री का सेवन, मद्य का पान प्रभृति असत्कार्यों को करने से यदि धर्म होता है और उससे सांसारिक, पारमार्थिक समस्त कल्याणों की प्राप्ति होती है तो फिर हे बुद्धिमानों! बतलाओ! निंदनीय नाना दुःखों से परिपूर्ण नरक और तिर्यक्-भव किन कारणों से होते हैं, क्योंकि सत्-श्रेष्ठ कार्य से श्रेष्ठ की और अश्रेष्ठ कार्य से अश्रेष्ठ की उत्पत्ति होना तो युक्ति-युक्त है, परंतु अश्रेष्ठ से श्रेष्ठ की उत्पत्ति बिलकुल ही ठीक नहीं, इसलिये मानो कि हिंसा से धर्म न होकर अहिंसा से ही होता है और उसी का आचरण करना भी युक्त है॥ ६९४॥

विचरति गिरिराजो जायते शीतलोऽग्नि-
स्तरति पयसि शैलः स्याच्छशी तीव्रतेजाः।
उदयति दिशि भानुः पश्चिमायां कदाचिन्-
न तु भवति कदाचिज्जीवघातेन धर्मः॥ ६९५॥

अर्थ—एक बार चाहे हिमालय चल-विचल हो जाय, अग्नि शीतल बन जलाना छोड़ दे, पानी में पत्थर न डूबे, बल्कि तैर निकले, चंद्रमा अपनी शीतलता छोड़ उष्णता धारण कर ले और सूरज पूर्व दिशा को छोड़ कर पश्चिम दिशा से उगना प्रारंभ करदे, परंतु जीवों को पीड़ा देने से-उनके प्राणों को लेने से धर्म कभी भी नहीं हो सकता। समस्त असंभव बातों का संभव हो जाना संभव है, परंतु हिंसा से धर्म होना किसी तरह संभव नहीं॥ ६९५॥

विगलितधिषणोऽसावेकदा हन्ति जीवान्
वदति वितथवाक्यं द्रव्यमन्यस्य लाति।
परयुवतिमुपास्ते संगमङ्गीकरोति
भवति न वृषमात्रोऽप्यत्र सन्तो वदन्ति॥ ६९६॥

अर्थ—जो बुद्धि-भ्रष्ट हितअहित का विचार करने में अंधा होकर एक बार भी जीवों को सताता है, उनकी हिंसा करता है, मिथ्या वचन बोलता है, दूसरों का द्रव्य चुराता है, परस्त्री का संग करता है और तृष्णा के वश अपरिमित परिग्रह स्वीकारता है, उसके द्वारा जरा भी धर्म नहीं होता, वह सज्जनों की दृष्टि में पाप-उपार्जन करने वाला है और जो इन्हें कभी नहीं करता, वह धर्मात्मा है।

भावार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलता और परिग्रह का प्रमाण न रखना- ये पांच पाप हैं और इनसे विपरीत जो अहिंसा आदि हैं, वे धर्म हैं॥ ६९६॥

अतिकुपितमनस्के कोपनिष्पत्तिहेतुं
विदधति सति शत्रौ विक्रियां चित्ररूपाम्।
वदति वचनमुच्चैर्दुःश्रवं कर्कशादि
कलुषविकलता या तां क्षमां वर्णयन्ति॥ ६९७॥

अर्थ—यदि कोई क्रुद्ध होकर शत्रु के समान अपकार भी करने लगे और असत्य कठोर गाली-गलौज भी दे तो प्रत्यपकार की शक्ति होने पर भी जो अपने परिणामों में कलुषता नहीं आने देना है—बदले में गुस्सा या गाली गलौज नहीं करना है, वही क्षमा है और काम बिगड़ जाने पर या असामर्थ्य होने पर जो चुप्पी मारकर बैठ जाना है, वह क्षमा नहीं है॥ ६९७॥

व्रतकुलबलजातिज्ञानविज्ञानरूप-
प्रभृतिजमदमुक्तिर्या विनीतस्य साधोः।
अनुपमगुणराशेः शीलचारित्रभाजः
प्रणिगदत विनीता मार्दवत्वं मुनीन्द्राः॥ ६९८॥

अर्थ—जो स्वयं मार्दव गुण को धारण करने वाले मुनियों के इंद्र हैं, वे अनुपम अपरिमित गुणों को धारण करने वाले श्रेष्ठ चरित्र के धारक विनीत पुरुष के जो व्रत, कुल, बल, जाति ज्ञान, विज्ञान और सौंदर्य प्रभृति से जायमान मद का अभाव होना है, उसे मार्दव कहते हैं।

भावार्थ—ज्ञान आदि गुणों में घमण्ड करने के लायक होने पर भी जो घमण्ड नहीं करते, सबसे उद्दण्डता और उद्धतता-रहित विनीत भाव से बर्ताव करते हैं, वे ही वास्तव में मार्दव गुण के धारक हैं और जो कुछ भी लायक नहीं होने पर नम्रता दिखलाते हैं, वे नहीं हैं॥ ६९८॥

कपटशतनदीष्णैर्वैरिभिर्वंचितोऽपि
निकृतिकरणदक्षोऽप्यत्र संसार भीरुः।
तनुवचनमनोभिर्वक्रतां यो न याति
गतमलमृजुमानं तस्य साधोर्वदन्ति॥ ६९९॥

अर्थ—सैकड़ों छल करने में चतुर कपटी वैरियों द्वारा ठगाया गया भी जो माया करने में प्रवीण होने पर भी संसार भ्रमण से डरने के कारण उत्तर में मन, वचन और काय से वक्रता मायाचारी नहीं करता, वह वास्तव में आर्जव गुण को धारण करने वाला है।

भावार्थ—माया करने में समर्थ, रहने पर भी जो माया नहीं करना है, वह आर्जव है॥ ६९९॥

मदमदनकषायप्रीतिभूत्यादिभूतं
वितथमवितथं च प्राणिवर्गोपतापि।
श्रवणकटु विमुच्य श्वापदेभ्यो हितं यद्
वचनमवितथं तत्कथ्यते तथ्यबोधैः॥ ७००॥

अर्थ—जो काम, क्रोध, लोभ, माया, मद, प्रीति और विभूति आदि से उत्पन्न, प्राणियों को सताने वाले, श्रवण कटु, वास्तविक-अवास्तविक वचनों का त्याग कर जो श्वापदों तक को हित करने वाले वचनों का बोलना है, वह असत्य है।

भावार्थ—पर के अहित करने वाले वचनों का बोलना तो असत्य है और हितकारी वचनों को कहना सत्य है॥ ७००॥

दहति झटिति लोभो लाभतो वर्धमान-
स्तृणचयमिव वह्निर्यः सुखं देहभाजाम्।
व्रतगुणशमशीलध्वंसिनस्तस्य नाशः
प्रणिगदत मुमुक्षोः साधवः साधुशौचम्॥ ७०१॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि ईंधन के समूह को पाकर अधिक-अधिक बढ़ती जाती है और अपने में आये हुए पदार्थ को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार लोभ भी पदार्थों की ज्यों-ज्यों प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों बढ़ता चलता है और प्राणियों के पूर्व के सुख, व्रत, गुण, शम, और शील को तत्काल भस्म कर डालता है, इसलिये ऐसे लोभ को जो वश में कर लेना है, वही श्रेष्ठ शौच है।

भावार्थ—लोभ को जीत लेना, धन-धान्य आदि में तृष्णा न करना, शौच धर्म हैं॥ ७०१॥

विषयविरतियुक्तिर्या जिताक्षस्य साधो-
र्निखिलतनुमतां यद्रक्षणं स्यात्त्रिधापि।
तदुभयमनवद्यं संयमं वर्णयन्ते
मननरविमरीचिध्वस्तमोहान्धकाराः॥ ७०२॥

अर्थ—जो इद्रिय-विषयों से विरक्त होना और मन, वचन, काय से समस्त जीवों की रक्षा करना है, वह ही निर्दोष अंतरंग और बाह्य के भेद से दो प्रकार का संयम है, ऐसा ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से जिन्होंने समस्त अज्ञान अंधकार को नष्ट कर दिया है, वे मुनीश्वर कहते हैं॥ ७०२॥

गलितनिखिलसंगोऽनङ्गभङ्गप्रवीणो
विमलमनसि पूतं कमनिर्नाशनाय।
चरति चरितमर्च्यं संयतो यन्मुमुक्षु-
र्मथितसुकृतमान्द्यास्तत्तपो वर्णयन्ति॥ ७०३॥

अर्थ—मोक्ष पाने की अभिलाषा वाला जो मुनीश्वर समस्त धन, धान्य आदि परिग्रहों से रहित हो कर काम का नाशकर शुभ-अशुभ कर्मों के नाश करने के लिये अपने राग-द्वेष रहित पवित्र मन में जिस पूज्य आचरण का आचरण करता है, वही तप है—उसे ही पुण्य की मंदता को पुण्य और पाप को नष्ट कर चुकने वाले मुनीश्वर तपोधर्म कहते हैं॥ ७०३॥

जिनगदितमनर्थध्वंसि शास्त्रं विचित्रं
परममृतसमं यत्सर्वसत्त्वोपकारि।
प्रकटनमिह तस्य प्राणिनां यद् वृषाय
तमभिदधति शान्तस्त्यागधर्मं यतीन्द्राः॥ ७०४॥

अर्थ—अनर्थ का नाश करने वाले, सब जीवों के हितकर, अमृत के समान सुख देने वाले, सर्वज्ञ जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित शास्त्र का जो प्राणियों को धर्म की ओर झुकाने के लिये प्रगट करना है उपदेशादि द्वारा उसको प्रसिद्ध करना है, वह त्याग है॥ ७०४॥

यदिह जहति जीवाजीवजीवोत्थभेदात्-
त्रिविधमपि मुनीन्द्राः संगमङ्गेऽप्यसंगाः।
जननमरणभीता जन्तुरक्षानदीष्णा
गतमलमनसस्तत्स्यात्सदाकिञ्चनत्वम्॥ ७०५॥

अर्थ—संसार में परिग्रह तीन प्रकार के होते हैं—चेतन, अचेतन और चेतना-चेतन। जन्म-मरण के दुःख से भयभीत, अपने शरीर में भी ममता रहित और सर्व प्राणियों की रक्षा करने वाले पवित्र मन के धारक महामुनि का जो उक्त तीनों प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग देना है, वह आकिञ्चन्य धर्म है॥ ७०५॥

वरतनुरतिमुक्तेर्वीक्षमाणस्य नारीः-
स्वसृदुहितृसवित्रीसंनिभाःसर्वदैव।
जननमरणभीतेःकूर्मवत्संवृतस्य
गुरुकुलवसतिर्या ब्रह्मचर्यं तदाहुः॥ ७०६॥

अर्थ—सुंदर शरीर से भी प्रेम न करने वाले, सब प्रकार की स्त्रियों को माँ, बहिन बेटी के समान समझने वाले और कछुए के सदृश सर्वथा संवृत रहने वाले जन्म-मरण से भीत मुनियों का जो गुरुकुल में रहना है, वह ब्रह्मचर्य है॥ ७०६॥

जननमरणभीतिध्यानविध्वंसदक्षं
कषितनिखिलदोषं भूषणं देहभाजाम्।
इति दशविधमेनं धर्ममेनोविमुक्ता
विदितभुवनतत्त्वा वर्णयन्ते जिनेन्द्राः॥ ७०७॥

अर्थ—इसी प्रकार ऊपर कही गई रीति से जो क्षमा आदि दश बातें बतलाई गयी हैं, वे ही वास्तव में धर्म हैं उनके ही सेवन करने से जन्म-मरण के भय का नाश होता

है, राग-द्वेष आदि दोष दूर होते हैं, पापपुंज विलीन होता है और सब प्रकार के सुख मिलते हैं, ऐसा निष्पाप सर्वज्ञ देव ने कहा है॥ ७०७॥

हरति जननदुःखं मुक्तिसौख्यं विधत्ते
रचयति शुभबुद्धिं पापबुद्धिं धुनीते।
अवति सकलजन्तून् कर्मशत्रून्निहन्ति
प्रशमयति मनोर्यस्तं बुधा धर्ममाहुः॥ ७०८॥

अर्थ—जो जन्म-मरण के दुःख को दूर कर दे, नित्य निराबाध आत्मिक मोक्ष सुख प्रदान करे, शुद्ध शुभ बुद्धि उत्पन्न करदे, सर्वथा पाप बुद्धि भगा दे, सब जीवों की रक्षा करे धर्म-शत्रुओं का नाश कर दे और मन को शांति प्रदान करे, वह ही वास्तविक धर्म है॥ ७०८॥

विषयरतिविमुक्तिर्यत्र दानानुरक्तिः
शमयमदमशक्तिर्मन्मथारातिभङ्क्तिः।
जननमरणभीतिर्द्वेषरागावधूति-
र्भजत तमिह धर्मं कर्मनिर्मूलनाय॥ ७०९॥

अर्थ—जिस धर्म के धारण करने से इंद्रिय भोगों से विरक्ति हो जाय, दान करने में प्रेम हो निकले, शम, यम और दम को धारण करने की सामर्थ्य हो जाय, अपने वास्तविक शत्रु रूप काम का भंजन (नाश) हो निकले, जन्म-मरण से भय हो जाय, और राग द्वेष से रहितता प्रगट हो जाय, उसे ही वास्तविक धर्म कहते हैं एवं उसी का कर्मों के नाशार्थ सेवन भी करना चाहिये॥ ७०९॥

गुणितनुभृति तुष्टिं मित्रतां शत्रुवर्गे
गुरुचरणविनीतिं तत्त्वमार्गप्रणीतिम्।
जिनपतिपदभक्तिं दूषणानां तु मुक्तिं
विदधति सति जन्तौ धर्ममुत्कृष्टमाहुः॥ ७१०॥

अर्थ—जिस धर्म को धारण करने से गुणी मनुष्यों को देखने से संतुष्ट होना आ जाय, अपने शत्रुओं से भी मित्रता का व्यवहार करना सीख लिया जाय, सद्गुरुओं के चरणों में नम्रता करने की आदत पड़ जाय, वास्तविक तत्त्वों में गाढ़ श्रद्धा हो निकले, निर्दोष सर्वज्ञदेव के पदों में भक्ति का संचार हो जाये और दूषणों से रहित होने का भी अभ्यास पड़ जाये, उसे उत्कृष्ट धर्म कहते हैं॥ ७१०॥

मनति मनसि यः सज्ज्ञानचारित्रदृष्टीः
शिवपदसुखहेतून् दीर्घसंसारसेतून्।

परिहरति च मिथ्याज्ञानचारित्रदृष्टी-
र्भवति विगतदोषस्तस्य मर्त्यस्य धर्मः॥ ७११॥

अर्थ—जो मनुष्य जन्म-मरण के नाशक मोक्ष-सुख को प्रदान करने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र का मनन करता है और संसार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचरित्र का सर्वथा त्याग कर देता है, उसी के द्वारा धारण किया गया क्षमा आदि दश प्रकार का धर्म निर्दोष धर्म कहा जाता है॥ ७११॥

॥ २९ ॥

शोकनिराकरणनिरूपण

पुरुषस्य विनश्यति येन सुखं
वपुरेति कृशत्वमुपैत्यबलम्।
मृतिमृ(मि)च्छति मूर्च्छति शोकवश-
स्त्यजतैनमतस्त्रिविधेन बुधाः॥ ७१२॥

अर्थ—हे विद्वानों! शोक करना एक ऐसी बुरी वला है, जिसके फंदे में पड़ जाने से सुख का तो नाश हो जाता है, शरीर कृश-दुर्बल पड़ जाता है, अशक्ति आ जाती है, मूर्च्छा अपना प्रभाव जमा लेती है और मृत्यु के मुख में पहुँचने की प्रबल इच्छा जागृत हो उठती है अथवा मरण हो जाता है, इसलिये उसका मन, वचन, काय-तीनों से ही त्याग करना उचित है॥ ७१२॥

वितनोति वचः करुणं विमना विधुनोति करौ चरणौ च भृशम्।
रमते न गृहे न वने न जने पुरुषः कुरुते न किमत्र शुचा॥ ७१३॥

अर्थ—शोक के वशीभूत हो कर मनुष्य निर्मनस्क हो जाता है, दीन वचन बोल निकलता है, हाथ-पैरों को पटकता है और घर-बाहर, स्वजन-परजन किसी भी जगह शांति-लाभ नहीं करने पाता है। एवं शोक से मनुष्य क्या-क्या नहीं कर पड़ता॥ ७१३॥

उदितः समयः श्रयतेऽस्तमयं
कृतकः सकलो लभते विलयम्।
सकलानि फलानि पतन्ति तरोः
सकला जलधिं समुपैति नदी॥ ७१४॥

सकलं सरसं शुषिमेति यथा
सकलः पुरुषो मृतिमेति तथा।
मनसेति विचिन्त्य बुधो न शुचं
विदधाति मनागपि तत्त्वरुचिः॥ ७१५॥

अर्थ—जिस प्रकार जो समय आता है, वह अवश्य चला जाता है, जो उत्पन्न होता है, उसका अवश्य नाश होता है, जो फल लगते हैं वे पेड़ों से अवश्य गिरते हैं,

जितनी नदियाँ हैं, उतनी सब समुद्र को जाती हैं, जो सरस आर्द्र-गीले पदार्थ हैं, वे सब सूख जाते हैं, उसी प्रकार जितने मनुष्य जन्म लेते हैं, उतने सब ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इसलिये जो विद्वान् दूरदर्शी संसार की सच्ची हालत को जानने वाले पुरुष हैं, वे कभी भी शोक नहीं करते॥ ७१४॥ ७१५॥

स्वजनोऽन्यजनः कुरुते न सुखं
न धनं न वृषो विषयो न भवेत्।
विमतेः स्वहितस्य शुचा भविनः
स्तुतिमस्य न कोऽपि करोति बुधः॥ ७१६॥

अर्थ—शोक से विह्वल चित्त पुरुष स्वहित से वंचित रहता है, इसलिये वह न तो स्वजनों से ही सुख पाता है, न परजनों के संबंध से ही आनंदित होता है, न धन से ही किसी प्रकार की शांति का लाभ करता है और न किसी प्रकार का धर्म, ध्यान अथवा इंद्रिय-विषय का सेवन ही करता है, इसलिये किसी भी कार्य का न होने से सज्जन लोग कभी भी उसकी प्रशंसा नहीं करते॥ ७१६॥

स्वकरार्पितवामकपोलतलो विगते च मृते च तनोपि शुचम्।
भुवि यः सदने दहनेन हते खनतीह स कूपमपास्तमतिः॥ ७१७॥

अर्थ—जो पुरुष किसी अभीष्ट पदार्थ के वियोग हो जाने पर अथवा अपने किसी हितैषी की मृत्यु हो जाने पर बायें हाथ पर गाल रखकर शोक करते हैं, वे निर्बुद्धि घर में आग लगने पर उसके बुझाने के लिये कुआँ खोदते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदना व्यर्थ है क्योंकि जब तक वह कुआँ खुदकर तैयार होगा और दूसरा प्रतीकार न किया जायेगा, तब तक वह घर जल जायगा और जितना हम उसे अन्य प्रतीकार करने से बचा सकते थे, उतना भी न बचा सकेंगे, उसी प्रकार अनिष्ट कार्य के उत्पन्न हो जाने पर यदि हम संसार के स्वरूप का विचार आदि प्रतीकारों से मन को शांत न बनायेंगे और शोक को ही करते रहेंगे तो जो कुछ भी शांतिसुख था उससे भी हाथ धो बैठेंगे॥ ७१७॥

यदि रक्षणमन्यजनस्य भवेद्-
यदि कोऽपि करोति बुधः स्तवनम्।
यदि किञ्चन सौख्यमथ स्वतनो-
र्यदि कश्चन तस्य गुणो भवति॥ ७१८॥

यदि वाऽऽगमनं कुरुतेऽत्र मृतः
सगुणं भुवि शोचनमस्य तदा।

विगुणं विमना बहु शोचति यो
विगुणां स दशां लभते मनुजः॥ ७१९॥

अर्थ—शोक करने से यदि अन्य मनुष्य की रक्षा हो जाये अथवा शोक करने वाले की विद्वान् लोग प्रशंसा करें अथवा शोक करने वाले को अपने शरीर में कुछ सुख प्राप्त होता हो अथवा शोक करने से किसी गुण की प्राप्ति होती हो अथवा यदि प्राणियों के शोक करने से मरे हुए लोग जी जायें तब जो इनका शोक करना भी सार्थक है, परन्तु वह सब कुछ तो होता नहीं, इसलिये ऐसे विगुण—व्यर्थ शोक को जो मनुष्य करता है, वह वैसी ही विगुण-निर्गुण दशा को प्राप्त हो जाता है॥ ७१८-७१९॥

पथि पान्थगणस्य यथा व्रजतो भवति स्थितिरस्थितिरेव तरोः।
जननाध्वनि जीवगणस्य तथा जननं मरणं च सदैव कुले॥ ७२०॥

अर्थ—जिस प्रकार मार्ग में चलते हुए पुरुषों का वृक्ष के नीचे ठहरना और थोड़ी देर बाद वहां से चलना होता है, उसी प्रकार संसार रूपी मार्ग में आते जाते हुए जीवों का एक कुल (परिवार) में ठहरना—जन्म लेना और आयु के अंत हो जाने पर चलना-मरना होता है॥ ७२०॥

बहुदेशसमागतपान्थगणः प्लवमेकमिवैति नदीतरणे।
बहुदेशसमागतजन्तुगणः कुलमेति पुनः स्वकृतेन भुवि॥ ७२१॥

अर्थ—जिस प्रकार नाना देशों से आये हुए लोग नदी पार करने के लिये एक ही नाव पर बैठते हैं और काम सिद्ध हो जाने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं, उसी प्रकार पूर्वोपार्जित अपने-अपने कर्म के उदय से नाना देश-देशांतरों से आये हुए जीव इस पृथ्वी पर एक ही कुल में उत्पन्न होते हैं और आयु के अन्त में मरकर अपने-अपने कर्म के अनुसार जहाँ-तहाँ जा कर उत्पन्न होते हैं॥ ७२१॥

हरिणस्य यथा भ्रमतो गहने शरणं न हरेः पतितस्य मुखे।
समवर्तिमुखे पतितस्य तथा शरणं वत कोऽपि न देहवतः॥ ७२२॥

अर्थ—जिस प्रकार सघन वन में भ्रमण करते हुए हिरण को सिंह के मुख में पड़ जाने पर उससे कोई नही बचा सकता, उसी प्रकार संसार रूपी भयानक जंगल में घूमते हुए इस जीव को यमराज के मुख से कोई नहीं बचा सकता॥ ७२२॥

सगुणं विगुणं सधनं विधनं सवृषं विवृषं तरुणं च शिशुम्।
वनमध्यगताग्निसमोऽकरुणः समवर्तिनृपो न परित्यजति॥ ७२३॥

अर्थ—जिस प्रकार वन में लगी हुई अग्नि सूखे-गीले समस्त ही पदार्थों को जला डालती है, किसी को भी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार संसार रूपी वन में निर्दयी यमराज

भी गुणी, निर्गुणी, धनी, निर्धनी, धर्मात्मा, पापात्मा, युवा और बच्चा सब को ही अपनी आज्ञा में चलाता है, किसी को भी बिना मारे नहीं छोड़ता॥ ७२३॥

भुवि यान्ति हयद्विपमर्त्यजना गगने शकुनिग्रहशीतकराः।
जलजन्तुगणाश्च जले बलवान्समवर्तिविभुर्निखिले भुवने॥ ७२४॥

अर्थ—यमराज की गति सर्वत्र अप्रतिहत है, वह कहीं भी किसी के द्वारा रोकी नहीं जा सकती। देखो! मनुष्य हाथी, घोड़े आदि तो पृथ्वी पर ही चल सकते हैं, पक्षी, ग्रह, चंद्रमा आदि आकाश में ही गमन कर सकते हैं और जल के जंतु भी जल में ही अपनी गमन-शक्ति को लगा सकते हैं परन्तु एक यमराज ही ऐसा है जो कि क्या जल, क्या थल और क्या आकाश सब जगह ही अपनी गति-शक्ति को बेरोकटोक काम में लाता है॥ ७२४॥

विषयः स समस्ति न यत्र रवि-
र्न शशी न शिखी पवनो न तथा।
न स कोऽपि न यत्र कृतान्तनृपः
सकलाङ्गिविनाशकरः प्रबलः॥ ७२५॥

अर्थ—संसार में वे बहुत से देश हैं, जहां पर सूर्य-चंद्रमा की किरणें अपना प्रकाश नहीं फैला सकतीं—उनका वहाँ उदय नहीं होता एवं अग्नि, पवन का जहां नाम-निशान तक नहीं सुनाई देता, परन्तु ऐसा एक भी देश नहीं है, जहां पर समस्त प्राणियों का नाश करने वाला प्रबल यमराज न रहता हो, उसकी जहां आज्ञा न चलती हो॥ ७२५॥

इति तत्त्वधियः परिचिन्त्य बुधाः सकलस्य जनस्य विनश्वरताम्।
न मनागपि चेतसि संदधते शुचमङ्गयशः सुखनाशकरम्॥ ७२६॥

अर्थ—इसलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे समस्त पदार्थों और जीवों की विनश्वरता का विचार शरीर, यश और सुख के नाश करने वाले इस व्यर्थ के शोक को कदापि नहीं करते—वे उससे मन में अशांति नहीं उपजाते॥ ७२६॥

धनपुत्रकलत्रवियोगकरो धनपुत्रकलत्रवियोगमिह।
लभते मनसेति विचिन्त्य बुधः परिमुञ्चतु शोकमनर्थकरम्॥ ७२७॥

अर्थ—जिन मनुष्यों ने पूर्व जन्म में अपने कषायों के वश में होकर किसी के धन, धान्य, पुत्र, स्त्री आदि का वियोग किया है, वे मनुष्य कर्म द्वारा इस जन्म में अपने धन, धान्य पुत्र, स्त्री आदि से वियुक्त किये जाते हैं, इसलिये हे विद्वानों! अनर्थ को

करने वाले धन, धान्य आदि के वियोग से जायमान इस शोक को करना छोड़ दो॥ ७२७॥

यदि पुण्यशरीरसुखे लभते
यदि शोककृतौ पुनरेति मृतः।
यदि वास्य मृतौ स्वमृतिर्न भवेत्
पुरुषस्य शुचात्र तदा सफलम्॥ ७२८॥

अर्थ—शोक करने से यदि मनुष्य को पुण्य की प्राप्ति होती हो अथवा शरीर में कुछ सुख होता हो अथवा मरा हुआ आदमी फिर से जीवित होकर वापिस लौट आता हो अथवा उसके मरने पर फिर अपना कभी मरण न होता हो तब तो पुरुष का वह शोक करना सफल हो जाता परन्तु ऐसा तो आज तक न ही हुआ न हो ही सकता है, इसलिये शोकयुक्त होना व्यर्थ है॥ ७२८॥

अनुशोचनमस्तविचारमना विगतस्य मृतस्य च यः कुरुते।
स गते सलिले तनुते वरणं भुजगस्य गतस्य गतीः क्षिपति॥ ७२९॥

अर्थ—जो निर्बुद्धि पुरुष विनष्ट हुई चीज का अथवा मरे हुए पुरुष का विमनस्क होकर शोक करता है, वह जल के चले जाने पर मेंड बांधता है और गये हुए सांप की लीक को पीटता है।

भावार्थ—जिस प्रकार जल के चले जाने पर मेंड को बांधना व्यर्थ है और गये हुए सांप की लीक पीटना अनुचित है, उसी प्रकार वस्तु के नष्ट होने पर और मनुष्य के मर जाने पर शोक करना व्यर्थ है॥ ७२९॥

सुरवर्त्म स मुष्टिहतं कुरुते
सिकतोत्करपीडनमातनुते।
श्रममात्मगतं न विचिन्त्य नरो
भुवि शोचति यो मृतमस्तमतिः॥ ७३०॥

अर्थ—संसार में जो पुरुष मरे हुए मनुष्य का शोक करता है, वह उस मूर्ख की समानता करता है, जो अपने किये गये परिश्रम की तरफ कुछ भी ख्याल न कर आकाश को अपनी मुट्ठियों से मारता है और बालू को पेलकर तेल निकालना चाहता है।

भावार्थ—कितना भी परिश्रम किया जाये, परंतु आकाश को पीड़ा देना और बालू से तेल निकलना जिस प्रकार असंभव है, उसी प्रकार अनन्त अपरिमित भी शोक से मरे हुए मनुष्य को पुनः पा लेना असंभव है॥ ७३०॥

त्यजति स्वयमेव शुचं प्रवरः सुवचः श्रवणेन च मध्यमनाः।
निखिलाङ्गविनाशकशोकहतो मरणं समुपैति जघन्यजनः॥ ७३१॥

अर्थ—संसार में मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तममना (उत्तम मन वाले) मध्यममना (मध्यम मन वाले) और जघन्यमना (जघन्य मन वाले), उनमें जो उत्तम-मना हैं, वे तो स्वयं शोक करना छोड़ देते हैं, जो मध्यममना हैं, वे दूसरों के सुवचनों से प्रेरित हो कर शोक करना छोड़ देते हैं और जो जघन्यमना हैं, वे न तो स्वयं ही शोक करना छोड़ते हैं और न दूसरों के उपदेश से ही छोड़ देते हैं, बल्कि उसी के वश होकर अपने प्राण गवाँ बैठते हैं॥ ७३१॥

स्वयमेव विनश्यति शोककलिर्जननस्थितिभङ्गविदो गुणिनः।
नयनोत्थजलेन च मध्यधियो मरणेन जघन्यमतेर्भविनः॥ ७३२॥

अर्थ—जो जन्म-मरण की परिपाटी के ज्ञाता गुणी हैं, उनका तो शोक स्वयं ही नष्ट हो जाता है और जो मध्यम बुद्धि के धारक हैं, उनका रोने से वह नष्ट हो जाता है, परंतु जो अधम बुद्धि वाले मूर्ख हैं, उनका वह सिवाय मरने पर कभी नहीं छूटता—वे जब तक नहीं मरते—जीते रहते हैं तब तक शोकयुक्त ही बने रहते हैं॥ ७३२॥

विनिहन्ति शिरो वपुरार्तमना बहु रोदिति दीनवचाः कुशलः।
कुरुते मरणार्थमनेकविधिं पुरुशोकसमाकुलधीरवः॥ ७३३॥

अर्थ—जिन पुरुषों को शोक अधिक दबाता है—जो शोक से सर्वथा आकुलित हो जाते हैं, वे लोग आर्त्तचित होकर अपना माथा कूटते हैं, हाथ फैंकते हैं, दीन वचन बोलते हैं और यहां तक कि प्राण गंवाने के लिये भी नाना चेष्टायें करते हैं॥ ७३३॥

बहुरोदनताम्रतराक्षियुगः परिरूक्षशिरोरुहभीमतनुः।
कुरुते सकलस्य जनस्य शुचा पुरुषो भयमत्र पिशाचसमः॥ ७३४॥

अर्थ—शोक से ग्रस्त पुरुष की आँखें रोते-रोते लाल हो जाती हैं, केश रूखे इधर-उधर बिखरे रहते हैं और शरीर मैला-कुचैला भयंकर पड़ जाता है, इसलिये संपूर्ण मनुष्यों को वह पिशाच से ग्रस्त के समान भयभीत करता है॥ ७३४॥

परिधावति रोदिति पूत्कुरुते पतति स्खलति त्यजते वसनम्।
व्यथते श्लथते लभते न सुखं गुरुशोकपिशाचवशो मनुजः॥ ७३५॥

अर्थ—शोकरूपी प्रबल पिशाच के फंदे में पड़ा हुआ जीव दौड़ता है, रोता है, डकराता है, गिरता है, स्खलित होता है, कपड़े छोड़ देता है, दुःख पाता है, श्लथित होता है और तनिक भी सुख नही पाता है॥ ७३५॥

क्व जपः क्व तपः क्व सुखं क्व शमः
क्व यमः क्व दमः क्व समाधिविधिः।
क्व धनं क्व बलं क्व गृहं क्व गुणो
बत शोकवशस्य नरस्य भवेत्॥ ७३६॥

अर्थ—शोक से विह्वल चित्त पुरुष के न तो जप होता है, न तप होता है, न सुख होता है, न शांति होती है, न इंद्रिय दमन-होता है, न ध्यान होता है, न धन होता है, न बल होता है, न घर रहता है और न कोई अन्य गुण ही होता है॥ ७३६॥

न धृतिर्न मतिर्न गतिर्न रति-
र्न यतिर्न नतिर्न नुतिर्न रुचिः।
पुरुषस्य गतस्य हि शोकवशं
व्यपयाति सुखं सकलं सहसा॥ ७३७॥

अर्थ—जो पुरुष शोक से ग्रस्त होते हैं, उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, धृति (धैर्य) बिल्कुल नहीं रहता, गति किनारा कर जाती है, रति अपना रास्ता नापती है, यति (नम्रता) दूर भग जाती है, नुति चल देती है और रुचि एकदम नष्ट हो जाती है, इसलिये उस विचार के समस्त सुख अचानक कहीं विलीन हो जाते हैं।

भावार्थ—शोक-संयुक्त पुरुष बुद्धि, धैर्य, गमन, प्रेम, यम, दम, नम्रता, स्तुति और रुचि से सर्वथा रहित हो जाता है, इसलिये महान् दुःख भोगता है॥ ७३७॥

ददाति योऽन्यत्र भवे शरीरिणा-
मनेकधा दुःखमसह्यमायतम्।
इहैव कृत्वा बहुदुःखपद्धतिं
स सेव्यते शोकरिपुः कथं बुधैः॥ ७३८॥

अर्थ—जो दूसरे जन्म में भी प्राणियों को नाना प्रकार के असह्य दुःखों को भुगाता है और इस भव में भी नाना दुःख देता है, वह शोक रूपी शत्रु विद्वानों के द्वारा कभी भी सेवित नहीं होता, जो विद्वान् हैं, वे ऐसे शत्रु-शोक का सहारा नहीं लेते॥ ७३८॥

पूर्वोपार्जितपापपाकवशतः शोकः समुत्पद्यते
धर्मात्सर्वसुखाकराज्जिनमतान्नश्यत्ययं तत्त्वतः।
विज्ञायेति समस्तदुःखशकलामूलो भवोर्वीरुहः
संसारस्थितिवेदिभिर्बुधजनैः शोकस्त्रिधा त्यज्यते॥ ७३९॥

अर्थ—पूर्व में उपार्जन किये गये पाप के उदय होने से शोक की उत्पत्ति होती है और वह शोक समस्त सुख को करने वाले जिन धर्म को धारण करने से अवश्य ही नष्ट हो जाता है, ऐसा विचार कर जो विद्वान् लोग संसार की स्थिति के जानकार हैं, वे संपूर्ण दुःखरूपी मूल के धारक संसार के वृक्ष स्वरूप शोक को कभी भी नहीं करते, सर्वथा मन, वचन, काय से उसका त्याग ही कर देते हैं॥ ७३९॥

॥ ३० ॥

शौचनिरूपण

संसारसागरमपारमतीत्य पूतं
मोक्षं यदि व्रजितुमिच्छत मुक्तबाधम्।
तज्ज्ञानवारिणि विधूतमले मनुष्याः
स्नानं कुरुध्वमपहाय जलाभिषेकम्॥ ७४०॥

अर्थ—हे मनुष्यों! यदि तुम संसार-रूपी सागर को पारकर मोक्ष पाना चाहते हो तो जल के स्नान को छोड़कर पवित्र निर्मल ज्ञान रूपी जल में स्नान करना सीखो।

भावार्थ—जल में स्नान करने से अपवित्र शरीर पवित्र हो जाता है, आत्मा नहीं और शरीर की पवित्रता अपवित्रता से आत्मा का कुछ नहीं होता, इसलिये जिनको अपनी आत्मा शुद्ध करनी है—उससे यदि कर्ममल छुड़ाने हैं तो वे ज्ञानरूपी जल से स्नान करना प्रारंभ करें॥ ७४०॥

तीर्थेषु शुध्यति जलैः शतशोऽपि धौतं
नान्तर्गतं विविधपापमलावलिप्तम्।
चित्तं विचिन्त्य मनसेति विशुद्धबोधाः!
सम्यक्त्वपूतसलिलैः कुरुताभिषेकम्॥ ७४१॥

अर्थ—जो आत्मा पूर्वोपार्जित नाना पाप कर्मों के मल से अवलिप्त हो रही है, वह तीर्थों में सैकड़ों बार जलाभिषेक करने से कभी भी पवित्र नहीं हो सकती, इसलिये जो तत्त्वज्ञानी विशुद्ध बुद्धि के धारक हैं, उन्हें चाहिये कि पाप मल को धोने के लिये तीर्थ-स्नान को छोड़ कर सम्यग्दर्शन रूपी पवित्र जल से स्नान करें॥ ७४१॥

तीर्थाभिषेककरणाभिरतस्य बाह्यो
नश्यत्ययं सकलदेहमलो नरस्य।
नान्तर्गतं कलिलमित्यवधार्य संत-
श्चारित्रवारिणि निमज्जत शुद्धिहेतोः॥ ७४२॥

अर्थ—जो लोग तीर्थों में जा जाकर स्नान-अभिषेक करते हैं, उनके बाह्य शरीर के मल तो अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं, परंतु अंतरंग आत्मा के कर्ममल वैसे के वैसे ही

बने रहते हैं, इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिये कि वे आत्मा से कर्मफल छुड़ाने के लिये पवित्र चरित्र रूपी जल में स्नान करना सीखें॥ ७४२॥

सज्ज्ञानदर्शनचरित्रजलक्षमोर्मि
कुज्ञानदर्शनचरित्रमलावमुक्तम्
यत्सर्वकर्ममलमुग्जिनवाक्यतीर्थं
स्नानं विधद्ध्वमिह नास्ति जलेन शुद्धिः॥ ७४३॥

अर्थ—जो लोग अपनी आत्मा को वास्तव में पवित्र बनाना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे कुज्ञान, कुदर्शन और कुचरित्र रूपी मल से निर्मुक्त, क्षमारूपी मनोहर तरंगों से संयुक्त, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूपी जल से युक्त भगवान् जिनेंद्र के वचन रूपी तीर्थ में स्नान अभिषेक करें-उसी में तन्मय हो जायें और नदियों के जल में स्नान करने से आत्मा शुद्ध होता है, यह विचार छोड़ दें॥ ७४३॥

तीर्थेषु चेतक्षयमुपैति समस्तपापं
स्नानेन तिष्ठति कथं पुरषस्य पुण्यम्।
नैकस्य गन्धमलयोर्धुतयोः शरीरं
दृष्ट्वा स्थितिः सलिलशुद्धिविधौ समाने॥ ७४४॥

अर्थ—यदि नदियों के जल में स्नान करने से पाप-कर्म धुल जाते हैं, वे कुछ भी नहीं रहते तो पुण्य-कर्म कैसे बचे रहते हैं? अर्थात् वे भी समान रूप होने से धुलने चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार जल से धोने पर शरीर के सुगंध और दुर्गध दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, उनमें से एक भी नहीं रहता, उसी प्रकार जल में धोने की शक्ति होने से पाप-पुण्य दोनों ही धुलने चाहिये, एक का नाश होना और एक का का बढ़ना कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता॥ ७४४॥

तीर्थाभिषेकवशतः सुगतिं जगत्यां
पुण्यैर्विनापि यदि यान्ति नरास्तदेते।
नानाविधोदकसमुद्भवजन्तुवर्गा
बालत्ववासमरणान्न कथं व्रजन्ति॥ ७४५॥

अर्थ—संसार में यदि तीर्थ-स्थानों के जल में स्नान करने मात्र से ही मनुष्य को सुगति (अच्छी पर्याय) प्राप्त हो जाती है और उसमें पुण्य की कुछ भी सहायता नहीं चाहनी पड़ती तो नाना प्रकार के जो वहाँ के जलजन्तु—मगरमच्छ आदि हैं वे क्यों नहीं मरकर सबके सब सुगति को प्राप्त हो जाते हैं—उन्हें तो रात-दिन जल में ही स्नान करना पड़ता है, वहीं उनका जन्म हुआ है और वहीं वे मरे हैं, इसलिये उनकी स्वर्ग प्राप्ति अवश्यम्भावी होनी चाहिये॥ ७४५॥

यच्छुक्रशोणितसमुत्थमनिष्टगन्धं
नानाविधकृमिकुलाकुलितं समन्तात्।
व्याध्यादिदोषमलसद्म विनिन्दनीयं
तद्वारितः कथमिहर्च्छति शुद्धिमङ्गम्॥ ७४६॥

अर्थ—लोग संसार में जल से शरीर की शुद्धि बतलाते हैं, परंतु हमारी समझ में तो जो शुक्र-शोणित से उत्पन्न है, दुर्गन्ध से संयुक्त है, नाना प्रकार की कृमि आदि से सर्वदा आकुलित है, व्याधि आदि दोष रूपी मलों का घर है और निंदनीय है, ऐसे सर्वदा अपवित्र रहने वाले शरीर की जल से शुद्धि होना सर्वथा असंभव है॥ ७४६॥

गर्भेऽशुचौ कृमिकुलैर्निचिते शरीरे
यद्वर्धितं मलरसेन नवेह मासान्।
वर्चोगृहे कृमिरिवातिमलावलिप्ते
शुद्धिः कथं भवति तस्य जलप्लुतस्य॥ ७४७॥

अर्थ—जो शरीर कीड़ों से आकुलित महा अपवित्र गर्भाशय में नौ महीने तक अत्यंत मल से मलिन शौचालय (पाखाने) में कीड़ों के समान मल से बढ़ता रहा उसकी भला जल से एक दो अथवा बहुत बार धोने से कैसे शुद्धि हो सकती है,? अर्थात् कभी नहीं हो सकती।

भावार्थ—जो वस्तु पहिले पवित्र और पश्चात् किसी अन्य वस्तु के संसर्ग से अपवित्र हुई होती है, उसकी तो जलादि से शुद्धि भी हो सकती है, परंतु जो कभी भी किसी के संसर्ग से तो अपवित्र हुई नहीं और मूल में स्वयमेव ही अपवित्र है, उसकी जल से कैसे शुद्धि हो सकती है? वह तो वैसी की वैसी ही रहेगी॥ ७४७॥

निन्द्येनवागविषयेण विनिःसृतस्य
पूत्यात्मना च कुथितादिभृतस्य गर्भे।
मासान्नवाशुचिगृहे वपुषः स्थितस्य
शुद्धिं प्लुतस्य न जलैः शतशोऽपि सर्वैः॥ ७४८॥

अर्थ—जो शरीर गर्भाशय में कुथित आदि मलों से पुष्ट होता है और नौ महीने तक महा अपवित्र स्थान में स्थिर रहकर निंदनीय जिसका मुँह से उच्चारण करना भी लज्जास्पद है, ऐसे अपवित्र मार्ग से निकलता है, उसकी एक दो क्या समस्त तीर्थों-अतीर्थों के जल से सैकड़ों बार धोने पर भी कभी शुद्धि नहीं हो सकती॥ ७४८॥

यन्निर्मितं कुथिततः कुथितेन पूर्णं
श्रोत्रैः सदा क्वथितमेव विमुञ्चतेऽङ्गम्।

प्रक्षाल्यमानमपि मुञ्चति रोमकूपैः
प्रस्वेदवारि कथमस्य जलेन शुद्धिः॥ ७४९॥

अर्थ—जो शरीर मल से ही बना हुआ है, मल से ही पूर्ण है, मल को ही रातदिन इंद्रियों द्वारा उगलता रहता है और यहां तक कि जल से प्रक्षालित होने पर भी रोम-कूपों से प्रस्वेद जल के बहाने मैल ही निकालता रहता है, उसकी जल से शुद्धि होना सर्वथा असंभव है॥ ७४९॥

दुग्धेन शुध्यति मशीवटिका यथा नो
दुग्धं तु जातु मलिनत्वमिति स्वरूपम्।
नाङ्गं विशुध्यति तथा सलिलेन धौतं
पानीयमेति तु मलीमसतां समस्तम्॥ ७५०॥

अर्थ—जिस प्रकार दूध से धोई गई स्याही की गोली कभी भी सफेद नहीं होती और तत्स्वरूप होने से दूध को ही काला कर देती है, उसी प्रकार पानी से बार-बार धोया गया भी शरीर कभी भी शुद्ध नहीं होता, बल्कि अपने संसर्ग से उल्टा पानी को ही मैला कर देता है॥ ७५०॥

आकाशतः पतितमेत्य नदादिमध्यं
तत्रापि धावनसमुत्यमलावलिप्तम्।
नानाविधावनिगताशुचिपूर्णमर्णो
यत्तेन शुद्धिमुपयाति कथं शरीरम्॥ ७५१॥

अर्थ—और दूसरे एक यह भी बात है कि जो स्वयं अपवित्र है, वह दूसरे को क्या पवित्र बना सकता है। देखो! जल ही आकाश से गिर कर पहिले पृथ्वी पर पड़ा विष्टा आदि मल की अपवित्रता से अपवित्र हो नदी तालाब आदि में जाता है और वहां लोगों के स्नान आदि से मलिन हो जाता है, इसलिये ऐसे अशुद्ध जल से शरीर का शुद्ध होना सर्वथा असंभव है॥ ७५१॥

मालाम्बराभरणभोजनभामिनीनां
लोकातिशायिकमनीयगुणान्वितानाम्।
हानिं गुणा झटिति यान्ति यमाश्रितानां
देहस्य तस्य सलिलेन कथं विशुद्धिः॥ ७५२॥

अर्थ—जिस देह के संसर्ग से लोक को अतिक्रमण करने वाले मनोहर गुणों से संयुक्त माला, वस्त्र, भूषण, भोजन और स्त्री प्रभृति वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं और मनोहरता आदि गुणों को खो बैठतीं हैं, उसकी जल से शुद्धि हो जाती है, यह बात बिलकुल असंभव है॥ ७५२॥

जात्विन्द्रजालमिदमत्र जलेन शौचं
केनापि दुष्टमतिना कथितं जनानाम्।
यद्देहशुद्धिमपि कर्तुमलं जलं नो
तत्पापकर्म विनिहन्ति कथं हि सन्तः॥ ७५३॥

अर्थ—किसी दुष्ट बुद्धि पुरुष ने यह कहकर कि 'जल से पापों का नाश होता है' लोगों पर एक विलक्षण ही अज्ञानांधकार का इंद्रजाल फैला दिया है, अन्यथा—नहीं तो क्या ये लोग भेड़चाल में पड़कर इतना भी न विचार सकते कि जो जल बाह्य शरीर की भी शुद्धि नहीं कर सकता, वह अंतरंग आत्मा से संबंध रखने वाले पाप मलों को कैसे धोकर दूर कर सकता है॥ ७५३॥

मेरूपमानमधुपव्रजसेवितान्तं
चेज्जायते वियति कञ्जमनन्तपत्रम्।
कायस्य जातु जलतो मलपूरितस्य
शुद्धिस्तदा भवति निन्द्यमलोद्भवस्य॥ ७५४॥

अर्थ—यदि इस संसार में सुमेरु पर्वत के समान विशाल भ्रमरों से संयुक्त, अनंत पत्रों का धारक कमल आकाश में उपजाये तो शायद कभी मल से परिपूरित और मल से ही निर्मित देह की शुद्धि हो सकती है।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश में सुमेरु के बराबर महान् काय के धारक भौंरो से सहित अनंत पत्रों वाले कमल का उत्पन्न होना असंभव है, उसी प्रकार जल से शरीर का पवित्र होना भी असंभव है॥ ७५४॥

किं भाषितेन बहुना न जलेनशुद्धि-
र्जन्मान्तरेण भवतीति विचिन्त्य सन्तः।
त्रेधा विमुच्य जलधौतकृताभिमानं
कुर्वन्तु बोधसलिलेन शुचित्वमत्र॥ ७५५॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या! इतना कह देना ही बस है कि जल से शुद्धि इस जन्म की तो क्या बात? दूसरे जन्म में भी होना कठिन है, इसलिये उससे शुद्धि होने का भान विद्वानों को मन, वचन, काय—तीनों से ही छोड़ देना चाहिये और ज्ञानरूपी जल से पवित्र होने का प्रयत्न करना चाहिये॥ ७५५॥

दुष्टाष्टकर्ममलशुद्धविधौ समर्थे
निःशेषलोकभवतापविघातदक्षे।
सज्ज्ञानदर्शनचरित्रजले विशाले
शौचं विधद्ध्वमपविध्य जलाभिषेकम्॥ ७५६॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूपी विशाल पवित्र जल दुष्ट आदि आठों कर्मों के मल से मलिन इस आत्मा को पवित्र बना सकता है और समस्त प्राणियों के जन्म-मरण से जायमान ताप को दूर भगा सकता है, इसलिये पार्थिव जल में स्नान करना छोड़ इस रत्नत्रय रूप जल में स्नान करना सीखो, उससे शुद्ध बनने का प्रयत्न करो॥ ७५६॥

निःशेषपापमलबाधनदक्षमर्च्यं
ज्ञानोदकं विनयशीलतटद्वयाढ्यम्।
चारित्रवीचिनिचयं मुदितामलत्वं
मिथ्यात्वमीनविकलं करुणाद्यगाधम्॥ ७५७॥

सम्यक्त्वशीलमनघं जिनवाक्यतीर्थं
यत्तत्र चारुधिषणाः! कुरुताभिषेकम्।
तीर्थाभिषेकवशतो मनसः कदाचित्-
नान्तर्गतस्य हि मनागपि शुद्धिसिद्धिः॥ ७५८॥

अर्थ—श्री जिनेंद्र द्वारा प्रतिपादित शास्त्र रूपी तीर्थ समस्त पाप रूपी मल को धोने में समर्थ है, ज्ञान रूपी पवित्र जल से भरा हुआ है, विनय और शील रूपी मनोहर तटों से शोभित है, चरित्र रूपी लहरों से लहरा रहा है, परमानन्द रूप से निर्मल है, मिथ्यातत्त्वरूपी मीनों से रहित है, क्षमा, करुणा आदि धर्मों से अगाध है और सम्यक्त्व को धारण करने वाला पाप-रहित है इसलिये हे विद्वानों! हिताहितविवेकियो! अन्य तीर्थों को छोड़कर इसी पवित्र तीर्थ में स्नान करना सीखो, क्योंकि जल में स्नान करने से केवल शरीर की ही शुद्धि हो सकती है, शरीर के अंतर्गत के मन की कभी नहीं और इसमें स्नान करने से तो सब ही प्रकार की शुद्धि होती है॥ ७५७-७५८॥

चित्तं विशुद्ध्यति जलेन मलावलिप्तं
यो भाषतेऽनृतपरोऽस्ति जनो न तस्मात्।
बाह्यं मलं तनुगतं व्यपहन्ति नीरं
गन्धं शुभेतरमपीति वदन्ति सन्तः॥ ७५९॥

अर्थ—पाप रूपी मल से मलिन चित्त जल में स्नान करने से पवित्र हो जाता है, इस प्रकार का उपदेश देने वाला जो पुरुष है, उसके बराबर इस संसार में कोई भी मिथ्यावादी नहीं हैं, परंतु जो सत्य-वक्ता सज्जन हैं वे तो जल से शरीर का बाह्य मल और सुगंध अथवा दुर्गन्ध दूर होती है, ऐसा ही कहते हैं॥ ७५९॥

वार्यग्निभस्मरविमन्त्रधरादिभेदा-
च्छुद्धिं वदन्ति बहुधा भुवि किन्तु पुंसाम्।

सुज्ञानशीलशमसंयमशुद्धितोऽन्या
नो पापलेपमपहन्तुमलं विशुद्धिः ॥ ७६० ॥

अर्थ—संसार में जो जल, अग्नि, राख, (भस्म) सूर्य, मंत्र और पृथ्वी आदि से लोगों की शुद्धि बतलाई है, वह शुद्धि भिन्न प्रकार की है और जो सम्यग्ज्ञान, शील, शम संयम से शुद्धि बतलाई गयी है, वह दूसरे प्रकार की है, पहली शुद्धि तो केवल बाह्य शरीर को गन्दगी से रहित करती है और दूसरी पाप से पवित्र बनाती है यह नहीं कि पहली शुद्धि भी पापमल को दूर कर मन को पवित्र बनाने वाली हो॥ ७६० ॥

रत्नत्रयामलजलेन करोति शुद्धिं
श्रुत्वा जिनेन्द्रमुखनिर्गतवाक्यतीर्थम्।
योऽन्तर्गतं निखिलकर्ममलं दुरन्तं
प्रक्षाल्य मोक्षसुखमप्रतिमं स याति॥ ७६१ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनेंद्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित शास्त्र रूपी तीर्थ का आश्रय ले कर उसमें वर्तमान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूपी जल से अपनी आत्मा की शुद्धि करता है, वह अपने कर्म रूपी अंतरंग मल का सर्वथा नाश कर अनुपम मोक्ष सुख पाता है॥ ७६१ ॥

॥ ३१ ॥

श्रावकधर्मनिरूपण

श्रीमज्जिनेश्वरं नत्वा सुरासुरनमस्कृतम्।
श्रुतानुसारतो वक्ष्ये व्रतानि गृहमेधिनाम्॥ ७६२॥

अर्थ—सुर-असुरों के द्वारा सेवनीय अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी श्रीजिनेंद्र सर्वज्ञ को नमस्कार कर मैं शास्त्र के अनुसार सद्गृहस्थियों के व्रतों का प्रतिपादन करता हूँ, उनके आचरण करने योग्य आचारों के स्वरूप का कथन करता हूँ॥ ७६२॥

पञ्चधाणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमुदीरितम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यादिति द्वादशधा स्मृतम्॥ ७६३॥

अर्थ—गृहस्थियों के व्रत बारह होते हैं और वे पांच अणुव्रत, तीन-गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार से हैं— अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण— ये पांच तो अणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत— ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत इस तरह गृहस्थों के बारह व्रत हैं॥ ७६३॥

स्युर्द्वीन्द्रियाणि भेदेन चतुर्धा त्रसकायकाः।
यत्नेन रक्षणं तेषामहिंसाणुव्रतं मतम्॥ ७६४॥

अर्थ—जीव इंद्रियों की विवक्षा से एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय, इस प्रकार के हैं। उनमें एकेंद्रिय को छोड़कर शेष द्वींद्रिय, त्रींद्रिय आदि चार प्रकार के जीवों की जो हिंसा नहीं करना है—उन पर सर्वदा दयाभाव रखना है, वह पहला अहिंसा अणुव्रत है॥ ७६४॥

मद्यमांसमधुक्षीरक्षोणीरुहफलाशनम्।
वर्जनीयं सदा सद्भिस्त्रसरक्षणतत्परैः॥ ७६५॥

अर्थ—जो मनुष्य गृहस्थी हैं-त्रस (द्वीन्द्रिय आदि) जीवों की रक्षा करना, अपना परम धर्म समझते हैं, उन्हें चाहिये कि वे मद्य, मांस, मधु और दूध वाले वृक्षों के फल का कभी भी भक्षण नहीं करें॥ ७६५॥

हिंस्यते प्राणिनः सूक्ष्मा यत्राशुच्यभिभक्ष्यते।
तद्रात्रिभोजनं संतो न कुर्वन्ति दयापराः॥ ७६६॥

अर्थ—जो सज्जन लोग दया में तत्पर हैं, प्राणियों की हिंसा करना पाप समझते हैं, उन्हें चाहिये कि वे जिसमें सैकड़ों सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती है और जो महा अपवित्र होता है, ऐसे रात्रि-भोजन का सर्वथा त्याग करदें, उसे कदापि न करें॥ ७६६॥

भेषजातिथिमन्त्रादिनिमित्तेनापि नाङ्गिनः।
प्रथमाणुव्रताशक्तैर्हिंसनीया कदाचन॥ ७६७॥

अर्थ—जो अहिंसाणुव्रत के पालक गृहस्थ हैं, उनका परम कर्त्तव्य है कि वे औषधि, अतिथि (मेहमान) मंत्र आदि कार्यों के लिये भी कभी प्राणियों की हिंसा न करें।

भावार्थ—लोक में बहुत से मनुष्य इस बात को कहते हैं कि भाइयों! वैसे खाने पीने के लिये तो जीवों का मारना उनकी हिंसा करना पाप है, परंतु औषधि आदि में काम लाने के लिये उन्हें मार डालने में कोई हानि नहीं।७ इसी बात का खंडन करते हुए आचार्य कहते हैं कि नहीं! प्राणियों की हिंसा करना सब अवस्थाओं और सब कार्यों में बुरा ही है। जो अहिंसाणुव्रत के धारी हैं, उन्हें कभी भी त्रस जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये॥ ७६७॥

यतो निःशेषतो हन्ति स्थावरात् परिणामतः।
त्रसान् पालयतो ज्ञेयो विरताविरतस्ततः॥ ७६८॥

अर्थ—इन बारह व्रतों को पालने वाले गृहस्थ त्रस जीवों की हिंसा के परिणामों से त्यागी होते हैं (इसलिये विरत) और स्थावर (एकेंद्रिय जीवों की हिंसा से बिल्कुल ही त्यागी नहीं होते (इसलिये अविरत) इसलिये बिरताविरत भी कहे जाते हैं अर्थात् अणुव्रती गृहस्थों का शास्त्र में विरताविरत यह दूसरा नाम भी प्रसिद्ध है और उसका अर्थ ऊपर कहा हुआ समझना चाहिये॥ ७६८॥

क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादिकारणैः।
असत्यस्य परित्यागः सत्याणुव्रतमुच्यते॥ ७६९॥

अर्थ—क्रोध, लोभ, मद, द्वेष, राग, मोह आदि कारणों से जो असत्य मिथ्या वचनों का नहीं बोलना है, वह सत्याणुव्रत है॥ ७६९॥

प्रवर्तन्ते यतो दोषा हिंसारम्भभयादयः।
सत्यमपि न वक्तव्यं तद्वचः सत्यशालिभिः॥ ७७०॥

अर्थ—जो लोग सत्याणुव्रत के पालक हैं, सत्य बोलने की जिन गृहस्थों की प्रतिज्ञा है, उन्हें चाहिये कि वे जिन वचनों से लोक में हिंसा आरंभ और भय आदि की उत्पत्ति हो जाये, ऐसे सत्य वचनों को भी न बोलें॥ ७७०॥

हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचोमुचः।
द्वितीयाणुव्रतं पूतं देहिनो लभते स्थितिम्॥ ७७१॥

अर्थ—जो पुरुष हास, कर्कश, पैशुन्य (चुगली) निष्ठुर आदि पर-पीड़ाजनक वचनों के नहीं बोलने वाले हैं, वे पवित्र सत्याणुव्रत के धारक हैं॥ ७७१॥

यद्वदन्ति शठा धर्मं यन्म्लेच्छेष्वपि निन्दितम्।
वर्जनीयं त्रिधा वाक्यमसत्यं तद्धितोद्यतैः॥ ७७२॥

अर्थ—जिन मिथ्या बातों को शठ लोग धर्म कहकर पुकारते हैं और जिनकी कि म्लेच्छों तक ने निंदा की है, उन बातों को कहने का जो सत्याणुव्रती हैं, उन्हें मन, वचन, काय से त्याग कर देना चाहिये॥ ७७२॥

ग्रामादौ पतितस्याल्पप्रभूतेः परवस्तुनः।
आदानं न त्रिधा यस्य तृतीयं तदणुव्रतम्॥ ७७३॥

अर्थ—ग्राम, पुर, नगर-प्रभृति स्थानों में पड़ी हुई थोड़ी-बहुत चीजों का जो मालिक की आज्ञा के बिना उठा लेना है-ग्रहण करना है, वह चोरी है और उसका जो मन, वचन, काय से नहीं करना है, वह तीसरा अचौर्याणुव्रत है॥ ७७३॥

इह दःखं नृपादिभ्यः परत्र नरकादितः।
प्राप्नोति स्तेयतस्तेन स्तेयं त्याज्यं सदा बुधैः॥ ७७४॥

अर्थ—चोरी करने से इस लोक में तो राजा आदि से दुःख उठाना पड़ता है और परलोक में नरक आदि में जाकर नाना दुःख भोगने पड़ते हैं, इसलिये जो विद्वान् हैं, दुःख से डरने वाले हैं, उन्हें चोरी का त्याग कर देना चाहिये॥ ७७४॥

जीवन्ति प्राणिनो येन द्रव्यतः सह बन्धुभिः।
जीवितव्यं ततस्तेषां हरेत्तस्यापहारतः॥ ७७५॥

अर्थ—जो लोग चोरी कर दूसरों का धन चुराते हैं, वे उनके प्राण हरण करते हैं क्योंकि जिन कारणों से लोग इस संसार में जीते हैं, उन्हें प्राण कहते हैं, धन से भी लोग अपने भाई-बंधुओं के साथ निर्विघ्न रीति से जीते हैं, इसलिये वे भी प्राण हैं॥ ७७५॥

येऽप्यहिंसादयो धर्मास्ते ऽपि नश्यन्ति चौर्यतः।
मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः॥ ७७६॥

अर्थ—जो लोग चोरी करते हैं, उनके अहिंसा आदि शेष धर्म भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिये जो लोग चतुर हैं, उन्हें मन, वचन, काय से चोरी का त्याग कर देना चाहिये॥ ७७६॥

अर्था बहिश्चराः प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथा।
परद्रव्यं ततः सन्तः पश्यन्ति सदृशं मृदा॥ ७७७॥

अर्थ—धन-धान्य आदि द्रव्य प्राणियों के बाह्य प्राण हैं, इसलिये जो हिंसा से डरने वाले लोग हैं, वे दूसरों के द्रव्य को कभी नहीं चुराते, वे उसे मिट्टी के समान समझते हैं॥ ७७७॥

मातृस्वसृसुतातुल्या निरीक्ष्य परयोषितः।
स्वकलत्रेण यस्तोषश्चतुर्थं तदणुव्रतम्॥ ७७८॥

अर्थ—दूसरों की स्त्रियों को माँ, बहिन, बेटी के समान असेवनीय समझ जो लोग अपनी विवाहित स्त्री में ही संतोष रखते हैं, वे चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रत के धारक गृहस्थ हैं।

भावार्थ—अपनी विवाहिता नारी को छोड़कर जो पर-नारी हैं, उन्हें माँ, बहिन, बेटी के समान समझना ही चौथा अणुव्रत है॥ ७७८॥

यार्गला स्वर्गमार्गस्य सरणिः श्वभ्रसद्मनि।
कृष्णाहिदृष्टिवद्द्रोही दुःस्पर्शाग्निशिखेव या॥ ७७९॥

दुःखानां विधिरन्यस्त्री सुखानां प्रलयानलः।
व्याधिवद् दुःखवत्त्याज्या दूरतः सा नरोत्तमैः॥ ७८०॥

अर्थ—सेवी गई पराई स्त्री स्वर्ग में जाने के लिये अर्गला-साँकल है, नरक में ले जाने के लिये सड़क (सीढ़ी) है, द्रोह करने के लिये काले साँप की विषैली दृष्टि है, स्पर्श करने के लिये जलती हुई अग्नि है, दुःखों को देने में प्रबल विधि दुर्भाग्य है और सुखों के लिये प्रलय काल की अग्नि है, इसलिये वह व्याधि के समान दूर से ही छोड़ देने के योग्य है।

भावार्थ—जिस प्रकार लोगों के आवागमन को रोकने के लिये पुर या घर आदि के द्वारों पर साँकल या ताला लगा देते हैं तो वह द्वार बंद हो जाने से लोग फिर उसमें नहीं आ जा सकते, उसी प्रकार पर-स्त्री के सेवन करने से भी लोग स्वर्ग नहीं जा सकते, जिस प्रकार पैड़ियां सीढ़ी बना देने से लोग किसी गुफा आदि के निम्न स्थान में सरलता से चले जाते हैं उसी प्रकार पराई स्त्री के सेवन करने से भी नीचे नरक में लोग

आसानी से चले जाते हैं, जिस प्रकार काले भुजंग की दृष्टि से ही विष फैल जाता है और उससे महान् दुःख भोगना पड़ता है, उसी प्रकार पर-स्त्री को पाप दृष्टि से देखने मात्र से ही असह्य दुःख भोगना पड़ता है, जिस प्रकार जलती हुई अग्नि की लौ (शिखा) के छूने से ही हाथ आदि शरीर के अवयव जल जाते हैं उसी प्रकार पर स्त्री के खराब विचार से स्पर्श करने मात्र से ही पुण्य जल जाता है, जिस प्रकार दुर्भाग्य के कारण नाना दुःख भोगने पड़ते हैं, उसी प्रकार स्त्री के सेवन से भी नाना वेदनायें सहनी पड़ती हैं और जिस प्रकार प्रलय-काल की अग्नि समस्त ही पदार्थों को जलाकर खाक कर देती है, उसी प्रकार सेवित पर-स्त्री भी जीव के समस्त सुखों को जला कर भस्म कर डालती है, इसलिये जिस प्रकार रोगों से लोग दूर रहने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार पर-स्त्री के सेवन से भी दूर रहने का विद्वानों को प्रयत्न करना चाहिये॥ ७७९॥ ७८०॥

स्वभर्तारं परित्यज्य या परं याति निस्त्रपा।
विश्वासं श्रयते तस्यां कथमन्यस्य योषिति॥ ७८१॥

अर्थ—जो स्त्री निर्लज्ज हो कर अपने स्वामी (पति) को छोड़कर दूसरे पुरुष के पास जाती है, वह अविश्वास के योग्य है, चाहे वह अपना कितना और कैसा भी प्रेम क्यों न दिखलावे उसमें कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो अपने स्वयं के पति से दगाबजी कर चुकी है, वह दूसरे किसके साथ नहीं कर सकती? अर्थात् सभी के साथ कर सकती है॥ ७८१॥

किं सुखं लभते मर्त्यः सेवमानः परस्त्रियम्।
केवलं कर्म बध्नाति श्वभ्रभूभ्यादिकारणम्॥ ७८२॥

अर्थ—पर-स्त्री का सेवन करने से मनुष्य को अपनी स्त्री के सेवन से अधिक क्या सुख मिलता है सो तो मालूम नहीं, परंतु इतना कह सकता हूँ कि उसे नरक आदि अशुभ पर्यायों में ले जाने वाले कर्म का पूरा बंधन होता है।

भावार्थ—पर-स्त्री-सेवन से कुछ सुख की तो प्राप्ति नहीं होती, परंतु अशुभ कर्म के बंध जाने से नरकादि दुःख-स्थानों में जा कर अवश्य असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं॥ ७८२॥

वर्चः सदनवत्तस्या जल्पने जघने तथा।
निक्षिपन्ति मलं निन्द्यं निन्दनीया जनाः सदा॥ ७८३॥

मद्यमांसादिसक्तस्य या विधाय विडम्बनम्।
नीचस्यापि मुखं न्यस्ते दीना द्रव्यस्य लोभतः॥ ७८४॥

तां वेश्यां सेवमानस्य मन्मथाकुलचेतसः।
तन्मुखं चुम्बतः पुंसः कथं तस्याप्यणुव्रतम्॥ ७८५॥

अर्थ—जिस प्रकार हर तरह के ऊँच और नीच मनुष्य पाखाने [वर्चोगृह, शौचालय] में सर्वथा पेशाब, टट्टी आदि मल त्याग किया करते हैं, उसी प्रकार जघन [योनि] और मुंह में नीच लोग भी वीर्य, लार आदि मल क्षेपण किया करते हैं और जो मद्य, मांसादि में आसक्त हुए अन्य नीच लोगों के भी मुँह नाना कपट कर द्रव्य छीनने की इच्छा से चूमती है, उस वेश्या को काम के अधीन होकर जो पुरुष भोगते हैं, उसके मुख में अपना मुख देते हैं वे महा अपवित्र हैं उनके चौथे अणुव्रत का नाम निशान तक नहीं हो सकता॥ ७८३-७८४-७८५॥

ततोऽसौ पण्य (पाप) रमणी चतुर्थव्रतपालिना।
यावज्जीवं परित्याज्या जातनिघृणमानसा॥ ७८६॥

अर्थ—इसलिये चौथे अणुव्रत (एकदेश ब्रह्मचर्य) के पालक गृहस्थों को चाहिये कि वे जीवन पर्यन्त वेश्या और परस्त्री-सेवन का त्याग करें और मन में सर्वदा के लिये उससे घृणा रखें॥ ७८६॥

सद्मस्वर्णधराधान्यधेनुभृत्यादिवस्तुनः।
या गृहीतिः प्रमाणेन पञ्चमं तदणुव्रतम्॥ ७८७॥

अर्थ—घर, धन, धान्य, स्वर्ण, चांदी, पृथ्वी, नौकर आदि परिग्रह स्वरूप वस्तुओं का जो प्रमाण से अपने अधिकार में रखता है, यह पाँचवां अणुव्रत है।

भावार्थ—अमुक वस्तु हम अपने पास इतनी रखेंगे, अमुक इतनी प्रकार से—जो धन, धान्य आदि संपत्ति का प्रमाण करना है, वह पाँचवां परिग्रह परिमाण व्रत है॥ ७८७॥

दावानलसमो लोभो वर्धमानो दिवानिशम्।
विधाप्यः श्रावकैः सम्यक्संतोषोद्गाढवारिणा॥ ७८८॥

अर्थ—लोभ रूपी दावानल (वनवह्नि) ज्यों-ज्यों वस्तुओं की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों बढ़ती चलती है, इसलिये श्रावकों को चाहिये कि वे उसे संतोष रूपी जल से शांत करें।

भावार्थ—लोभ को रोकने के लिये सब वस्तुओं को प्रमाण (मर्यादा) करना युक्ति युक्त है॥ ७८८॥

सन्तोषाश्लिष्टचित्तस्य यत्सुखं शाश्वतं शुभम्।
कुतस्तृष्णागृहीतस्य तस्य लेशोऽपि विद्यते॥ ७८९॥

अर्थ—लोभ को रोकने से जो संतोष उत्पन्न होता है और उस संतोष से जो पुरुषों को शुभ शाश्वत आनंद प्राप्त होता है, उसका अनन्तवाँ भाग भी तृष्णा से व्याप्त पुरुषों को नहीं मिलता।

भावार्थ—संतोषी पुरुष के चित्त में जितनी सुख-शांति उत्पन्न होती है, उतनी तो क्या? उसकी अनतन्तवाँ भाग भी शांति तृष्णा से गृहीत पुरुष के चित्त में नहीं होती इसलिये परिग्रह का प्रमाण करना श्रावकों के लिए सर्वथा उचित है॥ ७८९॥

यावत्परिग्रहं लाति तावद्धिंसोपजायते।
विज्ञायेति विधातव्यः संगः परिमितो बुधैः॥ ७९०॥

अर्थ—और दूसरी बात यह भी है कि जितना-जितना परिग्रह बढ़ता जाता है उतनी-उतनी ही हिंसा भी बढ़ती चलती है, इसलिये हिंसा की कमी करने के लिये भी परिग्रह का प्रमाण करना युक्ति-युक्त है।

भावार्थ—बिना किसी प्रकार की हिंसा किये परिग्रह का बढ़ना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है और बिना संतोष किये नित्य परम सुख का भी मिलना कठिन है, इसलिये परिग्रह का परिमाण ही करना सर्वथा योग्य है॥ ७९०॥

हिंसातो विरतिः सत्यमदत्तपरिवर्जनम्।
स्वस्त्रीरतिः प्रमाणं च पञ्चधाणुव्रतं मतम्॥ ७९१॥

अर्थ—इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से हिंसा, विरति (अहिंसा) सत्य, अदत्तवर्जन (अस्तेय), स्वस्त्रीरति (स्वदार संतोष) और परिग्रह प्रमाण—ये पांच अणुव्रत के भेद हैं॥ ७९१॥

यद्विधायावधिं दिक्षु दशस्वपि निजेच्छया।
नाक्रामति पुनः प्रोक्तं प्रथमं तद्गुणव्रतम्॥ ७९२॥

अर्थ—जो पुरुष पूर्व, पश्चिम आदि दशों दिशाओं में अपने जाने-आने का इच्छानुसार प्रमाणकर उससे अधिक नहीं जाता-आता है, वह दिग्व्रत नाम के प्रथमाणुव्रत का धारक है।

भावार्थ—अमुक दिशा में मैं इतनी दूर जाऊँगा और अमुक दिशा में इतनी दूर इस प्रकार का जो अपने मन में दृढ संकल्प कर उससे आगे नहीं जाना है, वह दिग्व्रत है॥ ७९२॥

वात्येव धावमानस्य निरवस्थस्य चेतसः।
अवस्थानं कृतं तेन येन सा नियतिः कृता॥ ७९३॥

अर्थ—वातमंडल (वात्या) के समान चित्त सदा सर्वत्र घूमता रहता है, जरा भी कहीं निश्चल रूप से स्थित नहीं रहता, इसलिये जिस पुरुष ने इस दिग्व्रत को धारण कर लिया, उसने उसकी गति रोक दी।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकार से बिना नियम किये चित्त इधर-उधर भटकता-फिरता है, जिधर को जाने की इच्छा होती है, उधर ही चल देता है, परंतु ऐसा करने से जहाँ तक जाने की प्रतिज्ञा है, वहाँ तक ही जाने पाता है, इसलिये उसकी सर्वत्र गति रोकने के लिये यह नियम सर्वथा उपयोगी है॥ ७९३॥

त्रसस्थावरजीवानां रक्षातः परतस्ततः।
महाव्रतत्वमित्येव श्रावकस्यापि तत्त्वतः॥ ७९४॥

अर्थ—जो श्रावक इस प्रकार से अपने आवागमन के प्रदेशों की नियति-हद बांधता है, वह उस मर्यादा से पर त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का सब तरह से त्यागी होने से महाव्रती गिना जाता है।

भवार्थ—स्थूल हिंसा का त्याग करना तो अणुव्रत है और सब तरह की स्थूल हिंसा का त्याग करना महाव्रत है, इसलिये जो श्रावक अपनी स्थूल हिंसा करने का क्षेत्र बांधता है उसमें तो अणुव्रती है और उस क्षेत्र से पर किसी प्रकार का संबंध न होने से कुछ भी किसी प्रकार की हिंसा नहीं करता, वह उतने क्षेत्र के लिये महाव्रती कहा जाता है॥ ७९४॥

चेतो निवारितं येन धावमानमितस्ततः।
किं न लब्धं सुखं तेन संतोषामृतलाभतः॥ ७९५॥

अर्थ—जिस पुरुष ने इधर-उधर दौड़ते हुए अपने चंचल चित्त को रोक लिया। उसे मर्यादा बांधकर उतने क्षेत्र में ही जाने दिया, उसने संतोष रूपी महान् अमृत के पा लेने से अपूर्व सुख पा लिया।

भावार्थ—दिग्व्रत धारण करने से चित्त में संतोष उत्पन्न होता है और संतोष उत्पन्न होने से एक अपूर्व ही शांति-सुख मिलता है, इसलिये और पूर्वोक्त रीति से महाव्रती हो जाते हैं, इस लिये भी दिग्व्रत धारण करना श्रावकों के लिए सर्वथा योग्य है॥ ७९५॥

यदि विज्ञानतः कृत्वा देशावधिमहर्निशं।
नोलङ्घ्यते पुनः पुंसां द्वितीयं तद् गुणव्रतम्॥ ७९६॥

अर्थ—दिग्व्रत में किये गये परिमाण के भीतर ही भीतर जो प्रतिदिन देश, नदी, ग्राम, पुर, घर आदि के चिह्नों से आने-जाने का प्रमाण करना है-अपने आवागमन के क्षेत्र की हद बांधना है, वह देश व्रत नाम का द्वितीय गुणव्रत है॥ ७९६॥

महाव्रतत्वमत्रापि वाच्यं तत्त्वविधानतः।
परतो लोभनिर्मुक्तो लाभे सत्यपि तत्त्वतः॥ ७९७॥

अर्थ—इस देश-व्रत को धारण करने से भी श्रावकों को दिग्व्रत के समान ही लाभ होता है। इसको धारण करने वाले भी मर्यादा से बाहर नहीं जाते और वहां से किसी प्रकार का संबंध नहीं रखते, इसलिये वहां किसी प्रकार हिंसा न करने से महाव्रती कहे जाते हैं, और लाभ की प्राप्ति होने पर भी अपने मर्यादित क्षेत्र में ही अपना व्यापारादि करते हैं, इसलिये संतोषी, निर्लोभी भी कहे जाते हैं॥ ७९७॥

शक्यते गदितुं केन सत्यं तस्य महात्मनः।
तृणवत्त्यज्यते येन लब्धोऽप्यर्थो व्रतार्थिना॥ ७९८॥

लूना तृष्णालता तेन वर्धिता धृतिवल्लरी।
देशतो विरतिर्येन कृता नित्यमखंडिता॥ ७९९॥

अर्थ—जिस महापुरुष ने अखंड रीति से दिग्व्रत को पाल लिया, अपनी मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तु को चाहे उससे कितना ही लाभ क्यों न हो, कभी भी ग्रहण नहीं किया, उसे तृण के समान तुच्छ समझकर यों ही फेंक दिया, उसकी उपेक्षा कर दी और अपनी तृष्णा रूपी लता को काटकर उसकी जगह धृति (धैर्य) लता को बोया, उस महान् पुरुष की प्रशंसा करने के लिये कौन समर्थ हो सकता है? उसकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है॥ ७९८-७९९॥

पञ्चधानर्थदण्डस्य परं पापोपकारिणः।
क्रियते यः परित्यागस्तृतीयं तद् गुणव्रतम्॥ ८००॥

दुष्टश्रुतिरपध्यानं पापकर्मोपदेशनम्।
प्रमादः शस्त्रदानं च पञ्चानर्था भवन्त्यमी॥ ८०१॥

अर्थ—पाप के बढ़ने से सहायता देने वाले पांच प्रकार के अनर्थदण्ड के आचरण करने का जो त्याग करना है, वह तीसरा अनर्थ दंडत्यागव्रत नाम का गुणव्रत है और वे अनर्थ दुःश्रुति, अपध्यान, पाप कर्मोपदेश, प्रमाद तथा शस्त्रदान—इस तरह पांच हैं।

भावार्थ—पाप में प्रवृति कराने वाले मिथ्यात्व के पोषक शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तो दुःश्रुति नामक पहिला अनर्थदंड है, क्रोध, मान, मायादिक के वश हो, दूसरों

का अनिष्ट चिंतन करना दूसरा अपध्यान नामक अनर्थदंड है। लोगों को पाप कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश देना—ऐसा वचन कहना, जिससे लोगों की पाप मे प्रवृत्ति हो जाय, तीसरा पापोपदेश नाम का अनर्थदंड है, बिना ही किसी प्रयोजन के केवल बैठे-बिठाये जलादि फैलाना, वृक्षादि काटना तथा अन्य भी अनुचित क्रियायें करना चौथा प्रमादचर्यानामक अनर्थदंड हैं और सांकल, तलवार, बंदूक आदि हिंसा के उपकरणों-शस्त्र-अस्त्रों का दान देना शस्त्रदान नामक अनर्थदंड है—सो इन पाँचों का त्याग कर देना ही तीसरा गुणव्रत है॥ ८००-८०१॥

शारिकाशिखिमार्जारताम्रचूडशुकादयः।
अनर्थकारिणस्त्याज्या बहुदोषा मनीषिभिः॥ ८०२॥

नीलीमदनलाक्षायःप्रभूताग्निविषादयः।
अनर्थकारिणस्त्याज्या बहुदोषा मनीषिभिः॥ ८०३॥

अर्थ—जो श्रावक गण पूर्वोक्त पाँच प्रकार के अनर्थ दंडों का त्याग करने वाले हैं, उन्हें चाहिये कि वे महा अनर्थों को करने वाले दोषों की खानस्वरूप मैना, मयूर, बिल्ली, मुर्गा, तोता आदि पक्षियों को न पालें और न नीली, मद, लाख, लोहा, अग्नि, विष प्रभृति परपीडाजनक पदार्थों का ही उपयोग करें और न दूसरों को उन्हें दें, सर्वथा छोड़ ही दें॥ ८०२-८०३॥

दिग्देशानथदण्डेभ्यो विरतिर्या विधीयते।
जिनेश्वरसमाख्यातं त्रिविधं तद् गुणव्रतम्॥ ८०४॥

अर्थ—इस प्रकार से दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ दंड त्याग व्रत का पालना है, वह ही जिनेंद्र द्वारा प्रतिपादित तीन प्रकार गुणव्रत है।

भावार्थ—गुणव्रत के तीन भेद हैं और वे दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडत्यागव्रत हैं॥ ८०४॥

नमस्कारादिकं ज्ञेयं शरणोत्तममङ्गलम्।
संध्यानत्रितये शश्वदेकाग्रकृतचेतसा॥ ८०५॥

सर्वारम्भं परित्यज्य कृत्वा द्रव्यादिशोधनम्।
आवश्यकं विधातव्यं व्रतवृद्ध्यर्थमुत्तमैः॥ ८०६॥

द्व्यासनद्वादशावर्ताश्चतुर्मस्तकसंनतिः।
त्रिविशुद्ध्या विधातव्या वन्दना स्वहितोद्यतैः॥ ८०७॥

अर्थ—व्रतों की वृद्धि के लिये प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल-इन तीनों संध्यायों में एकाग्रचित्त होकर उत्तम मंगल स्वरूप शरण देने में अद्वितीय श्री अर्हंत सिद्ध आदि पांच परमेष्ठियों की नुति, स्तुति एवं प्रतिक्रमण आदि आवश्यकों को करना और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की शुद्धि देखकर समस्त आरंभों की निवृत्तिपूर्वक दो आसन (पद्मासन या खड्गासन) बारह आवर्त, चार मति का मन, वचन, काय से आचरण करना सामायिक शिक्षाव्रत है॥ ८०५-८०६-८०७॥

चत्वारि सन्ति पर्वाणि मासे तेषु विधीयते।
उपवासः सदा यस्तत्प्रोषधव्रतमीर्यते॥ ८०८॥

अर्थ—हर एक महीने में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ये चार पर्व के दिन हैं और उन चारो पर्वों में जो उपवास करता है, वह प्रोषधव्रत है॥ ८०८॥

त्यक्तभोगोपभोगस्य सर्वारम्भविमोचिनः।
चतुर्विधाशनत्याग उपवासो मतो जिनैः॥ ८०९॥

अर्थ—भोग-उपभोग की सामग्री से रहित हो समस्त आरंभ और समस्त खाद्य, स्वाद्य, लेह्य पेय— इन चार प्रकार के भोजन के पदार्थों का जो त्याग करना है, वह उपवास है।

भवार्थ—पर्व-अष्टमी, चतुर्दशी के दिन जो उपवास करने वाले श्रावक हैं, उन्हें चाहिये कि वे उस दिन भोग-उपभोग की वस्तुओं के भोगोपभोग का त्याग कर दें, समस्त आरम्भ-व्यापार कार्यों से हाथ समेट लें और किसी प्रकार आहार भी न करें केवल वह दिन धर्मध्यान में ही बितायें॥ ८०९॥

अभुक्त्यनुपवासैकभुक्तयो भक्तितत्परैः।
क्रियन्ते कर्मनाशाय मासे पर्वचतुष्टये॥ ८१०॥

कर्मधनं यदज्ञानात्संचितं जन्मकानने।
उपवासशिखी सर्वं तद्भस्मीकुरुते क्षणात्॥ ८११॥

अर्थ—जो लोग जिनेंद्र भगवान् की भक्ति में तत्पर हैं उनके वचनों पर विश्वास रखने वाले हैं, वे यथाशक्ति पूर्वोक्त चारों पर्व के दिनों में कर्मों के नाश करने के लिये उपवास, अनुपवास (ईषदुपवास थोड़ा-सा गरम जल पी लेना) और एक भुक्ति (एकाशन) में से कोई न कोई व्रत अवश्य करते हैं, क्योंकि अनादि काल से घूमते हुए इस संसार में अज्ञान की सहायता से जो कुछ भी कर्म ईंधन इस जीव ने इकठ्ठा किया है उसे उपवास रूपी अग्नि क्षण भर में भस्म कर डालती है॥ ८१०-८११॥

भोगोपभोगसंख्यानं क्रियते यद्धितात्मना।
भोगोपभोगसंख्यानं तच्छिक्षाव्रतमुच्यते॥ ८१२॥

अर्थ—अपनी आत्मा के कल्याण के लिये भोग और उपभोग की सामग्रियों का जो प्रमाण करना है, वह भोगोपभोग परिमाण नामक तीसरा शिक्षाव्रत है॥ ८१२॥

आहारपानताम्बूलगन्धमाल्यफलादयः।
भुज्यन्ते यत्स भोगश्च तन्मतः साधुसत्तमैः॥ ८१३॥

वाहनाशनपल्यङ्कस्त्रीवस्त्राभरणादयः।
भुज्यन्तेऽनेकधा यस्मादुपभोगाय ते मताः॥ ८१४॥

अर्थ—आहार, पानी, पान, गंध, माला, फल, फूल आदि जो एक बार ही काम में आते हैं और उसके बाद फिर निरर्थक हो जाते हैं, वे भोग कहे जाते हैं और जो सवारी, आसन, खटिया, स्त्री, वस्त्र, आभरण आदि बारबार काम में आने वाली चीजें हैं, वे उपभोग हैं॥ ८१३-८१४॥

संतोषो भाषितस्तेन वैराग्यमपि दर्शितम्।
भोगोपभोगसंख्यानव्रतं येन स्म धार्यते॥ ८१५॥

अर्थ—जिस पुरुष ने अपनी शक्ति के अनुसार भोग-उपभोग की वस्तुओं का परिमाण कर लिया, उसने संतोष धारण कर लिया और अपनी वैराग्य में भी दृढ़ता दिखा दी॥ ८१५॥

चतुर्विधो वराहारो दीयते संयतात्मनाम्।
शिक्षाव्रतं तदाख्यातं चतुर्थं गृहमेधिनाम्॥ ८१६॥

अर्थ—संयमी शुद्ध-पवित्रात्मा अतिथि पुरुषों के लिये जो श्रेष्ठ प्रासुक चार प्रकार के आहारों का दान देना है, वह चौथा वैयावृत्य नामक श्रावकों का उपासनीय शिक्षाव्रत है॥ ८१६॥

स्वयमेव गृहं साधुर्योऽत्रापतति संयतः।
अन्वर्थवेदिभिः प्रोक्तः सोऽतिथिर्मुनिपुङ्गवैः॥ ८१७॥

अर्थ—जो संयमी साधु बिना किसी प्रकार की सूचना के आहार के लिये घर आता है, वह अतिथि (जिसकी कोई निश्चित तिथि न हो) कहलाता है॥ ८१७॥

श्रद्धामुत्सत्त्वविज्ञानतितिक्षाभक्त्यलुब्धता।
एते गुणा हितोद्युक्तैर्ध्रियन्तेऽतिथिपूजने॥ ८१८॥

प्रतिग्रहोच्चदेशांघ्रिक्षालनं पूजनं नतिः।
त्रिशुद्धिरन्नशुद्धिश्च पुण्याय नवधा विधिः॥ ८१९॥

अर्थ—जो लोग अतिथियों के पूजक हैं, उन्हें दान देते हैं, उनमें श्रद्धा, उत्साह, सत्त्व, विज्ञान, सहनशीलता, भक्ति और अलुब्धता— ये गुण होने चाहिये और जिस समय दान दें उस समय प्रतिग्रह, उच्च देशावस्थान, चरण-प्रक्षालन, पूजन, नति, मन, वचन, काय की शुद्धि और अन्न-शुद्धि—इन नौ भक्तियों का भी होना आवश्यक है॥ ८१८-८१९॥

सामायिकादिभेदेन शिक्षाव्रतमुदीरितम्।
चतुर्धेति गृहस्थेन रक्षणीयं हितैषिणा॥ ८२०॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से बतलाया गया जो सामायिक, प्रोषध, भोगोपभोग परिमाण और वैयावृत्य-इन चार भेदों से विभिन्न शिक्षा व्रत है, वह आत्महित चाहने वाले श्रावकों को अवश्य ही पालना चाहिये॥ ८२०॥

द्वादशाणुव्रतान्येवं कथितानि जिनेश्वरैः।
गृहस्थैः पालनीयानि भवदुःखं जिहासुभिः॥ ८२१॥

अर्थ—इस तरह अहिंसाणुव्रत से लेकर वैयावृत्य तक कुल बारह प्रकार के श्रावकों के व्रत बतलाये गये हैं, इसलिये जो मुनष्य इस संसार से निवृत्त होना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे उनको अवश्य ही धारण करें॥ ८२१॥

स्वकीयं जीवितं ज्ञात्वा त्यक्त्वा सर्वां मनःक्षतिम्।
बन्धूनापृच्छ्य निःशेषांस्त्यक्त्वा देहादिमूर्छनाम्॥ ८२२॥

बाह्यमभ्यन्तरं संगं मुक्त्वा सर्वं विधानतः।
विधायालोचनां शुद्धां हृदि न्यस्य नमस्कृतिम्॥ ८२३॥

जिनेश्वरक्रमाम्भोजभूरिभक्तिभरानतैः।
सल्लेखना विधातव्या मृत्युतो नरसत्तमैः॥ ८२४॥

अर्थ—इन बारह व्रतों के अतिरिक्त जिस समय श्रावक का मृत्यु-समय निकट आ जाये, असाध्य बीमारी होने से मरण-काल समीप दीखने लगे, उस समय अपने मन की समस्त ग्लानियों को दूर कर बंधुओं की आज्ञा ले कर देह आदि समस्त अंतरंग-बाह्य परिग्रहों से ममता छोड़ दे और अपने पूर्व पापों की आलोचना करते हुए जिनेन्द्र भगवान् को भक्ति से नमस्कार कर शास्त्रानुसार सल्लेखना धारण करें॥ ८२२-८२३-८२४॥

दुर्लभं सर्वदुःखानां नाशकं बुधपूजितम्।
सम्यक्त्वं रत्नवद्धार्यं संसारान्तं यियासुभिः॥ ८२५॥

अर्थ—संसार के अंत को पाने की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को दुर्लभ, समस्त दुःखों का हरण करने वाला, विद्वानों से पूजित, रत्न के समान श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन भी अवश्य ही धारण करना चाहिये॥ ८२५॥

षड्द्रव्याणि पदार्थाश्च नव तत्त्वादिभेदतः।
जायते श्रद्दधज्जीवः सम्यग्दृष्टिर्न संशयः॥ ८२६॥

अर्थ—जो मनुष्य जीव-अजीव आदि छः द्रव्य, नव पदार्थों का श्रद्धान करते हैं, वे निश्चय ही सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं हैं॥ ८२६॥

अतीतेऽनन्तशः काले जीवेन भ्रमता भवे।
कानि दुःखानि नाप्तानि विना जैनेन्द्रशासनम्[१]॥ ८२७॥

निर्ग्रन्थं निर्मलं तथ्यं पूतं जैनेन्द्रशासनम्।
मोक्षवर्त्मेति कर्तव्या मतिस्तेन विचक्षणैः॥ ८२८॥

अर्थ—इस दुःख स्वरूप संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव ने अतीत काल के अनन्तों जन्मों में बिना जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा माने अनन्त दुःख भोगे हैं-इससे ऐसा कोई भी छोटा-बड़ा दुःख नहीं बचा है, जो न अनन्त बार भोगा गया हो इसलिये निर्ग्रंथ निर्मल, पवित्र, जिनशास्त्र ही मोक्ष का मार्ग दिखाने वाला है, ऐसे जो विवेकी हैं-हित अहित के ज्ञाता हैं, उन्हें चाहिये कि वे अपनी सर्वदा वृद्धि रखें॥ ८२७-८२८॥

ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधःश्वभ्रभूमिषु।
जायते स्त्रीषु सद्दृष्टिर्न मिथ्यात्वादसंज्ञिषु॥ ८२९॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष होते हैं, वे ज्योतिषी, भवनवासी और व्यतर देवों में उत्पन्न नहीं होते, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे और छठे नरक में नहीं जाते, पुरुष पर्याय सिवा स्त्री पर्याय धारण नहीं करते और असंज्ञी-बिना मन के भी उत्पन्न नहीं होते।

एकमपि क्षणं लब्ध्वा सम्यक्त्वं यो विमुञ्चति।
संसारार्णवमुत्तीर्य लभते सोऽपि निर्वृतिम्॥ ८३०॥

---

१. किसी -२ प्रति में यह श्लोक विशेष है-साचेटोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्मविभूषितः। जिनधर्मविनिर्मुक्तो माभूवं चक्रवर्त्यपि॥ ८२८॥ अर्थ—जिन धर्म से विभूषित होकर दरिद्र और नीच होना भी अच्छा, परंतु उस पवित्र धर्म से रहित होकर चक्रवर्ती होना भी मुझे अच्छा नहीं लगता।

अर्थ—जो मनुष्य कम से कम एक क्षण के लिये भी सम्यग्दर्शन धारण कर उसे छोड़ देते हैं, वे भी संसार-समुद्र को पार कर अवश्य ही मोक्षलक्ष्मी को पा लेते हैं॥ ८३०॥

रोचते दर्शितं तत्त्वं जीवः सम्यक्त्वभावितः।
संसारोद्वेगमापन्नः संवेगादिगुणान्वितः॥ ८३१॥

अर्थ—जिन पुरुषों की आत्मा सम्यग्दर्शन से युक्त होती है-उसकी चमचमाती हुई दीप्ति से अलंकृत रहती है, उनके तत्त्वों की प्रीति होती है, संसार की माया से उद्विग्नता हो जाती है और संवेग, दया आदि गुण उनका आश्रय कर निकलते हैं॥ ८३१॥

यत्किञ्चिद् दृश्यते लोके प्रशस्तं सचराचरम्।
तत्सर्वं लभते जीवः सम्यक्त्वामलरत्नतः॥ ८३२॥

अर्थ—इस चराचर संसार में जो कुछ भी प्रशस्त चीज गिनी जाती है, जिस-किसी भी पदार्थ की प्रशंसा की जाती है, वह सब ही सम्यग्दर्शनरूपी रत्न के माहात्म्य से मिल जाती है॥ ८३२॥

शंकादिदोषनिर्मुक्तं संवेगादिगुणान्वितम्।
यो धत्ते दर्शनं सोऽत्र दर्शनी कथितो जिनैः॥ ८३३॥

अर्थ—जो पुरुष शंका आदि दोषों से निर्दोष, संवेगादि गुणों से संयुक्त सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टिवान् कहा जाता है॥ ८३३॥

दुरन्तासारसंसारजनितासातसन्ततेः।
यो भीतोऽणुव्रतं याति व्रतिनं तं विदुर्बुधाः॥ ८३४॥

अर्थ—दुःखस्वरूप असार संसार के दुःख से जिसको भय उत्पन्न हो गया है और उसी भय को दूर करने के लिये जो अहिंसा आदि अणुव्रतों का पालन करता है, वह व्रती है॥ ८३४॥

आर्त्तरौद्रपरित्यक्तस्त्रिकालं विदधाति यः।
सामायिकं विशुद्धात्मा स सामायिकवान्मतः॥ ८३५॥

अर्थ—जो पुरुष आर्त्त रौद्र ध्यानों को छोड़कर साम-सबेरे और दोपहर को सामाजिक कार्य करता है, वह विशुद्धात्मा सामायिकवान् कहलाता है॥ ८३५॥

मासे चत्वारि पर्वाणि तेषु यः कुरुते सदा।
उपवासं निरारम्भः प्रोषधी स मतो जिनैः॥ ८३६॥

अर्थ—जो पुरुष मास के चारों पर्वों में आरंभ रहित हो कर उपवास करता है, वह प्रोषधी कहा जाता है॥ ८३६॥

न भक्षयति योऽपक्वं कन्दमूलफलादिकम्।
संयमासक्तचेतस्कः सचित्तात्स पराङ्मुखः॥ ८३७॥

अर्थ—जो कच्चे मूल फलादि नहीं खाता है, वह संयम में दत्तचित्त पुरुष सचित्त त्यागी कहा जाता है॥ ८३७॥

मैथुनं भजते मर्त्यो न दिवा यः कदाचन।
दिवामैथुननिर्मुक्तः स बुधैः परिकीर्तितः॥ ८३८॥

अर्थ—जो दिन में कभी भी स्त्री-संसर्ग, मैथुन नहीं करता, वह दिवा मैथुन-निर्मुक्त कहा जाता है॥ ८३८॥

संसारभयमापन्नो मैथुनं भजते न यः।
सदा वैराग्यमारूढो ब्रह्मचारी स भण्यते॥ ८३९॥

अर्थ—जो पुरुष संसार से भयभीत हो कर कभी भी किसी प्रकार का मैथुन नहीं करता है, सदा वैरागी ही रहता है, वह ब्रह्मचारी कहलाता है॥ ८३९॥

निरारम्भः स विज्ञेयो मुनीन्द्रैर्हतकल्मषैः।
कृपालुः सर्वजीवानां नारम्भं विदधाति यः॥ ८४०॥

अर्थ—जो श्रावक कृपा-सहित हो जीवों के घात करने वाले किसी भी आरंभ को नहीं करता, वह निरारम्भी कहा जाता है॥ ८४०॥

संसारद्रुममूलेन किमनेन ममेति यः।
निःशेषं त्यजति ग्रन्थं निर्ग्रन्थं तं विदुर्जिनाः॥ ८४१॥

अर्थ—संसार रूपी वृक्ष के मूल स्वरूप परिग्रह से मुझे क्या मतलब है, ऐसा समझकर जो समस्त परिग्रह को छोड़ देता है, वह निर्ग्रन्थ है॥ ८४१॥

सर्वदा पापकार्येषु कुरुतेऽनुतिं न यः।
तेनानुमननं युक्तं भण्यते बुद्धिशालिना॥ ८४२॥

अर्थ—संसार के पाप-कार्यों में जो कभी भी अपनी संमति या अनुमति नहीं देता, वह अनुमति-त्यागी श्रावक है॥ ८४२॥

स्वनिमित्तं त्रिधा येन कारितोऽनुमतः कृतः।
नाहारो गृह्यते पुंसा त्यक्तोद्दिष्टः स भण्यते॥ ८४३॥

अर्थ—जो अपने लिये मन, वचन, काय—तीनों से कारित (कराया गया) अनुमत (सलाह से तैयार किया गया) और कृत (स्वयं बनाया गया) आहार को नहीं ग्रहण करते, वे त्यक्तोद्दिष्ट श्रावक हैं॥ ८४३॥

एकादश गुणानेवं धत्ते यः क्रमतो नरः।
मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा यात्यसौ मोक्षमव्ययम्॥ ८४४॥

अर्थ—इस प्रकार ये जो श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा बतलाई गयी हैं, उन पर क्रम से उन्नति करते हुए, चढ़ता हुआ मनुष्य नियम से नित्य मोक्ष सुख को पा लेता है, इसलिये श्रावकों को इन्हें अवश्य ही धारण करना चाहिये॥ ८४४॥

बधो रोधोऽन्नपानस्य गुरुभारातिरोहणम्।
बन्धच्छेदौ मलाः पञ्च प्रथमव्रतगोचराः॥ ८४५॥

अर्थ—बध, अन्नपाननिरोध, गुरुभारातिरोपण, बन्ध और छेद— ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ—अहिंसाणुव्रत के पालक होकर भी जो लोग किसी को मारते और ताड़ते हैं, पशु पक्षियों के आहार-पानी को रोकते हैं, उन पर शक्ति से अधिक भार लादते हैं, उन्हें बांधते हैं और उनके नाक, कान आदि अवयव छेदते हैं, वे अपने व्रत को मलिन करते हैं॥ ८४५॥

कूटलेखक्रिया मिथ्यादेशनं न्यासलोपनम्।
पैशुन्यं मन्त्रभेदश्च द्वितीयव्रतगा मलाः॥ ८४६॥

अर्थ—कूटलेख-क्रिया, मिथ्योपदेश (झूठे उपदेश और बातें कहना), न्यासापहरण (दूसरों की धरोहर पर अधिकार करना), पैशुन्य (चुगली करना) और मंत्रभेद—ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

भावार्थ—सत्याणुव्रत के धारक श्रावकों को चाहिये कि वे न तो किसी का झूठा तमस्सुक (ऋणलेख) आदि लिखें, न किसी को मिथ्या उपदेश दें, न किसी की धरोहर हजम करें, न किसी की चुगली खायें और न किसी की गुप्त सलाह को प्रगट करें॥ ८४६॥

स्तेनानीतसमादानं स्तेनानामानुयोजनम्।
विरुद्धातिक्रमो राज्ये कूटमानादिकल्पनम्॥ ८४७॥

कृत्रिमव्यवहारश्च तृतीयव्रतसम्भवाः।
अतिचाराः जिनैः पञ्च गदिता धुतकर्मभिः॥ ८४८॥

अर्थ—स्तेनानीतसमादान (चोरी का माल लेना) स्तेनानुयोजन (चोरी की सलाह या राह बताना) राजविरुद्धातिक्रम (राजा की आज्ञा का उलंघन करना) कूटमानादि कल्पन [नकली बाट, तराजू, गज आदि नाप की चीजें बनाना] और कृत्रिम व्यवहार [बहुमूल्य की चीज में अल्पमूल्य की चीज मिलाकर बहुमूल्य से बेचना]—ये पाँच अचौर्य अणुव्रत के अतिचार हैं॥ ८४७-८४८॥

अनङ्गसेवनं तीव्रमन्मथाभिनिवेशनम्।
गमनं पुंश्चलीनार्यो स्वीकृतेतररूपयोः॥ ८४९॥

अन्यदीयविवाहस्य विधानं जिनपुङ्गवैः।
अतिचारा मताः पञ्च चतुर्थव्रतसंभवाः॥ ८५०॥

अर्थ—ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालक श्रावकों को उचित है कि वे अनङ्गसेवन (काम से भिन्न अंग का सेवन अर्थात् अप्राकृतिक मैथुन) न करें, तीव्र मन्मथाभिनिवेश अर्थात् संभोग की प्रबल इच्छा को मन में जगह न दें, स्वीकृत व्यभिचारिणी अर्थात् अस्वीकृत परस्त्री से संबंध न रखें और दूसरे के विवाह बंधन को न जोडें, क्योंकि इनमें से यदि एक भी बात की जायेगी तो व्रत में दूषण लग सकता है॥ ८४९-८५०॥

हिरण्यस्वर्णयोर्वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययोः।
कुप्यस्य दासदास्योश्च प्रमाणातिक्रमाभिधाः॥ ८५१॥

अतिचारा जिनैः प्रोक्ताः पञ्चामी पञ्चमे व्रते।
वर्जनीयाः प्रयत्नेन व्रतरक्षाविचक्षणैः॥ ८५२॥

अर्थ—हिरण्यस्वर्ण, वास्तुक्षेत्र, धन, धान्य, कुप्य, दासी, दास—इन वस्तुओं का कृत प्रतिज्ञा से अधिक परिमाण बढ़ा लेना है इस प्रकार वह परिग्रह परिमाण व्रत का अतिचार है।

भावार्थ—सांसारिक भोग विलास की मुख्य-मुख्य चीजें सब हिरण्य, स्वर्ण आदि पाँच प्रकार में ही गर्भित हो जाती हैं, इसलिये इनमें से किसी की प्रतिज्ञा से अधिक संख्या बढ़ा लेना परिग्रह परिमाण व्रत को दूषण लगाना है॥ ८५१-८५२॥

क्षेत्रस्य वर्धनं तिर्यगूर्ध्वाधोव्यतिलङ्घनम्।
स्मृत्यन्तरविधिः पञ्च मता दिग्विरतेर्मलाः॥ ८५३॥

अर्थ—दिशाओं में आवागमन के क्षेत्र की प्रतिज्ञा से अधिक सीमा बढ़ा लेना, दिशाओं में तिरछे, ऊँचे, नीचे किसी भी तरह कृत मर्यादा से अधिक चले जाना और की हुई दिशाओं की मर्यादा को भूल जाना दिग्विरत के पांच अतीवार-दूषण हैं। इनमें किसी भी बात को करने से दिग्विरत दूषित हो जाता है॥ ८५३॥

आनीतिपुद्गलक्षेपौ प्रेष्यलोकानुयोजनम्।
शब्दरूपानुपातौ च स्युर्देशविरतेर्मलाः॥ ८५४॥

अर्थ—देशों में जाने की जो मर्यादा-सीमा बांधी है, उस सीमा से बाह्य प्रदेश मनुष्य तथा अन्य पदार्थ को बुलाना, वहाँ ईंट, पत्थर आदि फेंकना, स्वयं न जाकर नौकर आदि भेजना, शब्द करना और अपना रूप आदि दिखाना देशविरत के अतिचार हैं अर्थात् सीमा से बाह्य प्रदेश में किसी भी तरह से अपना लेन-देन आदि का सम्बन्ध रखना या करना देशविरत का अतिचार है॥ ८५४॥

असमीक्ष्यक्रियाभोगोपभोगानर्थकारिता।
बह्वसंबन्धभाषित्वं कौत्कुच्यमदनार्त्तता॥ ८५५॥

पञ्चैतेऽनर्थदण्डस्य विरतेः कथिता मलाः।
समस्तवस्तुविस्तारवेदिभिर्जिनपुङ्गवैः॥ ८५६॥

अर्थ—समस्त वस्तुओं के विस्तार को जानने वालो न असमीक्ष्य क्रियाधिकरण [बिना सोचे-विचारे क्रियाओं को कर बैठना] भोगोपभोगानर्थकारिता [आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग की वस्तुओं का संग्रह करना] बह्वसंबधभाषित्व (बिना प्रयोजन के बेवजह अण्डबण्ड बहुत बोलना) कौत्कुच्य (शरीर से कुचेष्टा करना) और मदनार्त्तता (कामोत्पादक अर्थात् अश्लील वचन बोलना)—ये पांच अनर्थदण्डत्याग व्रत के अतिचार कहे हैं, इन बातों का न करना ही उचित है॥ ८५५-८५६॥

अस्थिरत्वास्मृतं योगदुष्क्रियानादरा मलाः।
सामायिकव्रतस्यैते मताः पञ्च जिनेश्वरैः॥ ८५७॥

अर्थ—चित्त की चंचलता से पाठ का भूल जाना, मन, वचन, काय से दुष्क्रिया करना और अनादर से आफत समझकर सामायिक करना सामायिक व्रत के पांच दोष-अतिचार हैं॥ ८५७॥

अदृष्टमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरकक्रियाः।
स्मृत्यानादरा पञ्च प्रोषधस्य मला मताः॥ ८५८॥

अर्थ—बिना देखी जगह पर पेशाब, पाखाना आदि मल का त्याग करना, प्रमाद से वस्तुओं को उठाना, धरना, बिना देखे सांथरा बिछाना, योग्य क्रियाओं को भूल जाना और अनादर की दृष्टि से क्रिया करना—ये पाँच प्रोषध व्रत के अतिचार हैं॥ ८५८॥

सचित्तमिश्रसंबन्धदुष्पक्वाभिषवासिताः।
भोगोपभोगसंख्याया मलाः पञ्च निवेदिताः॥ ८५९॥

अर्थ—सचित्त (हरे, जीव सहित) संमिश्र (सचित्त और अचित्त दोनों मिले हुए) सचित्तसंबद्ध (सचित्त से छुए हुए) दुष्पक्व (दुष्पाच्य अर्थात् देर से हजम होने वाले) और अभिषवासित (कच्चे, गरिष्ठ) भोजन का करना भोगोपभोग संख्यान व्रत के पांच अतिचार हैं॥ ८५९॥

सचित्ताच्छादनिक्षेपकालातिक्रममत्सराः।
सहान्यव्यपदेशेन दाने पञ्च मला मताः॥ ८६०॥

अर्थ—सचित्त से ढककर आहार देना, सचित्त पदार्थ पर रखकर आहार देना, काल की मर्यादा को उल्लंघन कर आहार देना दूसरे की ईर्ष्या कर आहार देना और दूसरे के व्यपदेश से आहार देना वैयावृत्य नामक व्रत के पांच अतिचार हैं॥ ८६०॥

पञ्चत्वजीविताशंसे मित्रागसुखाग्रहौ।
निदानं चेति निर्दिष्टं संन्यासे मलपञ्चकम्॥ ८६१॥

अर्थ—मरने की इच्छा करना, अपना जीवन चाहना, मित्रों में प्रेम करना, सुख चाहना और निदान (दूसरे जन्मों में भोगादिक ऐसे हों इस प्रकार के भाव बांधना) सल्लेखनाव्रत के पांच अतीचार हैं॥ ८६१॥

शङ्काकाङ्क्षाचिकित्सादिप्रशंसासंस्तवा मलाः।
पञ्चेमे दर्शनस्योक्ता जिनेन्द्रैर्धुतकल्मषैः॥ ८६२॥

अर्थ—सर्वज्ञप्रतिपादित शास्त्र में शंका करना, सांसारिक सुख चाहना, मुनि आदि को देखकर ग्लानि करना, मिथ्या दृष्टियाँ की प्रशंसा और संस्तव करना सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं॥ ८६२॥

इत्येवं सप्ततिः प्रोक्ता मलानाममलाशयैः।
तस्य व्युदासतो धार्यं श्रावकैर्व्रतमुत्तमम्॥ ८६३॥

अर्थ—इस प्रकार कुल व्रतों के दोष जिनेन्द्र भगवान् ने सत्तर बतलाये हैं, इसलिये अच्छी तरह सोच-समझकर इन दोषों से श्रावकों को दूर रह कर व्रत पालने की सर्वदा कोशिश करनी चाहिये॥ ८६३॥

यो दधाति नरो पूतं श्रावकव्रतमर्चितम्।
मर्त्यामरश्रियं प्राप्य यात्यसौ मोक्षमव्ययम्॥ ८६४॥

अर्थ—जो पुरुष श्रावक के इन पवित्र व्रतों को निर्दोष रीति से पालता है, वह अवश्य ही मनुष्य और देवों के सुखों को भोगकर मोक्षसुख को प्राप्त करता है, इसलिये व्रतों का निर्दोष पालना ही सर्वथा उचित है॥ ८६४॥

भ्रूनेत्राङ्गुलिहुङ्कारशिरःसंज्ञाद्यपाकृतम्।
कुर्वद्भिर्भोजनं कार्यं श्रावकैर्मौनमुत्तमम्॥ ८६५॥

अर्थ—भौंहें, आंखें, अंगुली, हुंकार और शिर प्रभृति अंगों को न चलायमान कर बिना ही किसी प्रकार की बोल-चाल के जो भोजन करना है, वह मौन है और ऐसा मौन हर एक श्रावक को करना उचित है॥ ८६५॥

शरच्चन्द्रसमां कीर्तिं मैत्री सर्वजनानुगा।
कन्दर्पसमरूपत्वं धीरत्वं बुधपूज्यता॥ ८६६॥

आदेयत्वमरोगित्वं सर्वसत्त्वानुकम्पिता।
धनं धान्यं धरा धाम सौख्यं सर्वजनाधिकम्॥ ८६७॥

गम्भीरा मधुरा वाणी सर्वश्रोत्रमनोहरा।
निःशेषशास्त्रनिष्णातां बुद्धिं ध्वस्ततमोमलाम्॥ ८६८॥

अर्थ—श्रावकों को मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ—ये चार भावनायें भी अवश्य रखनी चाहिये। क्योंकि समस्त प्रणियों के साथ मित्रता रखने शरद् ऋतु के चंद्रमा के समान स्वच्छ कीर्ति की प्राप्त होती है, बुधपूज्यता विद्वानों में प्रमोद रखने से कामदेव के समान सुन्दर रूप और धीर वीरता की, समस्त प्राणियों पर दयाभाव रखने से शरीर में कांति, निरोगता धन-धान्य, पृथ्वी, उत्तमोत्तम महल और सर्वोत्तम सुख की, शत्रुओं तक के साथ कर्णप्रिय मधुर वचन बोलने से मध्यस्थ भाव रखने से समस्त शास्त्रों को अवगाहन करने वाली निर्मल बुद्धि की प्राप्ति होती है॥ ८६६-८६७-८६८॥

घण्टाकाहलभृङ्गारचन्द्रोपकरपुरःसरम्।
विधाय पूजनं देयं भक्तितो जिनसद्मनि॥ ८६९॥

अर्थ—आत्मा का हित चाहने वाले जो श्रावक हैं, उन्हें चाहिये वे भक्तिपूर्वक जिनेंन्द्र भगवान् का पूजन करें और श्रीजिन-मंदिर में घंटा, काहल, झारी, चंदोवा प्रभृति उपकरण भी चढ़ायें॥ ८६९॥

चतुर्विधस्य संघस्य भक्त्यारोपितमानसैः।
दानं चतुर्विधं देयं संसारोच्छेदमिच्छुभिः॥ ८७०॥

अर्थ—संसार का छेदन करने की इच्छा रखने वाले श्रावकों का यह भी दैनिक कर्त्तव्य है कि वे श्रावक, श्राविका, मुनि और आर्यिका—ये जो चार प्रकार के संघ हैं, उन्हें भक्ति से उनकी गुण-वृद्धि के लिये दान दें॥ ८७०॥

यावज्जीवं जनो मौनं विधत्ते चातिभक्तितः।
नोद्योतनं परं कृत्वा निर्वाहात्कथितं जिनैः॥ ८७१॥

अर्थ—भगवान् जिनेंद्र का उपदेश है कि जो जीव यावज्जीव भक्तिभाव से मौन धारण करता है, बस उद्यापन यही है कि वह उसी प्रकार उसे जिंदगी पर्यंत निभा ले जाये, किसी प्रकार का दूषण न लगने दें, किंतु अन्य उसके लिये कोई उद्यापन नहीं है॥ ८७१॥

एवं त्रिधापि यो मौनं विधत्ते विधिवन्नरः।
न दुर्लभं त्रिलोकेऽपि विद्यते तस्य किञ्चन॥ ८७२॥

अर्थ—इस तरह से जो मनुष्य विधि के अनुसार मन, वचन, काय से मौन को ठीक-ठीक पालता है, उसके लिये तीनों लोक में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो कि दुर्लभ तो उसे सब ही अभीष्ट पदार्थ सहज में ही प्राप्त हो जाते हैं॥ ८७२॥

विचित्रशिखराधारं विचित्रध्वजमण्डितम्।
विधातव्यं जिनेन्द्राणां मन्दिरं मन्दिरोपमम्॥ ८७३॥

येनेह कारितं सौधं जिनभक्तिमता भुवि।
स्वर्गापवर्गसौख्यानि तेन हस्ते कृतानि वै॥ ८७४॥

अर्थ—विचित्र शिखरों के, विचित्र नींव के और विचित्र-२ ध्वजाओं के सुमेरु पर्वत के समान उच्च मनोहर जिनेंद्र भगवान् के मंदिरों का श्रावकों को अवश्य निर्माण कराना चाहिये, क्योंकि जो श्रावक जिनेंद्र भगवान् के मंदिर को बनवाता है, वह स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को अपने हाथ में करता है॥ ८७३-८७४॥

यावत्तिष्ठति जैनेन्द्रमन्दिरं धरणीतले।
धर्मस्थितिः कृता तावज्जैनसौधविधायिना॥ ८७५॥

अर्थ—जिस श्रावक ने एक भी पृथ्वी पर श्रीजिनेंद्र का मंदिर बनवा दिया, उसने कुछ समय के लिये जैन धर्म की स्थिति कायम कर दी, क्योंकि जब तक पृथ्वी पर उसका बनवाया हुआ मंदिर मौजूद रहेगा, तब तक जैन धर्म का सितारा चमचमाता ही रहेगा॥ ८७५॥

येनाङ्गुष्ठप्रमाणार्चा जैनेन्द्रो क्रियतेऽङ्गिना।
तस्याप्यनश्वरी लक्ष्मीर्न दूरे जातु जायते॥ ८७६॥

अर्थ—और की तो क्या बात? जिस पुरुष के अंगूठे प्रमाण भी श्रीजिनेंद्र की मूर्ति बनवा दी, उसने मोक्ष-लक्ष्मी को अपने पास बुला लिया—वह उसके पास आ गई उसकी शीघ्र ही मुक्ति हो जायेगी॥ ८७६॥

यः करोति जिनेन्द्राणां पूजनं स्नपनं नरः।
स पूजामाप्य निःशेषां लभते शाश्वतीं श्रियम्॥ ८७७॥

अर्थ—जो श्रावक श्रीजिनेन्द्र भगवान् की नित्य प्रति पूजन-स्नपन करता है, वह देवों द्वारा समस्त पूजाओं को प्राप्त कर श्री शाश्वती मोक्ष लक्ष्मी को पाता है।

भावार्थ—जिनेंद्र का पूजन करने वाला पाँचों कल्याणों का स्वामी हो मोक्ष को पाता है॥ ८७७॥

सम्यक्त्वज्ञानभाजो जिनपतिकथितं ध्वस्तदोषप्रपञ्चं
संसारासारभीता विदधति सुधियो ये व्रतं श्रावकीयम्।
भुक्त्वा भोगान्नरोगान् वरयुवतियुताः स्वर्गमर्त्येश्वराणां
ते नित्यानन्तसौख्यं शिवपदमपदं व्यापदं यान्ति मर्त्याः॥ ८७८॥

अर्थ—संसार से भयभीत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को पालने वाले जो मनुष्य जिनेंद्र भगवान् से कथित निर्दोष श्रावकों के व्रतों का आचरण करते हैं, वे उत्तमोत्तम स्त्रियों से युक्त देव विद्याधरों के भोग-भोगकर नित्य अनंत निरापद मोक्ष के आनन्द का अनुभव करते हैं॥ ८७८॥

॥ ३२ ॥

द्वादशविध तपनिरूपण

प्रणम्य सर्वज्ञमनन्तमीश्वरं जिनेन्द्रचन्द्रं धुतकर्मबन्धनम्।
विनाश्यते येन दुरन्तसंसृतिस्तदुच्यते मोहतमोपहं तपः॥ ८७९॥

अर्थ—समस्त कर्मबंधन नष्ट करने वाले—शुभाशुभ कर्म-रहित सर्वज्ञ अनंत ज्ञान के धारक श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर जिस तप के द्वारा अनंत दु:ख देने वाले इस संसार का नाश होता है, जिसकी आराधना से मुक्ति मिलती है, उस मोह रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले तप का यहां कुछ वर्णन किया जाता है॥ ८७९॥

विनिर्मलानन्तसुखैककारणं दुरन्तदुःखानलवारिदागमम्।
द्विधा तपोऽभ्यन्तरबाह्यभेदतो वदन्ति षोढा पुनरेकशो जिनाः॥८८०॥

अर्थ—सांसारिक दु:ख रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ का काम देने वाले विनिर्मल अनंत सुख के प्रधान कारण स्वरूप तप के मुख्य में दो भेद हैं, एक बाह्य, दूसरा अभ्यंतर और फिर उन दो भेदों के भी प्रत्येक के छ: छ: भेद हैं॥ ८८०॥

करोति साधुर्निरपेक्षमानसो विमुक्तये मन्मथशत्रुशान्तये।
तदात्मशक्त्यानशनं तपस्यता विधीयते येन मनःकपिर्वशम्॥ ८८१॥

अर्थ—किसी प्रकार की सांसारिक अपेक्षा न कर केवल मुक्ति पाने की इच्छा से प्रबल काम शत्रु को जीतने के लिये जो शक्त्यनुसार चारों प्रकार के आहार का त्याग करना है, वह मुनि का अनशन तप है और इसी मन रूपी चंचल बंदर शीघ्र ही वश में आ जाता है॥ ८८१॥

शमाय रागस्य वशाय चेतसो जयाय निद्रातमसो बलीयसः।
श्रुताप्तये संयमसाधनाय च तपो विधत्ते मितभोजनं मुनिः॥ ८८२॥

अर्थ—राग-द्वेष की शांति, मन को वश करना, प्रबल निद्रा रूपी अंधकार को जीतना, शास्त्रों का स्वाध्याय और संयम की सिद्धि आदि पारमार्थिक कार्यों के लिये जो क्षुधा से न्यून अल्प भोजन करना है, वह अवमौदर्य तप है॥ ८८२॥

विचित्रसंकल्पलतां विशालिनीं यतो यतिर्दुःखपरम्पराकलाम्।
लुनाति तृष्णाव्रततिं स मूलतस्तदेव वेश्मादिनिरोधनं तपः॥ ८८३॥

अर्थ—दुःखों के परंपरा रूप फल को देने वाले, विचित्र विशाल संकल्प रूपी लता के धारक, तृष्णा रूपी वृक्ष को जड़-मूल से उखाड़ डालने के लिये जो आहारार्थ घर, मुहल्ले, रास्ते आदि का परिमाण करना है, वह वृत्ति परिसंख्यान नामक तीसरा बाह्य तप है।

भावार्थ—तृष्णा को नष्ट करने के लिये जो इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर कि मैं एक अथवा पाँच-सात घर में ही जाऊँगा अथवा एक अथवा दो ही मुहल्लों में जाऊँगा अथवा रास्ते तथा मैदान ही में भोजन मिलेगा तो लूँगा नगर में नहीं जाऊँगा आहार के लिये वन से निकलना और प्रतिज्ञानुसार भोजन की विधि मिलने पर ही भोजन करना अन्यथा वापिस वन को लौट आना, वहाँ उपवास धारण करना सो मुनि का वृत्ति परिसंख्यान नामक तप है॥ ८८३॥

विजित्य लोकं निखिलं सुरेश्वरा वशं न नेतुं प्रभवो भवन्ति यम्।
प्रयाति येनाक्षगणः स वश्यतां रसोज्झनं तन्निगदन्ति साधवः॥ ८८४॥

अर्थ—समस्त संसार को भी वश कर लेने में समर्थ इन्द्रादि जिसको न वश कर सके, वह भी इन्द्रिय रूपी शत्रु जिसके द्वारा वश कर लिया जाता है, ऐसा जो दही, दूध, घी आदि पुष्ट रसों के आहार का त्याग करना है, वह रस-परित्याग नामक चौथा बाह्य तप है।

भावार्थ—इन्द्रिय रूपी शत्रु बड़े ही प्रबल हैं, इनका घी आदि रस-वर्धक पदार्थों का आहार त्यागे विना वश करना सरल काम नहीं, इसलिये जो मुनि का रसों के आहार का त्याग करना है, वह रस-परित्याग नामक बाह्य तप है॥ ८८४॥

विचित्रभेदा तनुबाधनक्रिया विधीयते या श्रुतिसूचितक्रमात्।
तपस्तनुक्लेशमदः प्रचक्ष्यते मनस्तनुक्लेशविनाशनक्षमम्॥ ८८५॥

अर्थ—मानसिक और शारीरिक व्याधियों के दूर करने में समर्थ शास्त्रानुसार जो नाना प्रकार की शरीर बाधायें सहना है, वह कायक्लेश तप है।

भावार्थ—शरीर में ममत्व न रखकर शास्त्रानुसार शरीर को क्लेश देने वाला तप तपना कायक्लेश नामक पाँचवाँ तप है॥ ८८५॥

यदासनं स्त्रीपशुषण्ढवर्जिते मुनेर्निवासे पठनादिसिद्धये।
विविक्तशय्यासनसंज्ञिकं तपस्तपोधनस्तद्विदधाति मुक्तये॥ ८८६॥

अर्थ—मुक्ति पाने की इच्छा से शास्त्र, स्वाध्याय, धर्म, ध्यान आदि पारमार्थिक क्रियायों की सिद्धि के लिये स्त्री, पशु, नपुंसक आदि विघ्नविधायक पदार्थों से रहित प्रदेश में जो मुनि का निवास करना है, वह विविक्त शय्यासन नामक छठा बाह्य तप है।

भावार्थ—जीवों के रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्र में शास्त्र स्वाध्यायादि की सिद्धि के लिये गुफा, मठ, वनखंड आदि एकान्त स्थानों में जो मुनि का शयन, आसन करना है, वह विविक्त शय्यासन तप है॥ ८८६॥

मनोवचःकायवशादुपागतो विशोध्यते येन मलो मनीषिभिः।
श्रुतानुरूपं मलशोधनं तपो विधीयते तद् व्रतशुद्धिहेतो॥ ८८७॥

अर्थ—प्रमाद से अथवा मन, वचन, काय की चंचलतादि के निमित्त से मुनि व्रत में लगे हुए दोषों का शास्त्रानुसार जो शुद्ध करना है, वह प्रायश्चित नाम का पहला अभ्यन्तर तप है॥ ८८७॥

प्रयाति रत्नत्रयमुज्ज्वलं यतो यतो हिनस्त्यर्जितकर्म सर्वथा।
यतः सुखं नित्यमुपैति पावनं विधीयतेऽसौ विनयो यतीश्वरे॥ ८८८॥

अर्थ—जिसके करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र की शुद्धि होती है, पूर्वोपार्जित समस्त कर्मों का क्षय होता है और नित्य पवित्र मोक्ष सुख मिलता है, उस 'पूज्यों के आदर सत्कार करने रूप' लक्षण के धारक विनय का जो आचारण में लाना है, वह दूसरा विनयनामक आभ्यन्तर तप है॥ ८८८॥

तपोधनानां व्रतशीलशालिनामनेकरोगाहिनिपीडितात्मनां।
शरीरतोप्रासुकभेषजेन च विधीयते व्यावृतिरुज्ज्वलादरात्॥ ८८९॥

अर्थ—व्रत और शील से शोभित अनेक रोग रूपी सर्पों से पीड़ित मुनियों की शरीर से तथा प्राशुक औषधि आदि से सेवा-टहल करना है, वह वैयावृत्य नामक तीसरा आभ्यन्तर तप है॥ ८८९॥

नियम्यते येन मनोऽतिचञ्चलं
विलीयते येन पुरार्जितं रजः।
विहीयते येन भवाश्रवोऽखिलः
स्वधीयते तज्जिनवाक्यमर्चितम्॥ ८९०॥

अर्थ—जिनसे कि चंचल मन वश में किया जाता है, पूर्वोपार्जित कर्म रूपी धूलि विलीन हो जाती है और शुभअशुभ सब ही प्रकार के कर्म फिर आने बंद हो जाते हैं उन जिनेंद्र के वाक्यों का जो स्वाध्याय, पठन-पाठन करना है, वह स्वाध्यायनामक चौथा तप है अर्थात् जैन शास्त्र के पठन-पाठन को स्वाध्याय कहते हैं॥ ८९०॥

ददाति यत्सौख्यमनन्तमव्ययं तनोति बोधं भुवनावबोधकम्।
क्षणेन भस्मीकुरुते च पातकं विधीयते ध्यानमिदं तपोधनैः॥ ८९१॥

अर्थ—जिसके द्वारा अनंत अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है, संसार के समस्त पदार्थों को जानने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है और जिससे क्षण भर में पाप विलीन हो जाते हैं, उस ध्यान का जो आचरण करना है, वह ध्यान नामक पाँचवाँ आभ्यन्तर तप है।

भावार्थ—मुक्ति के कारण स्वरूप धर्म्य और शुक्ल दो ध्यानों का जो करना है, वह ध्यान नामक तप है॥ ८९१॥

यतो जनो भ्राम्यति जन्मकानने
यतो न सौख्यं लभते कदाचन।
यतो व्रतं नश्यति मुक्तिकारणं
परिग्रहोऽसौ द्विविधो विमुच्यते॥ ८९२॥

अर्थ—संसार में इस जीव को परिभ्रमण कराने वाला, अनंत दुःखों का दाता, मुक्ति का विरोधी जो परिग्रह है, उसके दो भेद हैं-बाह्य और अंतरंग। उसमें जो धन-धान्य आदि हैं वे तो बाह्य परिग्रह हैं और क्रोध, मान, माया आदि कषाय अंतरंग परिग्रह हैं, इसलिये इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का जो सर्वथा त्याग करना है, वह उत्सर्ग नामक छठा आभ्यन्तर तप है॥ ८९२॥

इदं तपो द्वादशभेदमर्चितं
प्रशस्तकल्याणपरंपराकरम्।
विधीयते यैर्मुनिभिस्तमोपहं
न लभ्यते तैः किमु सौख्यमव्ययम्॥ ८९३॥

अर्थ—इस प्रकार तपों के जो कुल बारह भेद बतलाये हैं, उनको पालने से समस्त कल्याण प्राप्त होते हैं और अविनाशी अनंत मोक्ष सुखों की भी प्राप्ति होती है, इसलिये जो मुनि इनको निरतिचार निर्दोष रीति से पालते हैं, उन्हें अवश्य ही मोक्षसुख मिलता है॥ ८९३॥

तपोनुभावो न किमत्र बुध्यते विशुद्धबोधैरियताक्षगोचरः।
यदन्यनिःशेषगुणैरपाकृतस्तपोधिकश्चेज्जगतापि पूज्यते॥ ८९४॥

अर्थ—तप का प्रभाव इस संसार में भी इंद्रियों द्वारा गोचर होता है और वह विद्वानों से छिपा हुआ नहीं है। देखो! जो मनुष्य अधिक तपस्वी है और चाहे वह धीर, वीरता आदि समस्त गुणों से रहित ही है तो भी लोग उसका अवश्य ही आदर करते हैं—उसे पूज्य दृष्टि से ही गिनते हैं॥ ८९४॥

विवेकिलोकैस्तपसो दिवानिशं
विधीयमानस्य विलोक्यतां गुणः।
तपो विधत्ते स्वहिताय मानवः
समस्तलोकस्य च जायते प्रियः॥ ८९५॥

अर्थ—हे विद्वानों! तप की महिमा अपरंपार है, उसे कोई नहीं कह सकता। देखो! इससे अधिक उसकी महिमा क्या हो सकती है कि लोग तप तो अपने हित के लिये करते हैं और पूज्य समस्त लोक में हो जाते हैं।

भावार्थ—संसार में जो लोग अपने मतलब—स्वार्थ से काम करते हैं, उन्हें कोई भी नहीं पूछता और जो परोपकार के लिये करते हैं, उनका ही सब लोग सम्मान करते हैं परंतु तपधारी के लिये यह बात नहीं होती। तप के प्रभाव से स्वार्थी होने पर भी उसके सब लोग चेरे-आदर सत्कार करने वाले ही हो जाते हैं— इसलिये तप की महिमा अकथनीय है॥ ८९५॥

तनोति धर्मं विधनोति कल्मषं
हिनस्ति दुःखं विदधाति संमदम्।
चिनोति सत्त्वं विनिहन्ति तामसं
तपोऽथवा किं न करोति देहिनाम्॥ ८९६॥

अर्थ—तप को करने से धर्म बढ़ता है, पाप नष्ट होते हैं, दुःख दूर भागते हैं, सुख समीप आते हैं, सद्गुण का विकाश होता है और अज्ञान विलीन हो जाता है, इसलिये तप के प्रभाव से संसार में समस्त कल्यणों की प्राप्ति होती है॥ ८९६॥

अवाप्य नृत्वं भवकोटिदुर्लभं न कुर्वते ये जिनभाषितं तपः।
महार्घरत्नाकरमेत्य सागरं व्रजन्ति तेऽगारमरत्नसंग्रहाः॥ ८९७॥

अर्थ—जो मनुष्य करोड़ों जन्मों में भी पाने के लिये कठिन मनुष्य-जन्म को प्राप्त कर जिन भाषित तप नहीं करते, वे रत्नों के भरे हुए समुद्र के पास जाकर भी रत्न ग्रहण न कर खाली हाथ घर पर लौट आते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई दरिद्री पुरुष रत्नों से भरे हुए समुद्र के पास जायें और वहाँ से रत्नों को ग्रहण न कर खाली हाथ घर लौट आयें तो उसकी लोग मूर्ख कहकर निंदा करते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी उसका फलस्वरूप तप नहीं तपते, वे निन्दा के पात्र हैं॥ ८९७॥

अपारसंसारसमुद्रतारकं
न तन्वते ये विषयाकुलास्तपः।

विहाय ते हस्तगतामृतं स्फुटं
पिबन्ति मूढाः सुखलिप्सया विषम्॥ ८९८॥

अर्थ—जो पुरुष इंद्रिय के विषयों में लवलीन होकर संसार-समुद्र को पार करने वाले तप को नहीं तपते, वे मूढ़ लोग हाथ में आये हुए अमृत को छोड़ कर सुख पाने की दुराशा से विष का पान करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार सुख तो अमृत को पीने से मिलता है, परंतु यदि कोई मनुष्य मूर्खता वश उसकी आशा से विष पी ले तो, उसे सुख की जगह उल्टा दुःख ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो पुरुष सुख पाने की लालसा से इंद्रिय-विषयों को भोगता है और वास्तविक सुखदायक तप को नहीं तपता, वह सुख न पाकर दुःख ही पाता है, इसलिये तप का तपना ही लाभकारी है॥ ८९८॥

जिनेन्द्रचन्द्रोदितमस्तदूषणं कषायमुक्तं विदधाति यस्तपः।
न दुर्लभं तस्य समस्तविष्टपे प्रजायते वस्तु मनोज्ञमीप्सितम्॥ ८९९॥

अर्थ—जिनेंद्र सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित, क्रोध, मान, माया आदि कषायों से रहित, निर्दोष तप को मनुष्य तपते हैं, उनके लिये संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है—उनके समस्त मनोरथ बिना किसी विशेष प्रयत्न के शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी इच्छाएँ अनायास पूरी हो जाती हैं॥ ८९९॥

अहो दुरन्ताय गतो विमूढतां विलोक्यतां संसृतिदुःखदायिनीम्।
सुसाध्यमप्यन्नविधानतस्तपो यतो जनो दुःखकरोऽवमन्यते॥ ९००॥

अर्थ—ओह! संसारवर्ती मूढ की इस नाना दुःखों को उत्पन्न करने वाली मूढता को तो देखो, जिसके वशीभूत हुआ यह जीव अन्न-विधान से सुसाध्य—कम परिश्रम से सिद्ध हो जाने वाले भी तप को दुःख-साध्य गिनता है और उससे सर्वदा दूर रहकर अपने आपको दुःख पहुँचाया करता है॥ ९००॥

कृतः श्रमश्चेद्विफलो न जायते कृतः श्रमश्चेद्ददतेऽनघं सुखम्।
कृतः श्रमश्चेद्विवृते फलाय च न स श्रमः साधुजनेन मन्यते॥ ९०१॥

अर्थ—अथवा यदि समझ लो कि तप करने में सबसे अधिक परिश्रम करना पड़ता है तो भाई! जो परिश्रम विफल नहीं जाता, जिस परिश्रम से निर्दोष सुख मिलता है और जिस परिश्रम से मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होती है, वह परिश्रम सज्जन लोगों द्वारा वास्तव में परिश्रम नहीं गिना जाता॥ ९०१॥

श्रमं विना नास्ति महाफलोदयः
श्रमं विना नास्ति सुखं कदाचन।
यतस्ततः साधुजनैस्तपः श्रमो
न मन्यतेऽनन्तसुखो महाफलः॥ ९०२॥

अर्थ—बिना परिश्रम के न तो महान् फल ही मिलता है और न सुख की प्राप्ति ही होती है, इसलिये साधु लोग अनंत सुख और मोक्ष प्रदान करने वाले तप के श्रम को श्रम नहीं गिनते॥ ९०२॥

अहर्निशं जागरणोद्यतो जनः श्रमं विधत्ते विषयेच्छया यथा।
तपःश्रमं चेत्कुरुते तथा क्षणं किमश्नुतेऽनन्तसुखं न पावनम्॥९०३॥

अर्थ—जिस प्रकार यह मूढ मनुष्य रातदिन जागकर विषय-भोगों की इच्छा से परिश्रम करता है, उतना अथवा उससे न्यून भी यदि तप मे श्रम करे तो फिर अनंत पवित्र सुख को क्यों न पाये॥ ९०३॥

समस्तदुःखक्षयकारणं तपो
विमुच्य योगी विषयान्निषेवते।
विहाय सोऽनर्घ्यमणिं सुखावह
विचेतनः स्वीकुरुते बतोपलम्॥ ९०४॥

अर्थ—जो योगी समस्त दुःखों को नाश करने में समर्थ तप को छोड़कर इंद्रिय-विषयों को सेवते हैं, वे मूर्ख हाथ में आयी सुखदायी अमूल्य मणि को छोड़कर पत्थर ग्रहण करते हैं॥ ९०४॥

अनिष्टयोगात्प्रियविप्रयोगतः परापमानाद्धनहीनजीवितात्।
अनेकजन्मव्यसनप्रबन्धतो बिभेति नो यस्तपसो बिभेति सः॥९०५॥

अर्थ—जो पुरुष तप करने से डरते हैं, वे मूढ अनिष्ट संयोग, परापमान, दरिद्र जीवन और अनेक जन्मों के नाना दुःखों से नहीं डरते हैं।

भावार्थ—तप करने से इष्ट-वियोग आदि दुःख नहीं होते, इसलिये जो उन दुःखों से डरते हैं, वे तो तप करते हैं और जो उनसे नहीं डरते, वे तप नहीं करते॥ ९०५॥

न बान्धवा न स्वजना न बल्लभा न भूत्यवर्गाः सुहृदो न चाङ्गजाः।
शरीरिणस्तद्वितरन्ति सर्वथा तपो जिनोक्तं विदधाति यत्फलम्॥९०६॥

अर्थ—इस जीव का जितना हित निर्दोष जिनोक्त तप करता है, उतना न तो बंधु लोग ही करते हैं, न कुटुंबी ही करते हैं और न पुत्र, मित्र, हितैषी, सेवक आदि ही करते हैं, इसलिये सबकी अपेक्षा तप का तपना ही योग्य है॥ ९०६॥

भुक्त्वा भोगानरोगानमरयुवतिभिर्भ्राजिते स्वर्गवासे
मर्त्यावासेऽप्यनर्घ्यान् शशिविशदयशोराशिशुक्लीकृताशः।
यात्यन्तेऽनन्तसौख्यां विबुधजननुतां मुक्तिकान्तां यतोङ्गी
जैनेन्द्रं तत्तपोलं धुतकलिलमलं मङ्गलं नस्तनोतु॥ ९०७॥

अर्थ—जिस जिनेंन्द्र भगवान् के उपदिष्ट तप को तपकर यह जीव स्वर्ग में देवांगनाओं के साथ अनेक स्वर्गलोक संबंधी भोगों को भोगता है, मनुष्य-लोक में चंद्रमा की कांति के समान निर्मल यश को प्राप्त कर निर्विघ्न अनेक सुख प्राप्त करता है और क्रम से अनंत अविनाशी सुख से संयुक्त, विद्वानों द्वारा प्रशंसित मुक्ति-ललना को भी पा लेता है, वह तप हम लोगों को कल्याण प्रदान करे॥ ९०७॥

दुःखक्षोणीरुहाढ्यं दहति भववनं यच्छिखीवोद्यदर्चि-
र्यत्पूतं धूतबाधं वितरति परमं शाश्वतं मुक्तिसौख्यम्।
जन्मारिं हन्तुकामा मदनमदभिदस्त्यक्तनिःशेषसंगा-
स्तज्जैनेशं तपो ये विदधति यतयस्ते मनो नः पुनन्तु॥ ९०८॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि सघन वृक्षों के वन को जला देती है, उसी प्रकार जो दुःख को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिसके धारण करने से नित्य पवित्र निर्दोष मुक्ति-सुख प्राप्त होता है, उस जिनेंन्द्र भगवान के उपदिष्ट तप को जो महात्मा समस्त अंतरंग, बहिरंग परिग्रहों का त्याग कर काम के मद को नष्ट करते हुए जन्म-मरण रूपी शत्रु का नाश करने के लिये तपते हैं, वे यति हम लोगों के मन को पवित्र करें॥ ९०८॥

जीवाजीवादितत्त्वप्रकटनपटवो ध्वस्तकन्दर्पदर्पा
निर्धूतक्रोधयोधा भुवि मदितमदा ह्यद्यविद्यानवद्याः।
ये तप्यन्तेनपेक्षं जिनगदिततपो मुक्तये मुक्तसंगा-
स्ते मुक्तिं मुक्तबाधाममितगतिगुणाः साधवो नो दिशन्तु॥ ९०९॥

अर्थ—जो सम्यग्ज्ञानी महामुनि जीव-अजीव आदि वास्तविक पदार्थों के प्रकाशित करने में चतुर है, जिन्होंने काम का मद नष्ट कर दिया है, क्रोध रूपी योधा को नष्ट कर डाला है, ज्ञानमद आदि अष्ट प्रकार के मद को जीत लिया है और जो बिना किसी ऐहिक पदार्थ की वांछा के ही केवल मुक्ति पाने के लिये निर्ग्रन्थ हो जैनेंद्र तप तपते हैं, वे अपरिमित गुणों के धारक हमें निर्बाध सुख स्वरूप मुक्ति प्रदान करें॥ ९०९॥

ये विश्वं जन्ममृत्युव्यसनशिखालीढमालोक्य लोके
संसारोद्वेगवेगप्रचकितमनसः पुत्रमित्रादिकेषु।
मोहं मुक्त्वा नितान्तं धृतविपुलशमाः सद्मवासं निरस्य
याताश्चारित्रकृत्यै धृतिविमलधियस्तांस्तुवे साधुमुख्यान्॥ ९१०॥

अर्थ—जो महात्मा पुरुष जन्म-मरण के नाना दुःख रूपी बह्नि से प्रज्वलित संसार रूपी वन को देखकर और संसार के दुःखों से घबड़ाकर पुत्र, मित्र आदि स्नेहियों से मोह को सर्वथा छोड़ कर चरित्र धारण करने के लिये घर से जंगल में जा बसे हैं, जो महा शांति के धारक हैं और जिनकी धैर्य से विमल बुद्धि है, उन श्रेष्ठ साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ॥ ९१०॥

यस्मिन् शुंभद्वनोत्थज्वलनकवलनाद्भस्मतां यान्त्यगौघाः
प्रोद्यन्मार्तण्डचण्डस्फुरदुरुकिरणाकीर्णदिक्चक्रवालाः।
भूमिर्भूत्या संमतादुपचिततपनाः संयता ग्रीष्मकाले
तस्मिन् शैलाग्रमुग्रं धृतविततधृतिच्छत्रकाः प्रश्रयन्ते॥ ९११॥

अर्थ—जिस ग्रीष्म ऋतु में वन के बीच लगी हुई दावाग्नि से वृक्षों के समूह के समूह नष्ट हो जाते हैं, सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के ताप से दिशायें जल निकलती हैं और गरम-गरम धूलि हो जाने से पृथ्वी चहक निकलती है, उसमें भी जो संयमी पर्वत की चोटी पर खड़े हो शरीर की कुछ भी चिंता न कर धैर्य रूपी विस्तृत छाते को लगाये संयम की वृद्धि के लिये खड़े रहते हैं, वे मुनिगण हमारा कल्याण करें॥ ९११॥

चञ्चद्विद्युत्कलत्राः प्रचुरकरकिका वर्णधाराः क्षिपन्तो
यत्रेन्द्रेष्वासचित्रा वधिरितककुभो मेघसङ्घा नदन्ति।
व्याप्ताशाकाशदेशास्तरुतलमचलाः संश्रयन्ते क्षपासु
तत्रानेहस्यसंगाः सततगतिकृतारावभीमास्वभीताः॥ ९१२॥

अर्थ—जिस वर्षाकाल में बिजली चमक रही है, ओले गिर रहे हैं, मूसलधार पानी पड़ रहा है, इंद्र-धनुष से दिशायें चित्र-विचित्र हो रही हैं, मेघों की गड़-गड़ाहट से डर मालूम हो रहा है और सनन-सनन ठंडी हवा चल रही है, ऐसे समय में जो मुनि वृक्षों के नीचे निर्भय वस्त्र रहित खड़े हो अचल तप तपकर रात्रियों को बिताते हैं, वे हमें मुक्ति प्रदान करें॥ ९१२॥

यत्र प्रालेयराशिर्द्रुमनलिनवनोन्मूलनोद्यत्प्रमाणः
सात्कारीदन्तवीणारुतिकृतिचतुरः प्राणिनां वाति वातः।
विस्तीर्याङ्गं समग्रं प्रगतवृतिचतुर्वर्त्मगा योगिवर्या-
स्ते ध्यानासक्तचित्ताः पुरुशिशिरनिशाः शीतलाः प्रेरयन्ति॥ ९१३॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ चारित्रधारी मुनि हैं, वे उस शीत ऋतु की रात्रियों में जिसमें पाला पड़ने से वृक्षों के समूह के समूह कुम्हला जाते हैं, कमल-वन सूखकर नष्ट हो जाते हैं, दाँतों की मिस-मिसी छुड़ा देने वाला शीतल पवन बहता है और सीमा से अधिक जाड़ा पड़ता है, चौराहे पर वस्त्र आदि सब प्रकार के आच्छादन से रहित हो खड़े होते हैं और आत्मध्यान में लीन हो उस बाधा की कुछ भी चिंता नही करते हैं॥ ९१३॥

चञ्चच्चारित्रचक्राः प्रविचितिचतुराः प्रोच्चवोर्वीप्रवर्च्याः
पञ्चाचारप्रचारप्रचुररुचिचयाश्चारुचित्रत्रियोगाः।
वाचामुच्चैःप्रपञ्चै रुचिरविरचनैरर्चनीयैरवर्च्य-
मित्यर्चां प्राचिता नः पदमचलमनूचानकाश्चार्पयन्तु॥ ९१४॥

अर्थ—जिन महामुनियों का सम्यक्चरित्र देदीप्यमान है, जो सर्वज्ञ प्रतिपादित शास्त्र के ज्ञान में चतुर हैं, समस्त पृथ्वी में पूज्य हैं, पञ्चाचारों को धारण करने में प्रबल रुचि वाले हैं, मन, वचन, काय को वश करने में प्रवीण हैं और सुंदर-सुंदर स्तुतियों के द्वारा स्तुति करने योग्य हैं, वे महामना मुनि हमें नित्यपद मोक्ष प्रदान करें॥ ९१४॥

॥ ३३ ॥

मूलग्रंथकर्त्ता की प्रशस्ति

आशीर्विध्वस्तकन्तोर्विपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तकीर्तेः
सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः।
विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्तकोपः
श्रीमान् मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसंगः॥ ९१५॥

अलङ्घ्यमहिमालयो विपुलसत्त्ववान्
रत्नधिर्वरस्थिरगभीरतो गुणमणिः पयोवारिधिः।
समस्तजनतासतां श्रियमनश्वरीं देहिनां
सदामलजलच्युतो विबुधसेवितो दत्तवान्॥ ९१६॥

अर्थ—जिनके आशीर्वाद से ही काम का वेग नष्ट हो जाता था, जो महान् शांति के धारक थे, जिनकी शुभ्र कीर्ति सर्वत्र देदीप्यमान थी और जो शास्त्र रूपी समुद्र के पार को पहुंचे हुए थे, ऐसे श्रीमान् देवसेन आचार्य हुए। उनके बाद उनके शिष्य समस्त सिद्धांतों के वेत्ता, व्रत, समिति, गुप्तियों के पालक, क्रोध के वेग से सर्वथा रहित, समस्त धन, धान्य आदि बाह्य और राग, द्वेष आदि अंतरंग परिग्रहों से निर्मुक्त, श्रीमान् पूज्य अमित गति (प्रथम) आचार्य हुए। इन आचार्य की महिमा को कोई उल्लंघन न कर सकता था, महासत्त्व के धारक थे, स्थिरता, गम्भीरता और गुणरूपी मणियों के धारण करने में समुद्र के समान विद्वानों द्वारा सेवित सर्वमान्य थे एवं सज्जन लोगों को अविनाशी लक्ष्मी को प्रदान करने वाले थे॥ ९१५-९१६॥

तस्य ज्ञातसमस्तशास्त्रसमयः शिष्यः सतामग्रणीः
श्रीमन्माथुरसंघसाधुतिलकः श्रीनेमिषेणोऽभवत्।
शिष्यस्तस्य महात्मनः शमयुतो निर्धूतमोहद्विषः
श्रीमान्माधवसेनसूरिरभवत्क्षोणीतले पूजितः॥ ९१७॥

कोपारातिविघातकोऽपि सकृपः सोमोऽप्यदोषाकरो
जैनोऽप्युग्रतरस्तपो गतभयो भीतोऽपि संसारतः।
निष्कामोऽपि समिष्टमुक्तिवनितायुक्तोऽपि यः संयतः
सत्यारोपितमानसो धृतवृषोऽप्यर्च्यप्रियोऽप्यप्रियः॥ ९१८॥

अर्थ—उपर्युक्त गुणों से भूषित उन अमितगति आचार्य के शिष्य समस्त शास्त्रों के पारगामी, सज्जनों में प्रधान, माथुर साधु संघ के तिलकस्वरूप श्रीनेमिषेण आचार्य हुए और उन मोह के नाशक महात्मा के शिष्य श्रीमाधवसेन सूरि हुए जो बड़े ही शांतात्मा विद्वान् होने कारण समस्त पृथ्वी में पूजित थे। कोपरूपी शत्रु के नाशक, कृपा सहित थे एवं जो सोम—शांतिदायक, अदोषाकर—दोषों से सर्वथा रहित, जैन—जिन भगवान् के उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाले, उग्रतर तप के धारक, भय रहित, संसार से डरने वाले, ऐहिक इच्छा रहित, मन में मुक्ति रूपी वनिता के इच्छुक, संयमी, सत्य-भाषण में सर्वथा अनुरक्त, धर्म के धारक, सज्जनों के प्रिय और मोह-रहित थे॥ ९१७-९१८॥

दलितमदनशत्रोर्भव्यनिर्व्याजबन्धोः
शमदमयममूर्तेश्चन्द्रशुभ्रोरुकीर्तेः।
अमितगतिरभूद्यस्तस्य शिष्यो विपश्चि-
द्विरचितमिदमर्घ्यं तेन शास्त्रं पवित्रम्॥ ९१९॥

अर्थ—उन्हीं सर्वथा काम के नाशक, भव्यों के अकारण ही बंधु, शांति, दांति आदि गुणों से परिपूर्ण, निर्मल दिगंतव्यापिनी कीर्ति के अधीश्वर माधवसेन सूरि के विद्वान् शिष्य अमितगति आचार्य (द्वितीय) हुए और उन्होंने ही इस पवित्र शास्त्र को रचकर तैयार किया॥ ९१९॥

यः सुभाषितसंदोहं शास्त्रं पठति भक्तितः।
केवलज्ञानमासाद्य यात्यसौ मोक्षमक्षयम्॥ ९२०॥

अर्थ—जो पुरुष भक्ति-पूर्वक इस सुभाषितरत्नसंदोह (अच्छी-अच्छी उक्तियों रूपी रत्नों के समूह) को भक्ति-भाव से पढ़ता है (ग्रहण करता है) वह निश्चय ही केवल ज्ञान को प्राप्त कर अक्षय मोक्ष सुख को पाता है॥ ९२०॥

यावच्चन्द्रदिवाकरौ दिवि गतौ भिन्तस्तमः शार्वरं
यावन्मेरुतरङ्गिणीपरिवृढौ नो मुञ्चतः स्वस्थितिम्।
यावद्याति तरङ्गभङ्गुरतनुर्गङ्गा हिमाद्रेर्भुवं
तावच्छास्त्रमिदं करोतु विदुषां पृथ्वीतले संमदम्॥ ९२१॥

अर्थ—जब तक इस संसार में सूर्य और चन्द्रमा रात्रि के सघन अन्धकार को दूर करते रहेंगे, जब तक सुमेरु पर्वत और समुद्र अपनी स्थिरता को स्थित रखेंगे और जब तक जल की चंचल तरंगों से वेष्टित गंगा हिमालय पर्वत से निकलकर पृथ्वी पर बहती रहेगी, तब तक यह शास्त्र विद्वानों के हृदय में स्थित हो कर अज्ञानांधकार को नष्ट कर उन्हें हर्ष प्रदान करें॥ ९२१॥

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके(१०५०)।
समाप्ते पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥ ९२२॥

अर्थ—जब विक्रम राज को स्वर्ग गये एक हजार पचास (१०५०) वर्ष बीत गये थे और मुंजनृपति पृथ्वी का शासन कर रहे थे, उस समय पौष महीने के शुक्लपक्ष की पंचमी के दिन यह विद्वानों का हितकर निर्दोष शास्त्र समाप्त हुआ॥ ९२२॥

इति ॐ शांतिः॥

अनुवादक का परिचय॥

जिला आगरा बीच है, टेहू ग्राम प्रसिद्ध।
जिनधर्मी श्रावक तहाँ, जौंहरीलाल समृद्ध॥ १॥

आज्ञाकारी चार सुत, उनके अतिगुणवान।
ज्ञाता आगम के, प्रथम, प्यारेलाल सुजान॥ २॥

छोटेलाल द्वितीय हैं, सरलचित्त विद्वान।
चौथे ज्वालाप्रसाद लघु, जिनसेवी गुणखान॥ ३॥

वैद्यकज्ञानप्रवीण बहु, सधननिधनसमदृष्टि।
निःशुल्करोगहारी तृतीय, बंशीधर अतिशिष्ट॥ ४॥

पुत्र चार उनके गुणी, संस्कृतसुज्ञ सुभाल।
ज्यायान मक्खनलाल हैं, द्वितीय पुत्र श्रीलाल॥ ५॥

अनुवादक इस ग्रंथ के, काव्यतीर्थ उपनाम।
सद्व्याकरण जिनेंद्रके, ज्ञाता अति अभिराम॥ ६॥

सुभाषितरत्नसंदोह के, हिंदी भाषाकार।
लेखक संस्कृत प्रवेशिनी, पार्श्वचरित अविकार॥ ७॥

गुणि जिनदत्तचरित्र के, अनुवादक जिनभक्त।
जैनसिद्धांतप्रकाशिनी, संस्था के हितरक्त॥ ८॥

चिरंजीव जयचंद्र है, तृतीय भ्रात धीमान।
संस्कृतशास्त्रप्रवीण बहु सदा पठत धरि ध्यान॥ ९॥

अजितवीर्य सब में लघू, विद्यार्थी गुणवित्त।
गुरु आज्ञा पालन चतुर, ज्ञानार्जनबहुचित्त॥ १०॥

विमलनाथ भगवान का, पावन परम पुराण।
पृथ्वीपर तोलौं दिपै, जौलौं चंद्र रु भान॥ ११॥

सोरठा

म हू अति मतिमन्द, ग्रन्थ अर्थ की भूल जो।
रह गई होय अमन्द, शुद्ध करें बहु श्रुतसदा॥ १२॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।